जोधसिंह पुरस्कार से पुरस्कृत

प्राचीन भारतीय अभिलेख

(दो भाग)

लेखक

प्रोफेसर डा० वासुदेव उपाध्याय
(पटना विश्वविद्यालय)
मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता जोधसिंह पुरस्कार,
हीरालाल स्वर्णपदक एवं गुलेरीपदक प्राप्त

प्रज्ञा प्रकाशन, पटना

प्रकाशक
प्रज्ञा प्रकाशन,
राजेन्द्र नगर, पटना–१६

द्वितीय सस्करण
१९७०
मूल्य दस रुपये

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१

प्रमाण-पत्र

काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा

श्री डा० वासुदेव उपाध्याय का

उनकी श्रेष्ठ कृति

प्राचीन भारतीय अभिलेख

पर प्रदत्त

संवत् २०१४ से २०१७ तक के

जोधसिंह पुरस्कार

एवं

गुलेरी पदक

के प्रमाणस्वरूप यह ताम्रपत्र अर्पित किया गया

प्रबंध समिति की स्वीकृति से

कमलापति त्रिपाठी
सभापति

शिवप्रसाद मिश्र
प्रधानमंत्री

दो शब्द

पिछले कई वर्षों से यह अनुभव कर रहा था कि प्राचीन भारतीय अभिलेखों का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन होना चाहिए जिससे उनमें निहित ज्ञान राशि का परिज्ञान इतिहास के विद्यार्थियों को हो सके। अभी तक सांगोपांग ढंग से अभिलेख का मूल्याङ्कन नहीं किया गया है। जिस लेख या प्रशस्ति का सम्पादन हो सका है उसके सीमित क्षेत्र पर ही प्रकाश पड़ा है। अतएव समस्त विषयों को ध्यान में रख कर लेखक ने अभिलेखों का अध्ययन आरम्भ किया और प्रत्येक अंग पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

भारतीय इतिहास में अभिलेखों का कितना महत्वपूर्ण स्थान है तथा कैसे अमूल्य साधन हैं, यह विद्वानों से छिपा नहीं है। उनके अध्ययन से कई सांस्कृतिक विषयों पर नवीन प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत ग्रंथ की योजना दो भागों में पूर्ण होगी। प्रथम में भूमिका तथा ऐतिहासिक प्रस्तावना सहित मूल लेख एवं दूसरे भाग में टिप्पणी तथा हिन्दी अनुवाद। प्रथम भाग के पहले खण्ड में अभिलेखों का विस्तृत अध्ययन है। यों तो प्रत्येक विषय पर एक स्वतंत्र ग्रंथ तैयार हो सकता है किन्तु प्रत्येक अध्याय में एक विषय पर संक्षिप्त रूप से विचार किया गया है जिससे पाठकगण लेखों के महत्व तथा ज्ञानराशि का मूल्यांकन कर सकें।

भूमिका में सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था का संक्षिप्त वर्णन है और उस प्रसंग में कुछ ऐसी बातें भी सामने आई हैं जिनका विवरण अभिलेखों के अध्ययन से ही उपस्थित किया जा सका है। आर्थिक विषयों का जिस रूप में विवेचन किया गया है वह अन्य ऐतिहासिक साधनों से सम्भव न था। तिथि तथा सम्वत् सम्बन्धी विचार इस ग्रंथ की एक विशेषता है। अभिलेखों पर आधारित भारतीय भाषा एवं लिपि पर भी प्रकाश डाला गया है।

दूसरे खण्ड में मौर्य युग से बारहवीं सदी तक के अभिलेख संग्रहीत हैं। प्रायः समस्त राजवंशों के प्रधान एवं प्रतिनिधि लेख चुने गए हैं। इन लेखों का ऐतिहासिक दृष्टि से संकलन किया है जिससे इतिहास के विद्यार्थी को सुविधा हो।

इस बीच वाराणसी से ऐतिहासिक तथा साहित्यिक लेखों का प्रकाशन हुआ है तथा डॉ० दिनेश चन्द्र सरकार की लेख सम्बन्धी दूसरी अंग्रेजी पुस्तक-इंडियनइपिग्राफी (Indian Epigraphy) भी प्रकाशित हुई है। परन्तु वर्तमान लेखक का क्रम अपनी विशेषता रखता है। इस पुस्तक में सांस्कृतिक विषयों पर अधिक बल दिया गया है। इसमें धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परम्पराओं का विकास दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। सबसे विचित्र बात यह है कि महाभारत तथा पुराणों में उल्लिखित धार्मिक भावनाओं का मध्ययुगी लेख प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्हीं विचारों से प्रेरित होकर अभिलेखों के अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया गया है। इतिहास के विद्यार्थियों का इससे मार्ग प्रदर्शन होगा।

इस ग्रंथ के प्रथम सस्करण को पाठको ने जिस प्रकार अपनाकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया है । आशा है वे इसके द्वितीय सस्करण को उस प्रकार अपनायेगे । मेरे अग्रज आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय के आशीर्वाद तथा शुभ कामना से इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है । मेरे अनुज डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने इस ग्रन्थ के प्रूफ सशोधन मे सहायता प्रदान की है । अत वे मेरे आशीर्वाद के भाजन है ।

पटना

वासुदेव उपाध्याय

सांकेतिक शब्दों की तालिका

आ० स० इ० ए० रि०	= आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुवल रिपोर्ट
आ० स० रि०	= आर्केलाजिकल सर्वे रिपोर्ट
आ० स० मे०	= आर्केलाजिकल सर्वे मेमायर
इ० ए० भा०	= इण्डियन इन्टीक्वेरी भाग
इ० कर०	= इपिग्राफिका करनाटिका
ई० पू०	= ईसवी पूर्व
ई० स०	= ईसवी सन्
इ० हि० क्वा०	= इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली
उ० प्र०	= उत्तर प्रदेश
ए० इ० भा०	= एपिग्राफिया इण्डिका भाग
ओ० का० प्रो०	= ओरियन्टल काग्रेंस प्रोसीडिंग
का० इ० इ० भा०	= कार्पस इन्सक्रिपशनम् इण्डिकेरम भाग
का० श्रौ० सू०	= कात्यायन श्रौत सूत्र
गा० ओ० सि०	= गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज
गु० ले०	= गुप्त लेख
गु० स०	= गुप्त सम्वत्
ज० इ० हि०	= जनरल आफ इण्डियन हिस्ट्री
ज० ए० सो० ब०	= जरनल आफ एसियाटिक सोसाइटी, बंगाल
ज० ग्र० इ० सो०	= जरनल आफ ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी
ज० यू० पी० हि० सो०	= जनरल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी
ज० रा० ए० सो०	= जनरल आफ रायल एसियाटिक सोसायटी
ज० बि० ओ० आर० एस०	= जनरल बिहार ओरिसा रिसर्च सोसायटी
तर०	= राज तरंगिणी
प्र० शि०	= प्रधान शिलालेख
बौ० ध० सू०	= बौधायन धर्म सूत्र
मा० स०	= मालवा सम्वत्
मू०	= मूल लेख
वि० स०	= विक्रम सम्वत्
श० का०	= शक काल या शक सम्वत्
शा० प०	= शांति पर्व
शि० ले०	= शिलालेख
स०	= सम्वत्
स्त० ले०	= स्तम्भ लेख
सा० इ० इ०	= साउथ इण्डियन इपिग्राफी
सा० इ० ए० रि०	= साउथ इण्डियन एनुवल रिपोर्ट

प्रथम खण्ड

भूमिका

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

प्रथम खण्ड

भूमिका

अध्याय १

इतिहास की भौगोलिक पृष्ठ-भूमि

किसी देश को प्राचीन कथा का नाम ही इतिहास है। वर्तमान घटनाओ से इसका विशेष सम्बन्ध नही है किन्तु ऐतिहासिक बातें काल तथा स्थान से सीमित हैं। आरम्भ मे इतिहास तथा भूगोल के घनिष्ट सम्बन्ध को पृथक् नही किया जा सकता। ऐतिहासिक जीवन मे जातियो अथवा समूह को प्राकृतिक परिस्थितियो के अनुकूल ही काल यापन करना पडा था और उन्होंने प्रकृति की सहायता लेकर ही किसी स्थान पर निवास किया या भ्रमण किया।

भारतीय इतिहास का भूगोल से इतना पारस्परिक सम्बन्ध रहा है कि दोनो का अध्ययन ही यहाँ के प्रागैतिहासिक जीवन की कथा है। प्राचीन भारत मे उत्तर तथा दक्षिण की सास्कृतिक विभिन्नता का कारण भौगोलिक कठिनाइयाँ ही थी। केरल तथा उत्तर प्रदेश की सास्कृतिक भिन्नता भौगोलिक स्थिति के द्वारा ही समझी जा सकती है। ये सभी बातें इतिहास के विद्यार्थियो से छिपी नहीं है कि उनके अध्ययन से प्राचीन भूगोल जानने के विभिन्न साधनो मे अभिलेख भी अपना स्थान रखते है। इनके अध्ययन से प्राचीन भूगोल का परिज्ञान होना है।

भूगोल तथा इतिहास का सम्बन्ध

प्राचीन भारत का भूगोल जानने के लिए पुराने अभिलेखो से पर्याप्त सहायता मिलती है। विभिन्न वशो के लेखो मे वर्णित मार्ग, नगर, यातायात तथा विजय की चर्चा से भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश पडता है। साहित्य तथा यात्रा सम्बन्धी ग्रथो से प्राचीन भारतीय भूगोल का जो परिज्ञान होता है, अभिलेखो की सहायता से उनकी पुष्टि तथा वास्तविक स्थिति निश्चित हो जाती है। लेखो के प्राप्ति स्थान मे अमुक साम्राज्य की सीमा ज्ञात होती है तथा भारतीय नरेशो की विजय-यात्रा का मार्ग प्राचीन समय के यातायात तथा व्यापारिक रास्ते से परिचय कराता है। किसी शासक ने तीर्थयात्रा या दान के प्रसग मे जिन स्थानो का भ्रमण किया हो, उनका विस्तृत विवरण लेख मे मिलना उचित ही है। दान की चर्चा करते समय नदियो तथा उनके किनारे स्थित नगरो का वर्णन भी अभिलेखो मे अधिकतर मिलता है। राजनीतिक तथा धार्मिक कार्यवश दूतो का उल्लेख करते समय विभिन्न प्रदेशो के नाम प्रशस्तिकारो ने दिया है। यद्यपि अभिलेखो मे स्पष्ट वर्णन उपलब्ध नही है तो भी अन्य सम्बन्धित प्रमाणो से भौगोलिक स्थिति का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए यदि अशोक के स्तम्भ लेखो को देखा जाय तो प्रकट होता है कि ये चुनार प्रस्तर के बने है। तीस फीट तक लम्बे है तथा बीस टन लगभग तौल मे होते है। यह एक कठिन प्रश्न है कि ऐसे विशाल स्तम्भ किस प्रकार सुदूर प्रदेशो मे पहुँचाए गए, जहाँ उन पर लेख खोदे गए थे। साधारणतया यह अनुमान किया जाता है कि नदियो के सहारे बेडे पर रख कर स्तम्भ को यत्र तत्र पहुँचाया गया होगा। चुनार गंगा नदी के किनारे है तथा गगा नदी की अन्य कई सहायक नदियाँ भी इसके लिए उपयुक्त थी। गगा से यमुना नदी द्वारा स्तम्भ ले जाकर कौशाम्बी मे स्थापित किया गया।

साँची का स्तम्भ, गंगा से यमुना तथा उसकी सहायक नदी चम्बल और चम्बल की सहायक बेस नदी में बेड़े के सहारे मालवा प्रदेश पहुंच सका। बेसनगर का हेलियोडोरस का स्तम्भ भी इसी ढंग से वहाँ पहुँचाया गया होगा। लुम्बिनी का स्तम्भ गंगा, घाघरा तथा राप्ती नदियों से होकर रुम्मनदेई में स्थित हुआ। चम्पारन के स्तम्भ गंगा तथा गंडक नदी की सहायता से उत्तरी बिहार ले जाकर खड़े किये गये। दिल्ली-टोपरा तथा दिल्ली-मेरठ के स्तम्भ तो यमुना की घाटी में स्थापित किए गए थे। कहने का तात्पर्य यह है कि वक्र गति से भी भौगोलिक परिस्थितियों का परिज्ञान किया जा सकता है।

पर्वतों तथा नदियों का उल्लेख

प्राचीन लेखों में पर्वतों तथा नदियों का उल्लेख दो प्रधान कारणों से किया गया है। (अ) राजनीतिक (ब) धार्मिक। प्रशस्तिकार ने अपने संरक्षक की सफलताओं का वर्णन करते समय ऐसे पर्वतों के नाम वर्णित किया है जो उसके आक्रमण सीमा पर स्थित थे अथवा जिसके समीप युद्ध हुआ था या शासक ने उसे अतिक्रमण कर शत्रु को परास्त किया था। धार्मिक परिस्थिति में शासक ने कई गुफाएँ खुदवाकर और भिक्षु संघ को दान दिया। वह भी एक कारण (धार्मिक) था कि अभिलेखों में पर्वत का नामोल्लेख किया गया। ऐसे कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जायेंगे जो उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं। अशोक ने वर्तमान बराबर (गया, बिहार) की पहाड़ियों में गुफा खुदवा कर आजीविक नामक धार्मिक मत के साधुओं को दान दिया था। उस प्रसंग में खलतिक पर्वत (= बराबर) का उल्लेख मिलता है (कुभा खलतिक पवतसि दिना आजीविकेहि)। उड़ीसा के शासक खारवेल ने राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में गोरथगिरि (= बराबर पर्वत) पर आक्रमण कर उसे जीत लिया था। इस तरह के विजय सम्बन्धी लेखों में सातवाहन नरेश पुलमावि के नासिक लेख (वर्ष १९) को प्रधान स्थान दिया जाता है। उसमें सातवाहन राजा गौतमीपुत्र सातकर्णी के विजय का विवरण प्रस्तुत किया गया है और उस शासक को विन्ध्या (विन्ध्य) अरवली (परियात्र) सह्याद्रि (सह्य = पश्चिमीघाट) कृष्णगिरि (कन्हेरी, बम्बई के समीप) मलय (मलयाचल = नीलगिरि का दक्षिणी शाखा) तथा महेन्द्र (पूर्वी घाट) का स्वामी कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी पश्चिमी भाग से पूर्वी घाट (पश्चिम से पूरब) तथा अरवली से नीलगिरि (उत्तर से दक्षिण) तक यानी सम्पूर्ण दक्षिणी पठार पर शासन कर रहा था। इस विजय के प्रसंग में समुद्रगुप्त के प्रयागस्तम्भ लेख का वर्णन आवश्यक है। गुप्त सम्राट् पाटलिपुत्र से दक्षिण भारत पर आक्रमण कर अनेक राजाओं को परास्त किया जिसमें महेन्द्रगिरि का भी नाम उल्लिखित है। यद्यपि इस नाम के सम्बन्ध में विवाद है किन्तु महेन्द्र को पूर्वी घाट से समता कर सकते हैं। चालुक्य नरेश द्वितीय पुलकेशिन् के अयहोल प्रशस्ति में विन्ध्याचल पर्वत का उल्लेख है जिसके समीप ही उत्तरी भारत के सम्राट् हर्ष वर्धन को उसने परास्त किया था। जहाँ तक धार्मिक परिस्थिति का प्रश्न है नासिक लेखों में त्रिरण्हु या त्रीरश्मि पर्वत का नाम वर्णित है जिसमें भिक्षुसंघ के निमित्त गुहा खुदवा कर दान में दिया गया था (त्रीरश्मिषु पर्वतेषु धर्मात्मना इदं लेणं कारित-नासिक लेख) इन प्रसंगों से भिन्न देश की आर्थिक परिस्थिति सुधारने के लिए पर्वतीय नदियों से सिंचाई निमित्त नहर निकाली गई थी। काठियावाड़ के उर्जयन्त पर्वत से दो नदियों पलाशिनी आदि निकली थी जिनकी बाढ़ के

कारण बाँध नष्ट हो गया और महाक्षत्रप रुद्रदामन ने उसकी मरम्मत करवाई थी (गिरेरूर्जयत सुवर्ण सिकता पलाशिनी प्रभृतीना नदीना-जूनागढ का शिलालेख)। इन पर्वतो तथा नदियो के सम्बन्ध मे गुप्तनरेश स्कन्दगुप्त के जूनागढ लेख से अतीव सुन्दर तथा काव्यमय पद्यो का उद्धरण युक्ति सगत होगा। काठियावाड के सुदर्शन झील का वर्णन करते हुए कवि ने समीपवर्ती नदियो तथा उनके मूल स्रोत पर्वतो का वर्णन बडे ही मार्मिक शब्दो मे किया है—

इमाश्च या रैवतकाद्रिनिर्गता
पलाशिनीय सिकता-विलासिनी।
समुद्रकान्ता चिरबन्धनोषिता
पुन पति शास्त्रयथोचितं ययु ॥
अवेक्ष्य वर्षागमज महोद्भ्रय
महोदधेरूर्जयता प्रियेप्सुना।
अनेकतीरान्तजपुष्पशोभितो
नदीमयो हस्त इव प्रसारित ॥

कवि द्वारा नदियो रूपी पत्नियो का समुद्र (पति) मे मिलना तथा नदियो की दो बाहु से उपमा देना, काव्यमय शैली का उत्कृष्ट दृष्टान्त है। गुप्त नरेश कुमारगुप्त प्रथम के प्रसिद्ध प्रशस्तिकार वत्सभट्टि ने दशपुर (मालवा, राजस्थान) का अतीव मनोहर वर्णन करते हुए उस नगर का कैलाश पर्वत के सदृश अट्टालिकाओ से युक्त वर्णित किया है।

कैलास-तुग-शिखरप्रतिमानि चान्या-
न्यायान्ति दीर्घ-बलभीनि सवेदिकानि।
(मदसोर प्रशस्ति, वि० स० ५२९)

अभिलेखो मे नदिया का नाम तीर्थ स्थानो के प्रसग मे उल्लिखित है, किन्तु कतिपय नाम राजनैतिक स्थिति से सम्बन्धित है। इस सदर्भ मे नहपान कालीन नासिक गुहालेख का नामोल्लेख महत्त्वपूर्ण है। क्षत्रप नहपान का जामाता ऋषभदत्त ब्राह्मण धर्मानुयायी हो गया था। अतएव नाभटिन के सिलसिले मे उसने अनेक नदियो पर मार्ग को आरोपित कर से मुक्त कर दिया। लेख मे निम्नलिखित वर्णन आता है—हवा-पारदा-दमणा तापी-करवेणा-दाहनुका नावा पुण्यतर-कोण (नासिक गुहालेख ई० स० १२४ई०) विष्णु पुराण (३, ९) तथा अग्निपुराण (२२३-२५) मे इस पुण्य कार्य को 'नरशुल्क' या 'शुल्कतर' कहा गया है जिसका तात्पर्य है 'अशुल्कतर=पुण्यतर' यानी नदी को पार करने मे किसी प्रकार का कर न लगे। इस अभिलेख मे पश्चिमी भारत के नदियो के नाम सम्मिलित है। वार्णासा=वनास (चम्बल की सहायक) ताप्ती=तापी, दमन=दमनगगा (दामन शहर के समीप, दाहनु का (दहनु शहर के समीपवर्ती) नदियो के नाम का पता चलता है किन्तु हवा पारदा तथा करवेणा की समता करना कठिन है। इससे यह भी तात्पर्य निकलता है कि नहपान का राज्य विस्तृत था। जूनागढ लेख (रुद्रदामन तथा गुप्तराजा स्कन्दगुप्त) मे पलाशिनी आदि का नामोल्लेख किया गया है। चौथी सदी मे गुप्त सम्राट द्वितीय चन्द्रगुप्त ने पजाब पर आक्रमण किया था। उसी के प्रसग मे सिन्धु नदी के सातमुखो (सहायक नदियो) का वर्णन है—

तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे
सिन्धोर्जिता वाह्लीका
(मेहरौली लौह स्तम्भ लेख)

यहाँ सिन्धु की सहायक झेलम, चनाव, रावी, व्यास, सतलज, काबुल तथा स्वात को सम्मिलित कर सात मुखो का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इन नदियों के नाम राजनीतिक परिस्थिति के कारण ही उल्लिखित है। गुप्त राजा बुधगुप्त के एरण स्तम्भ लेख मे शासन की दृष्टि मे रखकर कालिन्दी (यमुना) तथा नर्वदा का वर्णन किया गया है जिसके मध्य मे सुरश्मिचन्द्र शासन करता था।

दक्षिण भारत के लेखो मे युद्ध यात्रा के प्रसंग में नदियो के नाम मिलते है। राष्ट्रकूट शासक ने गंगा-यमुना के मध्य मे धर्मपाल को परास्त किया (गंगा यमुनोर्म्मध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यत,) ऐसा उल्लेख संजन ताम्र-पत्र मे किया गया है। आक्रमण के मार्ग मे कावेरी नदी का नाम चालुक्य नरेश द्वितीय पुलकेशिन् के अयहोल लेख मे आया है। किन्तु मध्य युग मे धार्मिक कार्यो के साथ भी नदियो का नाम लेखो मे आता है। गहड़वाल नरेश गोविन्द चन्द्र देव के कमौली ताम्र-पत्र मे 'श्रीमद् वाराणस्या गंगाया स्नात्वा' वाक्य मिलता है। तात्पर्य यह है कि दान करने से पूर्व गंगा नदी मे स्नान करना आवश्यक था। सारांश यह है कि अभिलेखो मे विभिन्न परिस्थितियो के कारण प्रशस्तिकार ने पर्वतो तथा नदियो का उल्लेख किया है।

अभिलेखो मे वर्णित नगर

शासक का जिस स्थान से सीधा सम्बन्ध होता था उसका उल्लेख भी लेखो मे स्वभावतः पाया जाता है। कलिंग विजय के पश्चात अशोक की मनोवृत्ति का परिवर्तन हो गया, इसलिए उसने कलिंगदेश के अतिरिक्त अन्य लेखो द्वारा विभिन्न प्रांतो मे धर्माज्ञा प्रसारित की "सवे मुनिसे पजा ममा। अथा पजाये इच्छामि हक किंति सवेन हित सुखेन . इच्छामि हक।" अतएव तोसली, उज्जयिनी तथा तक्षशिला कुमार को सदेश भेजा गया। तोसली का वर्तमान धौली (भुवनेश्वर के समीप, उड़ीसा) से समीकरण किया जाता है। वह देखने मे युद्ध क्षेत्र के समान प्रकट होता है। धौली मे अशोक का पृथक् शिलालेख चट्टान पर खुदा है। उज्जयिनी (अवन्ति की राजधानी) तथा तक्षशिला (गन्धार प्रदेश का मुख्य नगर) के सबंध मे कुछ कहने की आवश्यकता नही है। कुछ व्यक्ति बुद्ध का जन्म स्थान कपिलवस्तु समझते है क्योकि वह स्थान शाक्य वंश की राजधानी थी। लेकिन अशोक के रूम्मनदेई (नेपाल तराई) स्तम्भ लेख मे स्पष्ट लिखा है—

हिद बुधे जाते सक्य मुनीति
× × ×
हिद भगव जाते ति लुम्बिनि गामे।

अतएव इसके आधार पर सभी संदेह मिट जाता है। मौर्य सम्राट् अशोक के आठवे शिलालेख मे निम्न वाक्य मिलता है—संबोधि तेनेमा धर्म-यात्रा। सम्भवतः अशोक ने बुद्धधर्म मे प्रवेश कर धर्मयात्रा आरम्भ की और पहले वह बुद्ध के जन्म स्थान लुम्बिनी पहुँचा, तत्पश्चात् ज्ञान प्राप्ति के स्थान बोध-गया। "संबोधि धर्मयाता" से बोध-गया के तीर्थयात्रा का अर्थ समझना चाहिए। अन्य स्थानो के सम्बन्ध मे कोई सीधा प्रमाण नही मिलता। परन्तु सारनाथ का स्तम्भ लेख

तथा धर्मराजिका स्तूप का निर्माण अशोक के सारनाथ तीर्थ यात्रा को प्रमाणित करता है। सारनाथ स्तम्भ लेख में संघ भेद के प्रसग मे पाटलिपुत्र नगर का नाम भी उल्लिखित है।

मौर्यो के उत्तराधिकारी पुष्यमित्र को अयोध्या लेख मे 'कोसलाधिप' कहा गया है। यानी वह उत्तर-कोशल का शासक था जिसकी राजधानी अयोध्या थी। दक्षिण कोशल को महाकोशल कहते थे जिसकी राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर, मध्यप्रदेश) थी। दक्षिण भारत के शासक सातवाहन नरेशो के जो लेख प्रकाशित हुए हैं उनमे गोवधनस (=नासिक)जयस्कन्धावार के रूप मे उल्लिखित है। गोमती पुत्र शातकर्णी के विजय प्रसग मे प्रदेश तथा नदियो के नाम आते है (आगे देखिए)। शातकर्णी के समकालीन खारवेल के हाथी गुहा-लेख मे कलिगनगर का नाम आया है (जिस स्थान को मरम्मत खारवेल ने पाँचवे वर्ष मे की थी)। इस कलिंग नगर के समीकरण मे मतभेद है। अभी भुवनेश्वर के समीप शिशुपालगढ की खुदाई हुई है। विद्वानो का मत है कि यही स्थान कलिंग नगर माना जा सकता है। उसी लेख मे राजगृह तथा अंग एव मगध प्रदेशो के नाम भी उल्लिखित है (अग-मगध-वसु च नयति)। वेस नगर के स्तम्भ लेख मे हेलियोडोरस तक्षशिला का यवन दूत (तखव सिलाकेन योन दूतेन) कहा गया है। इससे पता चलता है कि तक्षशिला प्राचीन समय मे प्रमुख स्थान समझा जाता था। अशोक के समय मे ही यह शासन का प्रधान केन्द्र था। यूनानी राजा अतलिकित वहाँ शासन करता था जिसका दूत हलियाडोरस था।

पहली सदी मे कुषाण नरेश कनिष्क ने तक्षशिला के समीप पेशावर को अपनी राजधानी बनाया। कनिष्क का राज्य काशी तक विस्तृत था। यही कारण है कि उसके सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा लेख मे बनारस का प्राचीन नाम वाराणसी का उल्लेख आता है [बोधिसत्वो छत्रयष्टि प्रतिष्ठापितो वाराणसिये]। कनिष्क के सहेत-महेत (जिला गोडा, उत्तर प्रदेश) लेख मे 'श्रावस्तिये' नाम उल्लिखित है जो सहेत महेत का प्राचीन नाम था। वाराणसी का उल्लेख मध्ययुगीन कमौली ताम्रपत्र मे भी मिलता है (श्रीमद् वाराणस्या गगाया स्नात्वा)। अन्य लेखो मे भी काशी का नाम भी आया है। हुविष्क के बुद्ध प्रतिमा लेख मे मथुरा के लिए "मधुर वणके" शब्द का प्रयोग मिलता है। पटिक के ताम्र पत्र मे "तख्खसिलिये नगरे" का उल्लेख आता है। शक क्षत्रप नहपान के नासिक गुहा लेख मे प्रभास (काठियावाड), भरुकच्छ (भरौच), दशपुर (मालवा), गोवर्धन (नासिक) तथा शोर्पारक (सोपारा) के नाम उल्लिखित है क्योकि इन स्थानो पर ऋषभदत्त ने आराम गृह का निर्माण किया था। अभिषेक के निमित्त वह पुष्कर तीर्थ गया, जिसका "पोक्षरानि" की सज्ञा से नासिक गुहालेख मे उल्लेख है। कार्लेलेख मे भी इसी स्थान पर दान देने का वर्णन किया गया है [पभासे पूततिथे ब्रह्मणाण अठ भाया पदेन। अनुवास पितु सत सहस्र भोजप यति]। रुद्रदामन के जूनागढ लेख मे तो अनेक प्रान्तो के भी नाम मिलते हैं। आकरावाती (मालवा), सुराष्ट्र (सौराष्ट्र), मरु (राजपूताना), सिन्धु सौवीर (सिन्धु नदी का निचला प्रदेश) कच्छ आनर्त (उत्तरी काठियावाड) आदि का विवरण आता है।

अशोक तथा गुप्त सम्राटो के अभिलेखो से भी दक्षिण भारत के राज्य तथा नगरो के नाम ज्ञात होते है। अशोक के द्वितीय शिलालेख मे "चोडा पाडा सतिय पुतो केतल पुतो तंबपंणी" का उल्लेख मिलता है जिससे सुदूर दक्षिण के प्रात तथा लका की स्थिति का परिज्ञान होता है। तेरहवे शिलालेख मे कलिंग (उडीसा) प्रात के विजय का वर्णन है। उसी लेख मे आध्र प्रदेश का भी नाम आता है।

गुप्त-काल मे सम्राटो के दिग्विजय के प्रसग मे अनेक प्रदेशो के नाम दिए गए है। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कई शासको को परास्त किया था। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे कोसल (दक्षिण कोसल) पीठापुर, काची आदि स्थानो के नाम दक्षिण भारत के दिग्विजय के प्रसग मे आए है। समतट डवाक, (ढाका) कामरूप (असम), नेपाल, कर्त्तपुर का उल्लेख भी सीमा पर स्थित प्रदेशो के रूप मे मिलता है। अशोक के तबपणी (लका) का प्रयाग प्रशस्ति मे सैहल (लका) के नाम से उल्लेख है। दक्षिण भारत के प्रदेश की राजधानी का उल्लेख नही पाया जाता। चन्द्रगुप्त द्वितीय के विजित स्थानो मे काकनाड का नाम मिलता है जो साँची का प्राचीन नाम था। उदयगिरि के लेख मे वीरसेन ने अपना परिचय देते समय अपने को चन्द्रगुप्त का मंत्री तथा पाटलिपुत्र का निवासी बतलाया है—

कौत्सश्शाब इति ख्यातो वीरसेन कुलाख्यया।
शब्दार्थन्यायलोकज्ञ. कवि पाटलिपुत्रक ॥

कुमार गुप्त प्रथम के मन्दसोर लेख मे दो प्रधान व्यापारिक नगर का नाम दिया गया है। व्यापारिक सघ (श्रेणी) ने लाट (दक्षिण काठियावाड) से आकर दशपुर (मालवा) को अपना केन्द्र बनाया और कार्य निपुणता तथा दक्षता के कारण लोगो मे विश्वास पैदा कर दिया था। वर्णन सुनिये—

लाट विषयान्नगावृत शैलाज्जगति प्रथित शिल्पा
× × ×
जातादरा दशपुर प्रथम मनोभि-
रन्वागतास्ससुत बन्धु-जनास्समेत्य।

इस स्थान की प्रधानता के कारण ही बन्धु वर्मा को इसके शासन का कार्य सौपा गया था—

तस्मिन्नेव क्षितिपति विपे बधुवर्मण्युदारे
सम्यक् स्फीतं दशपुरमिद पालयत्यन्नतास ॥

कुमारगुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त के शासन काल मे भी व्यापारिक श्रेणियाँ कार्य करती रही। इन्दोर के ताम्र पत्र मे 'इन्द्रपुर निवासी श्रेणी' का वर्णन है जिसने सूर्य के मदिर का जीर्णोद्धार कराया था। (इन्द्रपुर निवासिन्यास्तैलिक-श्रेण्या) इस स्थान को वर्तमान इन्दौर ही माना गया है जहा से ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है। गुप्त नरेशो के दामोदरपुर ताम्रपत्रो मे पुण्ड्रवर्धन (भुक्ति) तथा उल्लिखित कोटिवर्ष (विषय) का नाम आया है। दोनो स्थान उत्तर बगाल के (इस समय पूर्वी पाकिस्तान के) राजशाही जिले मे स्थित थे।

इसी प्रकार गुप्त राजाओ के समकालीन नरेशो के लेखो मे कई नगरो के नाम मिलते है। सुसुनिया शिलालेख मे चन्द्रवर्मन पुष्कर (अजमेर, राजपूताना) का राजा कहा है। वैग्राम के ताम्रपत्र मे शासक को पचनगरी (वर्तमान पछिवी, बोगरा) का स्वामी बतलाया गया है। मोखरि नरेश ईशान वर्मा के हरहा प्रशस्ति मे आध्र तथा गौड (उत्तरी बगाल) प्रदेशो के नाम उल्लिखित है। हर्षवर्धन के बासखेरा ताम्रपत्र मे अहिछत्र भुक्ति का नाम आया है जिसका समीकरण वर्तमान रामनगर (बरेली, उत्तर प्रदेश) से किया जाता है। खुदाई मे वहाँ से सिक्के, प्रतिमाएँ तथा मुहरे मिली हैं। मध्य युग मे तीर्थों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित हो गया था। जहाँ मौर्ययुग मे कौशाम्बी की (कोसंबिय) प्रसिद्धि थी। आठवी सदी से प्रयाग

का महत्त्व हो गया। अपसद लेख मे तृतीय कुमारगुप्त के सम्बन्ध मे प्रयाग आकर अग्नि मे जल कर बलिदान का विवरण दिया गया है (शौर्यमत्यव्रतधरी य प्रयाग गतो घने) इसी तरह का वर्णन गागेयदेव चेदि के लिए कलचुरी प्रशस्ति मे पाया जाता है। उस स्थान पर विवरण आता है कि चेदि राजा ने डेढ सौ पटरानियो के साथ प्रयाग आकर गगा मे डूब कर स्वर्ग प्राप्त किया था।

प्राप्ते प्रयाग-वट-मूल-निवेश-बन्धौ
सार्ध शतेन गृहिणीभिरमुत्र मुक्तिम्।
(ए. इ भा० २ पृ ४)

चन्देल राजा चन्द्र वर्मन् के सम्बंध मे कहा गया है कि वह काशी, कुशिक (कन्नौज) उत्तर कोशल (अयोध्या) तथा इन्द्रप्रस्थ का रक्षक था। इस स्थान पर उपरिउक्त चारो स्थानो का नामोल्लेख है। दान के प्रसगवश गहडवाल दानपत्रो मे काशी मे स्नान कर दान देने का उल्लेख मिलता है। [श्रीमद् वाराणस्या गगाया स्नात्वा—ए इ २६ पृ ७२, भा ८ पृ १५८] इस से प्रकट होता है कि मध्य युग मे प्रयाग, वाराणसी तथा अयोध्या आदि तीर्थो की लोग यात्रा करते थे। पाल प्रशस्तियो म विशिष्ट स्थानो के नाम प्रचुर मात्रा मे मिलते है। पाल नरेश धर्मपाल के खालीमपुर, देवपाल के नालदा तथा नारायण पाल के भागलपुर ताम्रपत्रो मे कई नाम आते है। धर्मपाल ने महोदय (कन्नौज) को जीतकर चक्रपालित को सिंहासन पर बैठाया था। अपने शासन के अंत मे उसने केदार (केदार नाथ गढवाल) तथा गगासागर की तीर्थ यात्रा की थी। देवपाल ने नालदा मे निर्मित बिहार को पाच ग्राम दान मे दिया था तथा नारायण पाल ने मगेर से (मुद्गगिरि जयस्कन्धावारात्) आज्ञा पत्र प्रसारित किया था। इस तरह प्रसग वश पालराज्य की सीमा मे स्थित नगरो के नाम उल्लिखित है।

अयहोल लेख मे चालुक्य राजा पुलकेशी प्रथम अपनी राजधानी (वातापीपुरी) का स्वामी कहा गया है।

तस्याभवत्तनूज पालकेशीय श्रितेन्दु कान्तिरपि
श्री वल्लभोप्ययासीद्वातापिपुरी वधूवरताम्।

उसी लेख मे पुलकेशी द्वितीय के विजय यात्रा क प्रसग मे लाट, मालव, गुर्जर देश, महाराष्ट्र कोशल (दक्षिण) एवं कलिङ्ग आदि प्रदेशो के अतिरिक्त पल्लव नरेश की राजधानी काचीपुर के विजय का वर्णन मिलता है।

आक्रान्तात्मबलोन्नति बलरज सञ्छन्नकाञ्चीपुर-
प्राकारान्तरित प्रतापमकरोद्य पल्लवाना पतिम्।

पश्चिम भारत के मैत्रिक नरेश द्रोण सिंह के लेख के प्रारम्भ मे बलभी राजधानी का उल्लेख है (बलभीत परमभट्टारक पादानुध्यातो महाराज द्रोणसिह) जिसके आधार पर मैत्रक राजा बलभी नरेश कहे जाते हैं। यह गुजरात मे शिक्षा का मुख्य केन्द्र भी था। मध्ययुग के चन्देल राजाओ के लेख मे कान्यकुब्जाधिपति या कालिञ्जराधिपति शब्द प्रयुक्त मिलते है। जिसका साधारण अर्थ यही था कि कान्यकुब्ज तथा कालिंजर नगरो पर उनका अधिकार था। दिल्ली के स्तम्भ लेख मे विग्रहराज (स० १२२०) के विन्ध्या से हिमालय तक तीर्थ यात्रा की बात

लिखी है । (आविन्ध्यादाहिमाद्रेर्विरचित विजयस्तीर्थयात्रा) । इस आधार पर कहा जा सकता है कि तीर्थ नगरों का ज्ञान लोगों को था । उसे शाकम्भरी का राजा कहा गया है । यानी तोमर नरेश दिल्ली से अजमेर तक शासन करते रहे ।

दक्षिण भारत के मध्य युगी लेखों में भी अनेक नगरों तथा प्रदेशों के नाम मिलते हैं । राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के संजन ताम्रपत्र लेख में गौड, कोशल, कलिंग, वेंगि तथा कांची आदि के नाम उल्लिखित है

प्राचीन लेखों में अनेक शासकों के विजय का वर्णन मिलता है जिनके आधार पर प्राचीन भारत के विभिन्न प्रदेश तथा मार्ग की समुचित जानकारी होती है । लेखों मे वर्णित

अभिलेखो मे राज्य-सीमा वर्णन

विजय-यात्रा से यह विचार कदापि व्यक्त नही किया जा सकता कि सारे विजित प्रदेश राज्य में सम्मिलित कर लिए गए थे । अशोक के १३ वें शिलालेख में कलिङ्ग विजय का वर्णन मिलता है और उसी के साथ सीमा पर स्थित विभिन्न भारतीय यूनानी राज्यों के नाम भी उल्लिखित है । उस सूची में चोडा, पाडा, सतियपुतो, केतलपुतो, तमपर्णी (द्वितीय प्रधान शिलालेख) योन, कम्बोज-गन्धार, रठिकपितिनिक (पाचवा शिलालेख) तथा अतियो-को तुरमय अंतिकिनि, मक, अलिक सुन्दरो यूनानी नरेशो के नाम (तरहवे शिलालेख) मिलते है । इसमे सदेह नही कि ये राजा मौर्य साम्राज्य की सीमा पर स्थित थे जिनके लिए 'इह च सर्वेपु च अंतेषु' वाक्य का प्रयोग किया गया है । दूसरे लेख में दक्षिण के चोल, पाण्ड्या, केरल तथा सिंहल सीमा पर स्थित बतलाए गए है तथा पाँचवें शिलालेख में वर्णित राजा उत्तर पश्चिम भाग मे स्थित थे । यूनानी राजा अतियोक पश्चिमी एशिया मे शासन करता था । मग उत्तरी अफ्रीका मे, तुरमय मिस्र मे, अंतिकिनि तथा अलिक सुन्दर एशिया माइनर के समीप शासन करते थे । इससे स्पष्ट हो जाता है कि अशोक का राज्य सारे भारतवर्ष मे सुदूर दक्षिण के कुछ भाग को छोडकर तथा अफगानिस्तान के भू भाग मे पर फैला था । यद्यपि इसके लिए लेखों मे प्रबल प्रमाण नहीं मिलता कि कितना भाग उसके पितामह ने विजित किया था किन्तु अशोक कलिंग के अतिरिक्त कुछ भी जीत न सका । उसकी पैत्रिक राज्य की सीमा पर्याप्त थी जिसका अनुमान सीमा पर स्थित शासको की सूची से होता है ।

दक्षिण भारत के शासकों के अभिलेख यह बतलाते है कि सातवाहन तथा क्षत्रप नरेशो मे कई सदियों तक युद्ध होता रहा । एक के बाद दूसरे वंश का विजय तथा पराजय होता रहा । साँची के दक्षिणी तोरण पर जो लेख खुदा है वह शातकर्णी के शासन काल का है । नाना-घाट के सातवाहन लेख मे नायनिका ने अपने पति शातकर्णी द्वारा वैदिक यज्ञ सम्पादन करने का वर्णन किया है । अतएव यह ज्ञात होता है कि शातकर्णी (ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी) के शासन में सातवाहन राज्य मालवा से महाराष्ट्र यानी (पूना के समीप) तक विस्तृत था । तत्पश्चात् कई सदियो तक सातवाहन वंश का कोई लेख प्राप्त नही हुआ । उत्तर पश्चिम भारत के सामंत क्षत्रपों ने सातवाहन राजा को परास्त कर राज्य भार ले लिया । उनके लेखो से प्रकट होता है कि द्वितीय शताब्दी में क्षत्रप राजा नहपान का प्रभुत्व हो गया था । नासिक और जूनार लेख उसके प्रमाण है । नासिक लेख मे गोवर्धन (नासिक-महाराष्ट्र) प्रभास (काठियावाड) भरुकच्छ (भरोच) दशपुर (मालवा) तथा पोक्ष रानी (पुष्कर-अजमेर) के नाम मिलते

हैं जिन पर नहपान का अधिकार था। पूना के समीप कार्ले तथा जूनार गुहा लेख भी महाराष्ट्र पर उसका अधिकार सिद्ध करते हैं। इसलिए यह विदित होता है कि सातवाहन को हरा कर क्षत्रप नरेश ने अपना राज्य अजमेर, मालवा, राजपूताना से लेकर महाराष्ट्र तक विस्तृत किया था। यह घटना प्राय सन् १२४ ई० के समीप की है। कुछ ही दिनो के पश्चात् सातवाहन के प्रतापी नरेश गौतम पुत्र शातकर्णी ने नहपान को परास्त किया। उसके उत्तराधिकारी पुलमावि के नासिक लेख (१९ वें वर्ष) मे शातकर्णी का यश वर्णित है तथा उसके द्वारा विजित प्रदेशो के नाम भी उल्लिखित हैं। "खखरात-बस निरवसेस-करस" (खहरात नहपान के वश का का नाश करने वाला) की बात शातकर्णी के सम्बन्ध मे कही गई है। इस वर्णन के अतिरिक्त सातवाहन नरेश असिक असक मूलक के सम्बन्ध मे कुछ कहना कठिन है। सूरठ (सौराष्ट्र) कुकुर (उत्तर काठियावाड़) अपरान्त (उत्तरी कोकण, पश्चिमी किनारा) अनूप (मान्धाता) विदर्भ (प्राचीन बरार, आध्रप्रदेश) तथा आकरावन्ती (पूर्व तथा पश्चिमी मालवा) का स्वामी कहा गया है। यानी इस सतवाहन नरेश ने नहपान के प्रदेशो को (राजपूताना, सौराष्ट्र, बरार, मालवा आदि) जीत कर सातवाहन राज्य मे मिला लिया था। उसका उत्तराधिकारी वासिष्ठी पुत्र पुलमावि करीब बीस वर्षों तक (१३० ई०-१५० ई०) राज्य कर चुका था जब वह फिर क्षत्रपो द्वारा परास्त किया गया। क्षत्रप वश का शक्तिशाली नरेश रुद्रदामन ने उसे दो बार हराया (दक्षिणापथपतेस्सातकर्णी द्विरपि नीर्व्याजमवजीत्यावजीत्य संबध विदूरतया) जूनागढ के लेख (१५० ई०) मे पुन उन्ही प्रदेशो के नाम उल्लिखित है जो सातवाहन के राज्य मे सम्मिलित थे। नाम सूची निम्न प्रकार के है—पूर्वापराकरावन्ति (मालवा), अनूप (मान्धाता), आनर्त (उत्तरी काठियावाड), सुराष्ट्र (दक्षिण काठियावाड), श्वभ्र (साबरमती, अहमदाबाद), मरु (राजपूताना), कच्छ (कच्छ), सिन्धु (सिन्ध का प्रदेश), सौवीर (दक्षिण पूर्वी सिन्ध), कुकुर (आनर्त के समीप), अपरान्त (उत्तरी कोकण) आदि। दोनों सूचियो के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि क्षत्रप वश की प्रतिष्ठा रुद्रदामन ने पुन स्थापित की तथा सातवाहनो को पददलित किया। नासिक गुहालेख तथा जूनागढ लेख के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रमाण नही मिलता जिस आधार पर पारस्परिक-युद्ध की गाथा कही जा सके। केवल लेख ही एक मात्र सहारा है। इसके पश्चात् सातवाहन वश के अन्य लेखो मे इस प्रकार का सीधा उल्लेख नही मिलता जिससे दोनों वश के युद्ध की वार्ता प्रमाणित हो सके। यज्ञश्री शातकर्णी के कई लेख नासिक, कार्ले (पूना के समीप) और कनहेरी (बम्बई के समीप) गुहा म उत्कीर्ण है जिसका अर्थ यह समझा जाता है कि ई० सं० १७०-२०० तक सातवाहन राजा यज्ञश्री का अधिकार महाराष्ट्र (पूना) तथा बम्बई प्रदेश के भूभाग पर अवश्य हो गया था। राजपूताना मालवा तथा सौराष्ट्र पर वह अधिकार न कर सका। इस तरह उसने पुराने युद्ध का बदला लेकर क्षत्रप को दक्षिण के पठार मे परास्त किया। यज्ञश्री सातकर्णी ने क्षत्रप सिक्को के अनुकरण पर चाँदी के सिक्के भी प्रचलित किए जो क्षत्रप के पराजय का द्योतक है। सक्षेप मे यह कहना नितान्त आवश्यक है कि क्षत्रप तथा सातवाहन लेखो के आधार पर ही ईसवी सन् की पहली तथा दूसरी सदी तक दोनो वशो की प्रतिस्पर्द्धा, विजय व पतन तथा राज्य विस्तार को जानकारी होती है। दक्षिण पश्चिम भारत मे शक्ति तथा प्रभुत्व की उन्नति और पराजय का परिज्ञान अभिलेख ही कराते हैं; अन्यथा सातवाहन-क्षत्रप का इतिहास प्रकाश मे न आता।

ईसवी सन् के आरम्भ से पश्चिमोत्तर प्रांत मे शासन प्रारम्भ कर कनिष्क ने काशी तक के प्रदेश को जीत लिया। उसका कुर्रम का ताम्रपत्र पेशावर से, मानिक्याला लेख रावलपिंडी से, स्यूविहार ताम्रपत्र बहावलपुर रियासत से, महेत महेत बुद्ध प्रतिमा लेख गोंडा जिला (उत्तर प्रदेश) से तथा सारनाथ प्रतिमा लेख (जिसमे वाराणसी का उल्लेख है) काशी से मिले है जिनके आधार पर कनिष्क की विस्तृत राज्यसीमा पेशावर से वाराणसी तक निश्चित हो जाती है। इस प्रकार लेख के प्राप्तिस्थान भी भौगोलिक सीमा पर प्रकाश डालते है।

कलिङ्ग के राजा खारवेल का हाथी गुहालेख से शासक के विजय का पता चलता है। उस लेख मे क्रमबद्ध प्रत्येक वर्ष का लेखा उपस्थित किया गया है। खारवेल अपने को कलिङ्ग का राजा (कलिंग-राज-वसे-पुरसि युगे महाराजाभिसेचन पापुनाति) कहता है जिसने दूसरे वर्ष मे सातकर्णि (सातवाहन राजा) को हराया। आठवे वर्ष मे राजगिरि (पटना जिला) पर आक्रमण किया। बारहवें वर्ष मे उत्तरापथ के मगध नरेश को परास्त किया। उसमे वर्णन है कि उसने अंग, मगध के वैभव को लूट लिया। अंग तथा मगध बिहार प्रदेश मे प्राचीन प्रदेश थे। अंग भागलपुर के समीप भूभाग तथा मगध पटना तथा गया जिला के लिए प्रयुक्त किया गया है। उसने दक्षिण के पाण्ड्य नरेश को भी विजित किया। इस लेख मे कृष्णा नदी (कन्हवेण) तथा गोरथगिरि (बराबर की पहाडियाँ, गया, (बिहार) के नाम आते है। इस प्रकार हाथी गुम्फा अभिलेख द्वारा, नदी, पहाड, नगरो तथा विभिन्न प्रदेशो की भौगोलिक स्थिति के विषय मे हमारी जानकारी होती है। अपने को वह बार-बार कलिङ्ग का राजा कहता है। इससे पता चलता है कि राज्य का नाम कलिङ्ग (कलिङ्ग राजावस) तथा राजधानी भी कलिङ्ग नगर नाम से प्रसिद्ध थी। खारवेल की रानी के कुछ लेख उसी स्थान पर मिले है जिसमे उसने अपने पति को कलिंग चक्रवर्ती खारवेल नाम से उल्लेख किया है। उसी मञ्चपुरी गुहा के दूसरे अभिलेख मे खारवेल कलिंगाधिपति कहा गया है। इसलिए यह कहना सर्वथा उचित होगा कि कलिंग राज्य भुवनेश्वर के समीप (उड़ीसा प्रांत) विस्तृत था जिसे आज उड़ीसा का नाम दिया गया है।

इसके समकालीन मगध का राजा पुष्यमित्र था जिसके उत्तराधिकारी धनदेव को अयोध्या की प्रशस्ति मे कोसल का राजा कहा गया है। वही प्रदेश गहडवाल लेख मे उत्तर कोसल के नाम से उल्लिखित है (ए० इ० भा० २६ पृ० ६२)। अतएव इस आधार पर अयोध्या का भाग उत्तर कोसल माना गया है और दक्षिण कोसल को प्रयागस्तम्भ लेख मे महाकोसल कहा गया है।

गुप्त वश के अभिलेख भी गुप्त साम्राज्य की भौगोलिक सीमा स्थिर करने मे सहायता करते है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे आर्यावर्त तथा दक्षिणापथ उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के लिए क्रमश प्रयुक्त किये गये है। उस लेख के विस्तृत अध्ययन से ज्ञात होता है कि उत्तरी भारत मे उसका राज्य मथुरा तक विस्तृत था। दक्षिण के शासको का प्रदेश या राजधानी भी राजा के व्यक्तिगत नामो के साथ उल्लिखित है। पहला नाम कोसल का है जो दक्षिणापथ की ओर अग्रसर होने पर समुद्रगुप्त द्वारा सर्व प्रथम पराजित किया गया। अत विद्वान् इसकी स्थिति मध्य प्रदेश मे मानते है। वह उडीसा प्रदेश पार कर दक्षिण के अनेक शासको को परास्त करता काची (जिला चिंगलेपुट, मद्रास) तक पहुँच गया। उस लेख मे दक्षिण भारत के नगरो— पीठापुर, एरण्डपल, देवराष्ट्र आदि के नाम मिलते है। कामरूप (आसाम) तथा नेपाल भी

सीमान्त देशों में उल्लिखित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गुप्त लेख में उत्तर तथा दक्षिण भारत के नगरों और प्रदेशों के नाम मिलते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मेहरौली लौहस्तम्भ लेख में पंजाब के जीतने की चर्चा की गई है—

"तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लीका ।"

साहित्य ग्रंथो में भी पंजाब का भाग सप्त सिन्धु के नाम से विख्यात है। महाभारत के आधार पर वाह्लीक (वाहलीक) को पूर्वी पंजाब मानते हैं। इस प्रकार सिन्धु घाटी में सात नदियों—झेलम, चनाव, रावी, व्यास, सतलज, सिन्ध व काबुल को सप्त मुखानि कहा है। द्वितीय चन्द्रगुप्त के उदयगिरि (विदिसा के समीप) गुहालेख तथा साँची के तोरण लेख मालवा पर गुप्त साम्राज्य के विस्तार की कहानी सुनाते हैं। उसका रजत सिक्के के मुद्रालेख काठियावाड़ पर विजय की घोषणा करते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चात् गुप्त राज्य की सीमा बढ़ न सकी। मेहरौली लौहस्तम्भ, साँची, वेदिका तथा उदयगिरि गुहा में खुदे लेख विक्रमादित्य की कीर्ति आज भी गा रहे हैं। उसके पौत्र स्कन्दगुप्त के अभिलेखों में कई प्रदेश तथा क्षेत्र के नाम आते हैं। स्कन्दगुप्त हूणों को पराजित कर राज्य के शासन को सुदृढ़ करने में लग गया। **जूनागढ** (काठियावाड़) के शिला लेख में **सुराष्ट्र** के रक्षण की बात कही गई है (सम्यक् सुराष्ट्रवनिपालनाय)। उसके इन्दौर (बुलन्दशहर, उत्तर प्रदेश) ताम्रपत्र में गंगा यमुना के मध्य (प्रयाग से हरिद्वार तक)—अन्तर्वेद के नाम से उल्लेख है। तत्पश्चात् बुधगुप्त के लेखों के आधार पर उसकी राज्य सीमा का परिज्ञान होता है। बुधगुप्त के शासन-काल में कालिन्दी (यमुना) तथा नर्वदा नदियों के मध्य भाग पर सुरश्मिचन्द्र शासन करता था (एरण का शिलालेख)। इस शासक के लेख भी मध्य प्रान्त से लेकर उत्तरी बंगाल तक राज्य सीमा का विस्तार बतलाते हैं। [एरण (मध्यप्रदेश), सारनाथ (उत्तर प्रदेश) तथा दामोदरपुर (उत्तरी बंगाल) का लेख।] एरण के स्थान से हूण राजा तोरमाण का लेख तथा मिहिर कुल का ग्वालियर लेख यह व्यक्त करता है कि बुधगुप्त के पश्चात् मध्य भारत पर हूणों का अधिकार स्थापित हो गया था। उस लेख में "महाराजाधिराज श्री तोरमाणे प्रशासति" उत्कीर्ण है और इसी हूण नरेश के कुरा (साल्ट रेंज पंजाब) लेख में राजाधिराज महाराज तोरमाण लिखा है। इस कारण यह दोनो लेख पंजाब से मध्यभारत तक तोरमाण के राज्य-विस्तार की कथा सुनाते हैं।

मध्ययुग के पालवंशी अभिलेखों से भौगोलिक बातों की अधिक जानकारी होती है। धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र में उत्तर प्रदेश के पाचाल तथा कान्यकुब्ज, मत्स्य, अवन्ति (मालवा) तथा गान्धार (पश्चिमोत्तर प्रदेश) के नाम मिलते हैं। नारायण पाल के भागलपुर दानपत्र में कान्यकुब्ज के लिए महोदय शब्द का प्रयोग मिलता है जिस पर पाल नरेश ने अधिकार कर लिया था। नालन्दा ताम्रपत्र में वर्णन आता है कि देवपाल ने श्री नगर भुक्ति में ग्राम दान किया था (जिसे वर्तमान पटना कमिश्निरी से समता कर सकते हैं)—सेन वंश के लेखों से यह पता चलता है कि सामन्तसेन करनाटक (दक्षिण भारत) के क्षत्रिय कुल का वंशज था। बल्लालसेन का सधाई नगर ताम्रपत्र इसी की पुष्टि करता है। देवपारा प्रशस्ति में काम रूप तथा कलिंग प्रदेश के नाम (श्लोक २०, २१) उल्लिखित हैं जिनके शासक को विजयसेन ने परास्त किया था। इस प्रकार पाल तथा सेन लेख तत्कालीन भौगोलिक स्थान व प्रदेशों का परिज्ञान कराते हैं।

दक्षिण भारत के लेखो मे भी उत्तर भारत की भौगोलिक बातो का वर्णन मिलता है क्योकि दक्षिण से शासको ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया था। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव के भोर सग्राहलय के ताम्रपत्र मे काँची, केरल तथा करनाट देश तथा सजन ताम्रपत्र से भी उसकी जानकारी होती है। ध्रुव के द्वाव मे आने को सूचना निम्न पक्ति से मिलती है—

गंगा यमुनयोर्मध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यत्
लक्ष्मीलीलारविन्दानि श्वेतछत्राणि योहरत्।

इसी प्रकार गुर्जर प्रतिहार के ग्वालियर प्रशस्ति मे युद्ध के प्रसग मे विभिन्न प्रदेशो के नाम मिलते है। नागभट्ट के सम्बन्ध मे एक पक्ति उल्लिखित है जिसमे आध्र, सिन्ध, विदर्भ तथा कलिग के नाम है

यत्रान्ध्रसैन्धवविदर्भकलिगभूपै ।
कौमार धामानि पतग समै पाति ॥

वत्सराज के आक्रमण के वर्णन मे आनर्त (बम्बई) मालवा, तुरुष्क (मुसलमान) वत्स तथा मत्स्य (भरतपुर, अलवर आदि) आदि प्रदेशो के नाम आते है। चालुक्य लेख (अयहोल जैन मदिर प्रशस्ति) मे तात्कालिन भौगोलिक स्थिति का विशद वर्णन है। मगलेश नामक राजा ने भारत से बाहर रेवती द्वीप (रत्नागिरि के सामने) पर अधिकार कर लिया था। पुलकेशी द्वितीय का सर्वाधिक वर्णन लम्बा है। महाराष्ट्र कोसल (दक्षिण कोसल) तथा कलिंग शासको को परास्त कर (पदनीकेन सकोसला कलिंगा) दक्षिण-पूरब मे काची तथा कावेरी के किनारे तक आक्रमण किया था। इस तरह अयहोल के लेख मे दक्षिण भारत के विभिन्न प्रातो की स्थिति तथा नामकरण का पता लगता है। वीर पुरुषदत्त के नागर्जुनीकोंडा लेख मे काश्मीर गान्धार, वग, तलवासी तथा ताम्रपर्णी के भूभाग का उल्लेख है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभिलेखो के आधार पर भौगोलिक ज्ञान अधिक साकार हो जाता है। वह साहित्यिक वर्णन को सबल बनाता है, पुष्ट करता है तथा एकीकरण निश्चित कर देता है।

भारतीय साहित्य मे प्राचीन मार्ग सम्बन्धी विवरण भरे पडे है, परन्तु इस तरह का वर्णन अभिलेखो मे नही मिलता। लेखो मे वर्णित राजाओ के यात्रा विवरण से प्राचीन भारत के विभिन्न मार्गो का चित्रण सामने आ जाता है। साधारण रूप से उन रास्तो की भौगोलिक स्थिति भी ज्ञात होती है। इसके अतिरिक्त लेखो से हाट तथा शुल्क (चुगी) का वर्णन मिलता है। विभिन्न हाटो मे नाना प्रकार के यातायात के उपकरण थे। माल ले जाने के कारण चुगी का दर एक सा नही था। इसमे भी सुन्दर वर्णन व्यापारिक संस्थाओ (श्रेणी) के मुखिया, श्रेणी तथा व्यवसायिक वर्ग के अगुआ-सार्थवाह-का उल्लेख कई अभिलेखो मे मिलता है। तात्पर्य यह है कि यातायात तथा व्यापार सम्बन्धी चर्चा से तत्कालीन मार्ग का साधारण ज्ञान होता है।

विभिन्न मार्ग

विभिन्न लेखो मे उत्तरी भारत के लिए उत्तरापथ या आर्यावर्त का नाम मिलता है। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख मे आर्यावर्त शब्द सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ है। ईसवी पूर्व से मध्यकाल तक उत्तरापथ का अधिक प्रयोग लेखो मे किया गया है। दक्षिण भारत के लिए दक्षिणापथ की सज्ञा सर्वत्र मिलती है। प्रयाग स्तम्भ लेख मे वर्णित महेन्द्र (कोसल का राजा) से

लेकर धनञ्जय तक सभी दक्षिणापथ के शासक थे। (प्रभृति दक्षिणापथ राजग्रहण आदि)। नानाघाट लेख मे शातकर्णी तथा रुद्रदामन के जूनागढ लेख मे पुलमावि दक्षिणापथपति कहे गये है। इस प्रकार दो नामो से उत्तर तथा दक्षिण भारत के विशाल भूभाग को व्यक्त किया गया है।

अभिलेखो मे अधिकतर युद्ध गाथा तथा शासन के प्रसग म विभिन्न श्रेणी के लोगो का वर्णन मिलता है। यो तो बौद्ध साहित्य और जैन अगो मे भौगोलिक विषयो का ज्ञान होता है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक बुद्ध के जाने के लिए प्रशस्त मार्ग का अनुमान किया जाता है। उरुवेला से श्रीवस्ती का मार्ग सारनाथ तथा साकेत होकर जाता था इसी मार्ग से होकर अनाथपीडिक राजगृह आया था और भगवान् बुद्ध को निमत्रित किया था। स्यात् बुद्ध उसी मार्ग से होकर श्रावस्ती गए जिस मार्ग मे स्थान-स्थान पर आराम भी वर्तमान थे। विहार प्रान्त का सहसराम नामक स्थान पर एक सहस्र आराम (विहार) की कल्पना की जाती है जिससे सहस्र आराम यानी सहसराम नाम पड़ा। यूनानी राजदूत मगस्थनीज ने लिखा है कि मार्ग पर प्रस्तर गाड कर उसकी दूरी व्यक्त की जाती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि अशोक से पूर्व भी भारत मे अच्छे मार्ग थे। अशोक स्वय उज्जयिनी तथा तक्षशिला का राज्यपाल था जिन स्थानो पर पहुचने के लिए सुगम मार्ग अवश्य होगे। अशोक के द्वितीय शिलालेख मे वर्णन आता है कि उसने मार्गो पर कुए खुदवाए तथा वृक्ष लगवाए (पथेसू कूपाच खानापिता व्रछाच रोपापिता)। साँची के लेख से यह पता लगता है कि भिक्षु कासमगोत ने बल्ख तक बौद्धधर्म का प्रचार किया था (मार्शल साँची पृ० २९१)। इन विभिन्न ऐतिहासिक साधनो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाटलिपुत्र से तक्षशिला तक राजमार्ग था, जिसकी शाखा सारनाथ से कौशाम्बी तथा उज्जयिनी होकर भरौच (बन्दरगाह) तक चली जाती थी। सोपारा का भी नाम ऋषभदत्त के नासिक लेख मे मिलता है। इसी प्रसग मे यह कहना अत्यावश्यक है कि जो मार्ग नदी को पार कर जाते थे वहाँ पर घाट (ferry) बने थे और उस स्थान पर कर लगाया जाता था जैसा कि आज भी नदी घाट पर कर लिया जाता है। नासिक लेख मे इवा पारदा, दमण, तापी, करवेणा, दाहनुका आदि नदियो के नाम आए है जिनके घाट पर लगाये गये कर को ऋषभदत्त ने माफ कर दिया था (नावा पुण्यतरकरेण) तथा यात्रियो के ठहरने के लिए आरामगृह बनवाया था (एतासा च नदीना उभतो तीर सभा प्रपाकरेण)।

आक्रमण मार्ग

यदि अभिलेखो मे शासको के आक्रमण-वृतात का अध्ययन किया जाय तो यह पता चलता है कि सेना किसी न किसी सुगम मार्ग से दूसरे राज्य-सीमा तक पहुँचती थी। अशोक के तेरहवे शिलालेख मे यह विवरण दिया गया है कि कलिंग मे ढाई लाख व्यक्ति बन्दी बनाए गए और एक लाख युद्ध में मारे गए। इस कलिंग युद्ध मे अशोक की कई लाख सेना भी युद्ध स्थल पर गयी होगी। अत इतने बडे विशाल सेना के जाने का मार्ग अवश्य प्रशस्त रहा होगा (कलिग विजित दिअढ मत्रे प्रण शत-सहस्रे ततो अपवुढे शत सहस्र-मत्रे तत्रहते बहु तवत के व मुटे)। उडीसा के स्वतत्र होने पर खारवेल ने मगध पर बडी सेना के साथ आक्रमण किया। पश्चिम दिशा मे सातवाहन नरेश शातकर्णी (वर्तमान आध्रप्रदेश का राजा) को परास्त किया। सम्भवत अशोक के मार्ग पर ही उसकी सेना आगे बढी होगी। उस लेख मे यूनानी राजा दिमित के भारत मे प्रवेश करने

का वर्णन है। गार्गी संहिता के आधार पर यवन आक्रमण की पुष्टि होती है। दिमित ने मौर्य कालीन राजमार्ग को ही आक्रमण का रास्ता चुना होगा जिस से सुगमता से उसकी सेना पाटलिपुत्र तक पहुँच जाय। गुप्त सम्राट् समुद्र गुप्त का दिग्विजय प्रयागस्तम्भ लेख में वर्णित है। समुद्रगुप्त ने अपने दक्षिण के विजय-यात्रा में एक नवीन मार्ग का अवलम्बन किया जो आजकल प्रयाग से जबलपुर (मध्यप्रदेश) की ओर जाता है। इस अनुमान पर पहुचने का कारण यह है कि दक्षिणापथ के पराजित राजाओं में कोसल का प्रथम नाम है जो वर्तमान महाकोसल (जबलपुर का भाग) माना गया है। इसे पार कर गोंडवाना जंगल (महाकान्तार) होते हुए समुद्रगुप्तने कलिंग देश में पदार्पण किया। दक्षिण-पूर्वी भाग के शासकों को परास्त करता (पिष्टपुर, महेन्द्रगिरि आदि) वह कांची तक गया तथा दक्षिण मे अपनी विजय दुन्दुभि बजाकर पाटलिपुत्र वापस चला आया। अतएव उसका वह आक्रमण मार्ग सेना के लिए सरल सिद्ध हुआ। उसके पश्चात् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिम भारत पर विजय किया। उसके उदयगिरि तथा साँची लेख इसे प्रमाणित करते हैं।

कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागत [उदयगिरि गुहालेख]

शक नरेश को परास्त कर उज्जयिनी को उसने दूसरी राजधानी बनाई थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय की रजत मुद्राए यह बतलाती है कि सर्वप्रथम चाँदी के सिक्के पश्चिम भारत के विजय के पश्चात् प्रचलित किए गए। गुप्त-युग के पश्चात् ईशानवर्मन तथा हर्षवर्द्धन ने भी विजय-यात्रा की थी। पाल नरेश धर्मपाल गौड (उत्तरी बंगाल) से सेना लेकर कान्यकुब्ज (उत्तर प्रदेश) तक आया था जिसे कन्नौज में गुर्जर प्रतिहार राजा वत्सराज तथा राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव से सामना करना पड़ा था। ग्वालियर की प्रशस्ति तथा संजन ताम्रपत्र में तीनों शासकों के युद्ध की चर्चा मिलती है। यह त्रिकोण युद्ध तभी सम्भव था जब सुगमता पूर्वक सेनाए गंगा यमुना के द्वाब में पहुँची हों। बासबाड़ा ताम्रपत्र में भी राजा भोज के कोंकड़ विजय का उल्लेख है। दक्षिण के चालुक्य पुलकेशी द्वितीय की विजय गाथा अयहोल प्रशस्ति में विस्तारपूर्वक है। अतएव अभिलेखों के अध्ययन से विभिन्न भौगोलिक मार्ग का परिज्ञान होता है। पूर्व के मार्गों के सहारे ही वर्तमान काल में रेलवे का मार्ग निश्चित किया जा सका है। पेशावर से बंगाल, दिल्ली से मथुरा, साँची होते बम्बई, पटना से प्रयाग, जबलपुर होकर बम्बई तथा कलकत्ता-मद्रास की रेल यात्रा पुराने मार्ग की याद दिलाती है।

इसका विषय उल्लेख किया गया है कि पाटलिपुत्र से राजमार्ग कौशाम्बी तथा मालवा होते भड़ौंच जाता था। अशोक के शिलालेख सोपारा में प्राप्त हुए हैं जिनसे प्रकट होता है कि बन्दरगाहों पर भी शासकों का ध्यान था। प्रयाग से जबलपुर होकर तथा दिल्ली से दूसरा मार्ग मथुरा से साँची होकर (वर्तमान समय में रेलवे) मिल जाते है। बम्बई के समीप कल्याण से एक शाखा पूना की ओर जाती थी। कन्हेरी तथा जूनार के गुहालेखों से कल्याण के व्यापारिक महत्त्व का पता चलता है [ल्यूडर्स लिस्ट नं ९८६, ९८८, १००१ इत्यादि]। नासिक गुहा लेख में भरुकच्छ तथा सोपारा (भरुकच्छे, शार्पारगे) पर नहपान के अधिकार का वर्णन है। क्षत्रप वंशी शासक रुद्रदामन ने भी समुद्र के किनारे अपना अधिकार कायम रक्खा। आनर्त (उत्तरी काठि-

बन्दरगाह

यावाड) सौराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड), कच्छ, अपरान्त (उत्तरी कोकण सोमरा के समीप) भरोच आदि स्थानो का उल्लेख जूनागढ लेख मे आया है। इस प्रकार शक, क्षत्रप नरेश महत्त्वपूर्ण मार्ग तथा बन्दरगाह पर अधिकार की आवश्यकता समझते थे। इसके पूर्व चौथी सदी मे समुद्रगुप्त ने सीमान्त राज्य समतट पर अधिकार किया जहाँ ताम्रलिप्ति का बन्दरगाह विकसित हुआ। इसी स्थान से भारतीय लोग दक्षिण पूर्व एशिया के भूभाग मे जाने लगे तथा भारतीय संस्कृति को फैलाया। दक्षिण भारत के चोल शासन मे भी सुवर्ण द्वीप तक जहाजे जाया करती थी। यानी बन्दरगाह के महत्त्व पर राजा का ध्यान था। यशोवर्मन के नालन्दा शिलालेख मे मार्गपति नामक पदाधिकारी का उल्लेख है। जो स्यात् सडको की देख रेख यानी समुचित प्रबंध करता था जिससे सेनाएँ भी बराबर उन मार्गो पर इधर उधर आ सके। वह व्यापार के मार्ग पर निगरानी भी रखता था।

सार्थवाह

व्यापार के प्रबंध का भार पुराने समय मे श्रेणी नामक संस्था पर था जो साझेदारो मे व्यापार करती था। लेखो मे श्रेणी का वर्णन कई स्थानो पर विस्तृत रूप से किया गया है और विशेष कर दान के प्रकरण मे। राजा दान की सामग्री या धन श्रेणी के बक मे जमा कर देता था। गुप्त युग के दामोदरपुर ताम्रपत्रो मे सार्थवाह शब्द का प्रयोग मिलता है जो व्यापार करने वाले पन्थो का अगुआ माना गया है। अमर कोश (३७८) मे "पान्थान वहति सार्थवाह," उल्लिखित है। सार्थ का यात्रा करने वाले पान्थो का समूह कहते है। उस दल का नेता सार्थवाह होता था। कुमारगुप्त प्रथम के अभिलेख मे कोटिवर्ष (उत्तरी बगाल) के सार्थवाह बन्धुमित्र का नाम मिलता है तथा बुधगुप्त के दामोदर पुर ताम्रपत्र मे सार्थवाह वसुमित्र का नामोल्लेख है। जातक कथाओ मे तो बोधिसत्त्व के सार्थवाह के रूप मे कार्य करने की वार्ता कई स्थलो मे वर्णित है। तात्पर्य यह है कि व्यापार करनेवाले समूह विभिन्न मार्गों से आया जाया करते थे। चाहमान लेखो मे उन्हे वाणजारक—बनजारा कहा—गया है (समस्त वणजारेषु—वृषभ भरित जतु पाइलाल गमने ए० इ भाग ११ पृ० ४३)। व्यापारियो के समूह बैलगाडी (वृषभाना देकेषु) पर सामान लादकर बाहर जाया करते थे। घोडे या बैल पर भी सामान लादकर बाजार मे व्यापारी आया करते थे जिन पर शुल्क (चुंगी) लगाया जाता था। दसवी सदी के राजपूत लेखो मे 'मण्डपिका' शब्द चुगी घर के लिए प्रयुक्त है। इससे ज्ञात होता है कि सुदूर प्रदेश मे व्यापारी सामग्री बेचने बाजार मे आया करते थे। बैलगाडी भारतवर्ष की अत्यन्त प्राचीन यान थी जिसका प्रयोग आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व भारत मे होता था। मिट्टी की बैलगाडी खिलौने के लिए बनाई जाती थी। मोहन-जादडो का खुदाई मे बैलगाडी की आकृति खिलौने के रूप मे उपलब्ध हुई है जिससे समाज मे उसके प्रयोग का आभास मिलता है। ईसा पूर्व दूसरी सदी के सातवाहन लेख मे 'सकट' शब्द का प्रयोग मिलता है। चाहमान लेख मे गाड शब्द आता है। इस यान के द्वारा विभिन्न मार्गो पर आवागमन हुआ करता था। इन विषयो की जानकारी के पश्चात् यह कहना उचित है कि अभिलेखो मे भौगोलिक विषयो का परिज्ञान होता है।

अशोक के प्रथम स्तम्भ लेख मे अन्तमहामात्र का उल्लेख मिलता है। सम्भवत यह

कर्मचारी बाहर से आने वाले लोगों पर निगरानी रखता तथा मुद्रापक (पासपोर्ट) का प्रबंध करता था। कौटिल्य ने इस तरह की प्रणाली का वर्णन किया है।

सीमान्त की निगरानी मेगस्थनीज द्वारा वर्णित पाटलिपुत्र के छ उपसमितियों में दूसरी समिति विदेशियों की देख रेख करती थी। गुप्त युग में समुद्रगुप्त ने सीमा राज्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया था। वे सभी गुप्त सम्राट् का लोहा मानते थे। प्रयाग स्तम्भ लेख में उनसे कर वसूल करने का विवरण मिलता है (समतट डवाक कामरूप नेपाल कर्तृपुरादि प्रत्यन्त नृपतिभि सर्व कर दान आज्ञाकरण प्रणाम)। साराश यह है कि सीमा पर विदेश से आने वाले लोगों पर निगरानी रखी जाती थी। उपरि उक्त विश्लेषण से प्रकट होता है कि मौर्य काल में, भारत में, सुगम मार्ग स्थित थे। साहित्य के वर्णन को यदि अभिलेखों से पुष्ट किया जाय तो प्राचीन भारत का भौगोलिक विवरण सुन्दर रीति से लिखा जा सकता है।

●

अध्याय २

अभिलेखों का विवेचन

भारत के प्राचीन साहित्य मे ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थो का अभाव सा है जिनमे आधुनिक ढग तथा वैज्ञानिक विश्लेषण की रीति मे इतिहास का वर्णन मिलता हो । इसका यह अर्थ नही है कि इतिहास के पठन-पाठन से लोग उदासीन थे और ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने की ओर अभिरुचि न थी । इतिहास के महत्व का समझकर ही इसे पचम वेद कहा गया है (इतिहास पुराणच पञ्चमो वेद उच्यते छा० उ० ७।१।२) । जनता तथा राजा के दैनिक जीवन मे इतिहास की कहानियाँ सुनने का समय निश्चित था जो इतिहास-प्रेम की बात को प्रमाणित करता है । पुराने साहित्यकार मुख्य विषय के प्रतिपादन मे सलग्न रहते थे और जो घटनाएँ आवश्यक होती थी उन्हे ग्रथ मे लिख दिया करते थे । इस बात की उन्हे चिन्ता न थी कि घटनाओ को इतिहास का स्वरूप देना है । ग्रथ लिखते समय तिथि के क्रमानुसार विषय का प्रतिपादन मुख्य न था तथा उस ओर भी कम ध्यान रहता था कि उन्हे ऐतिहासिक महत्व देना है । भविष्य मे जनता उसे इतिहास समझकर पढेगी ऐसी धारणा भी विद्वानो मे न थी । यही कारण है आधुनिक ढग पर न लिखने के कारण उन ग्रथो को इतिहास की सज्ञा नही दी गई है । बहुत समय तक पुराणो को धार्मिक तथा कल्पित वृतान्तो का भण्डार समझा जाता रहा परन्तु भारतीय विद्वानो ने उनके अध्ययन से वास्तविक इतिहास का पता लगाया है । पुराणो मे वर्णन के आधार पर शासको का नाम तथा वश का विवरण उपस्थित किया गया है । उन वशावली मे वैज्ञानिक रूप से कालक्रम का विचार नही दिखलाई पडता अतएव उन पर पूर्ण विश्वास नही किया जाता । कभी तो उल्लिखित घटनाओ मे भ्रमात्मक चित्र सामने आ जाते है । मध्यकालीन अभिलेखो मे पुराण को अन्य शास्त्रो के साथ ही उल्लिखित किया गया है ।

काव्य लिखते समय लेखको ने ग्रथो मे सरक्षकका नाम प्रसगवश वर्णित किया है या किसी ऐतिहासिक पुरुष का लेकर नाटक अथवा कथानक की रचना की है । ऐसे ग्रथो से तत्कालीन सामाजिक इतिहास का ज्ञान हो जाता है ।

काव्य का इतिहास

हर्ष चरित, विक्रमाकदेव चरित, गौडवहो तथा रामपालचरित का नाम उल्लेखनीय है जिन ग्रथ रत्नो ने इतिहास लिखने मे सहायता पहुँचाई है । जैन हरिवंश, दीघनिकाय तथा जातक उस श्रेणी तक पहुँचते है । यहाँ तक कि पाणिनि के सूत्रो के अध्ययन से भी ऐतिहासिक गुत्थिया सुलझाई गई है ।

प्राचीन ग्रथो मे पुष्पिका लिखने की परिपाटी थी जिसमे ऐतिहासिक सत्य बातें सम्मुख आ जाती है । हस्तलिखित ग्रथो की पुष्पिकाए विश्वसनीय समझी जाती है जो इतिहास जानने मे सहायता पहुँचाती है । सोमदेव रचित 'यश तिलक' की पुष्पिका मे उल्लेख मिलता है कि वह ग्रथ शक ८८१ चैत्रमास मे चालुक्य राजकुमार के समय मे समाप्त किया गया था जो कृष्ण राज देव का सामत था । यह क्रम कई सदियो तक प्रचलित रहा और तेरहवी सदी मे सायण ने

ऋग्वेद भाष्य की जो पुष्पिका (निम्न प्रकार से) लिखी थी वह सच्चा ऐतिहासिक विवरण उपस्थित करती है—"इति श्रीमद् राजाधिराज परमेश्वर वैदिक मार्ग प्रवर्तक बुक्क साम्राज्य धुरंधरेण सायणाचार्येन विरचिते माधवीये वेदार्थ प्रकाशे ऋक्संहिता भाष्ये।" इसके अध्ययन से विजय नगर साम्राज्य के शासक तथा प्रसिद्ध विद्वान् सायण के नाम की उपलब्धि होती है। पुष्पिका की इस पंक्ति में कितना इतिहास छिपा है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इस प्रकार के उल्लेख में एक ही त्रुटि है कि पुष्पिका में शासक की वंशावली या अन्य ऐतिहासिक वार्ता का पता नहीं चलता। संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि साहित्यकारों ने भारतीय इतिहास का ढांचा हमारे सामने अवश्य रक्खा जिसमें अन्य साधनों से सुन्दरता लाने का प्रयत्न किया गया है।

इतिहास के अन्य साधनों में अभिलेख अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं जिनसे भारत के विभिन्न राजवंशों का इतिहास ज्ञात होता है। साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन इतिहास जानने के लिए शासकों द्वारा सुरक्षित आज्ञापत्रलेख भी सहायक सिद्ध होते हैं। इनके आरम्भ में सिद्धम् अथवा स्वस्ति शब्द खुदे हैं तथा अंकित मिले हैं। स्वस्तिक त्रिरत्न या श्रीवत्स के चिह्न अशोक के धर्मलेख इसी श्रेणी के हैं। धौली के लेख में—देवान पियस वचनेन तोसलियं महामात नगल वियोहालका वतविय—एक प्रकार का शासन-पत्र ही था।

शासन-पत्र

केन्द्रीय शासन से जो आज्ञापत्र निकलते थे उनकी प्रतिलिपि प्रान्तीय या स्थानीय कार्यालयों में रक्खी जाती थी। कहां तक उस कार्य का सम्पादन हुआ, उसकी सूचना केन्द्र को अवश्य भेजी जाती होगी। इतना ही नहीं प्रान्तीय शासक वार्षिक विवरण भी केन्द्र को अवश्य भेजता होगा। भारत से बाहर मध्य एशिया से ऐसे आज्ञापत्र लकड़ी की तख्ती, बर्तन अथवा चमड़े पर लिखे प्राप्त हुए हैं। इन शासन पत्रों से शासन-सम्बन्धी ऐतिहासिक वृत्तान्त का परिज्ञान होता है।

अधिकतर आज्ञापत्र प्रस्तर तथा ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण मिले हैं। पुरातत्त्व सम्बन्धी अन्वेषण में अक्षरों का ज्ञान हो जाने पर इन पत्रों के पढ़ने का अवसर मिला। अन्त में प्रशस्तियों या अभिलेखों के अध्ययन से वर्णमाला का ज्ञान हुआ और तत्पश्चात् प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकें तथा आज्ञा-पत्र पढ़े गए। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि साहित्य जहां दुर्बोध है वहां पुरातत्त्व आदि विषयों की सहायता लेकर इतिहास तैयार किया जा सकता है। इतिहासकार लिखित सामग्रियों पर निर्भर करता है परन्तु पुरातत्त्व हजारों वर्ष पुराने खण्डहरों को खोदकर इतिहास उपस्थित करता है। कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र में उल्लिखित बातों को मूर्तिमान् या स्पष्टीकरण में अशोक के लेख कितने सहायक सिद्ध हुए हैं, यह किसी विद्वान् से छिपा नहीं है। कालिदास विरचित रघुवंश में वर्णित विजययात्रा की पुष्टि हरिषेण लिखित समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख से होती है। इसी तरह हर्ष के लेखों से (मधुवन तथा बाँसखेड़ा) बाण के कथन की पुष्टि होती है। अभिलेख में हर्ष के हस्ताक्षर के परीक्षण से राजाज्ञा की प्रमाणिकता की बातें जानी जाती हैं। संक्षेप में यह कहना युक्ति संगत होगा कि ऐतिहासिक साधनों में प्रशस्ति का स्थान सर्वोपरि है। अभिलेख लघु तथा दीर्घ शब्दावली में उत्कीर्ण मिले हैं। पुरातत्त्व सामग्रियों में मुद्रा लेख तथा प्रतिमा-लेख से भी इतिहास का सुन्दर चित्र सामने आ जाता है। यही कारण है अभि-

प्राचीन लेख का महत्त्व

लेखों से किसी सामग्री की समता नहीं की जा सकती। इन्हीं अमूल्य अभिलेखों के अध्ययन के फलस्वरूप प्राचीन भारत का इतिहास वैज्ञानिक ढंग पर लिखा गया है। भारतीय संस्कृति की प्रामाणिक रूपरेखा इन्हीं प्रशस्तियों तथा लेखों की सहायता से सामने आई है। उनके महान् कार्य का मूल्य आंका नहीं जा सकता। इनके अभाव में भारतीय इतिहास का ज्ञान अधूरा रह जाता। ऐतिहासिक अनुसंधान में अभिलेखों ने अधिक सहायता की है। छोटे-छोटे लेखों में अमूल्य ऐतिहासिक सामग्री मिली है। उदाहरणार्थ—मास्की लेख के आधार पर ही मौर्य सम्राट् का व्यक्तिगत नाम 'अशोक' प्रकाश में आया अन्यथा उसे प्रियदर्शी की संज्ञा दी गई थी जो अन्य सभी लेखों में पाया जाता है। अशोक के रूम्मनदेई स्तम्भ लेख के आधार पर लुम्बिनी बुद्ध का जन्म स्थान कहा जाता है। उसी अभिलेख में मौर्य सम्राट् द्वारा तीर्थयात्रा के पश्चात् भूमि कर को घटाने का वर्णन है। अन्त में यह कहना सर्वथा उचित होगा कि भारत के प्राचीन अभिलेख इतिहास की निधि हैं जिनके अनुशीलन से भारत के गौरव तथा सांस्कृतिक उत्थान का परिज्ञान होता है।

अभिलेखों को कई श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। अधिकतर लेख राजाज्ञा में खोदे जाते थे तथा उनका एक ध्येय होता था। शासन सम्बन्धी लेखों में राजनीति की चर्चा मिलती है। दान देने के उपलक्ष में उत्कीर्ण लेख दान सम्बन्धी बातों पर प्रकाश डालते हैं। प्रतिमा पर खुदे लेख राजा की धार्मिक भावना का परिज्ञान कराते हैं। राजा के विजय यात्रा का वर्णन राज्य विस्तार की सीमा बतलाता है। कई लेखों में शासक के दिग्विजय का विवरण उल्लिखित है। यदि लेखों का अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि प्रशस्तिकार अपने संरक्षक या आश्रयदाता की प्रशंसा में कुछ अतिशयोक्ति के साथ लेखों की रचना कराता था। इसलिए लेखों का अध्ययन करते समय वैज्ञानिक रूप से विचार करना आवश्यक है।

लेखों का वर्गीकरण—अभिलेखों को निम्न श्रेणियों में विभक्त करते हैं।

(१) धार्मिक लेख—इन अभिलेखों में बहुधा धार्मिक चर्चा की गई है। प्रसंगवश अन्य बातों का उल्लेख मिल जाता है। उनका उद्देश्य धार्मिक कार्य का प्रचार था। जैसे अशोक के धर्म लेख।

(२) प्रशंसात्मक अभिलेख—शासक की प्रशंसा ही उसका उद्देश्य होता है। घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है कि उसमें शासक के जीवन पर प्रकाश पड़े। यशोधर्मन का मंदसोर लेख, समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ-लेख, मौखरि नरेश ईशान वर्मा का हरहा तथा पुलकेशिन का अयहोल की प्रशस्तियाँ इसके उदाहरण हैं।

(३) स्मारक-लेख—अशोक का लुम्बिनी लेख। शासक ने किसी घटना के स्मारक में अभिलेख खुदवाया हो।

(४) आज्ञा-पत्र—दामोदरपुर (उत्तरी बंगाल) तथा नालंदा के ताम्रपत्र।

(५) दान-पत्र—बराबर का गुहा लेख।

७वीं सदी से ९वीं सदी तक के ताम्रपत्र दान-पत्र के रूप में उत्कीर्ण किए गये थे। ईसा पूर्व तीसरी सदी तक भारत में लेख अनेक उद्देश्य से उत्कीर्ण होते रहे। अशोक के लेख भारत के प्रत्येक प्रदेश में मिले हैं। मौर्य साम्राज्य के विस्तीर्ण होने पर भी

अभिलेखों का महत्व

उन लेखों में कोई भी मतभेद नहीं पाया जाता। उनका एक ही उद्देश्य था—धर्मानुशासन। अतएव अशोक के धर्म लेखों में एकरूपकता दिखलाई पड़ती है।

प्राचीन समय के सहस्त्रो लेख प्रकाश मे आए है तथा आज भी खुदाई मे नए अभिलेखो का पता लगता है। कितने प्राचीन स्थानो की खुदाई अभी आरम्भ भी न हो सकी जहाँ से अनेक सारगर्भित लेखो का परिज्ञान होता। अभिलेख सभी साधनो मे अधिक विश्वसनीय माने गये है तौभी एक ही घटना का विवरण विभिन्न लेखो मे एक सा नही पाया जाता। विद्वत् समाज उन पर विश्लेषणात्मक रूप मे विचार करता है। उनकी प्रमुख विशेषता यह है कि प्रशस्तिकार सममामयिक घटनाओ पर भी प्रकाश डालता है। लेखक कभी परम्परागत बातो का भी समावेश करता है। जूनागढ लेख (ई० स० १५०) लिखते समय मौर्यकालीन घटनाओ का विवरण देना ऐतिहासिक तथ्य को सामने रखता है।

मौर्य युग मे प्राय समस्त भारत की एक भाषा प्राकृत थी तथा लिपि ब्राह्मी। उत्तर पश्चिम भाग मे खरोष्ठी का भी प्रचार था पर भाषा प्राकृत ही थी इसलिए लेखो मे अधिक समता है। मौर्य वश के पश्चात् भारत मे साम्राज्य स्थिर न रह सका इसलिए लेख भी समान रूप मे नही मिलते। विभिन्न राज्यो की पृथक् समस्या थी। अतएव उनके लेख उसी क्षेत्र की बातो की चर्चा करते है। शुग वश के लेख, आध्रवश के लेख तथा कलिग के लेखो म विभिन्नता ह। यद्यपि सभी एक ही युग (मौर्य काल के बाद) मे लिखे गए थे परन्तु परिस्थिति के अनुसार उनमे भिन्नता आती गई। गुप्त काल मे सस्कृत राजभाषा हो गई। अतएव गुप्तो के अभिलेख तथा मुद्रालेख सस्कृत भाषा तथा गुप्तलिपि म मिलते है। उनमे उद्देश्य मे एकता दीख पडती ह सातवी सदी के बाद भारत मे छोटे छोटे राज्य उत्पन्न हो गए। प्रतिहार, पाल तथा राष्ट्रकूट वशो मे युद्ध तथा प्रतिस्पर्द्धा की भावना काम करने लगी। विचारको मे राष्ट्रीयता की कमी हो गई। इसलिए लेखो का सीमित क्षेत्र तथा प्रान्तीय भाषा मे उत्कीर्ण होना स्वाभाविक हो गया। क्रमश हमे लेखो मे पर्याप्त अन्तर दिखलाई पडता है। पूर्व मध्यकाल मे (१०००-१२०० ई० तक) लेखो की सख्या अनगिनत होने पर भी व्यापकता मे कमी आ गई। वे प्रान्तीय विचार के समर्थक हो गए अतएव उनमे अत्युक्ति का मिलना स्वाभाविक है। उतनी भिन्नता होते हुए भी उन लेखो का विचार पूर्ण अध्ययन हमे इतिहास लिखने मे सहायता करता है तथा उसके सहारे राष्ट्रीय इतिहास का निर्माण होता है। साहित्य मे उन प्रशस्तियो की गाना भले ही पुष्ट हो जाय परन्तु उसमे लेखो का महत्व कम नही हो सकता। उनका वास्तविक मूल्याकन बडा कठिन है और राजनीतिक तथा सास्कृतिक इतिहास की जानकारी निमित्त लेखो का ज्ञान परमावश्यक है।

लेखो का गम्भीर अध्ययन अनेक सास्कृतिक विषयो पर प्रकाश डालता है। किसी शासक की शक्ति तथा इतिहास मे उसका स्थान अभिलेखो से समझा जा सकता है। यदि लेख न होते तो अशोक के जीवन की झाँकी हम नही मिल पाती और ससार का महान सम्राट् वह कदापि माना नही जाता। उसके धर्मविजय तथा सहिष्णुता की प्रशसा न होती और आज का भारत अशोक स्तम्भ के सिरे का अपना राष्ट्र चिन्ह नही स्वीकार करता। कलिग राजा खारवेल तथा महाक्षत्रप रुद्रदामन का जीवन वृतात लेख के बिना अलभ्य रहता। हाथी गुम्फा तथा जूनागढ के लेख ही उनके जीवन पर क्रमश प्रकाश डालते है वरन् नाम के सिवाय सभी उनके इतिवृत से अनभिज्ञ रहते।

लेख तथा सस्कृति

भारतीय इतिहास मे ऐसे काल है जिनका विवरण मुद्रा-लेखो पर निर्भर है। भारतीय यूनानी शासकों के विषय मे तथा पश्चिमी भारत के क्षत्रप शासक को वंशावली का परिज्ञान मुद्रा-लेख के सहार होता है। क्षत्रप सिक्को पर महाक्षत्रप (शासक) के साथ सहायक व्यक्ति (क्षत्रप) का नाम ही उत्कीर्ण नहीं है बल्कि सामाजिक सम्बन्ध भी उल्लिखित है। जैसे पिता पुत्र, भ्राता भगिनी आदि।

गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का दिग्विजय प्रयाग स्तम्भ पर खुदा है। सम्भव है कालिदास ने उसी को ध्यान मे रखकर रघु के विजय यात्रा का वर्णन किया हो। उस की तुलना द्वितीय चन्द्र गुप्त के मेहरौली स्तम्भलेख के वर्णन मे भी की जा सकती है। उसका उदयगिरि तथा साची का लेख पश्चिम भारत पर विजय के जाते जागते प्रमाण है। उन लेखो के बिना गुप्त सम्राटो का जीवन अन्धकारमय रहता। वाण ने हर्ष का जीवन चरित लिखा तो भी हर्षवर्णन के मधुबन तथा बासखेड़ा के लेख इस राजा के जीवन की घटनाओ पर कम प्रकाश नही डालते। ह्वेनसाग का विवरण अयहोल के लेख से पुष्ट किया जाता है कि हर्ष वर्धन को द्वितीय पुलकेशी ने परास्त किया था। ग्वालियर का लेख सार्वभौम का अद्वितीय इतिहास वर्णित करता है। लेखो का अध्ययन यह बतलाता है कि कन्नौज के लिए धर्मपाल (पालराजा) ध्रुव (राष्ट्रकूट नरेश) तथा वत्सराज (गुर्जर प्रतिहार शासक) के मध्य युद्ध हुआ था। तीनो शासको ने क्रमश बगाल, दक्षिण तथा राजपूताना की ओर से आकर महोदय (कान्यकुब्ज) पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए युद्ध किया क्योकि कान्यकुब्ज पूर्वमध्य युग का प्रधान नगर था तथा प्राचीन पाटलिपुत्र के सदृश विख्यात था।

पुराणो मे वर्णित राजवंशों का उल्लेख प्राचीन अभिलेखो मे पाया जाता है जिससे पुराणो की प्रामाणिकता म विश्वास हो जाता है। पुराणो मे मौर्य के पश्चात् शुग लोगो के शासन का वर्णन आता है। पुष्यमित्र शुग ने मौर्य वश का अत किया था। अयोध्या की प्रशस्ति मे पुष्यमित्र को सेनापति (सेनापते पुष्य-मित्रस्य) कहा गया है। इसी प्रकार मौर्य वश के बाद दक्षिण भारत म सातवाहन वश ने शासन किया। पुराणो म इन्हें आंध्र या आंध्रभृत्य कहा गया है जो मुद्रा लेख म सात वाहनस तथा नासिक गुहा लेख म शातवाहन कुल के नाम से उल्लिखित है। इस प्रकार पुराण के वर्णन को लेखो के विवरण से पुष्ट करते हैं। भारत मे यूनानी राजाओ मे मिलिन्द का नाम साहित्य से (प्राकृत ग्रथ मिलिन्दपञ्हो) पता चलता है। उसके द्वारा प्रचलित सिक्को पर खरोष्ठी मे महरजस त्रतरस मिनद्रस—लिखा मिला है। उसी राजा का एक लेख पश्चिमोत्तर (सरहदी सूबे) प्रांत के पश्चिम बजौर रियासत म मिला है जिसमे उसका नाम—मिनेद्रस महरजस कटिअस दिवस आदि अकित है। वह लेख खरोष्ठी तथा प्राकृतभाषा मे है। इस तरह लेख के द्वारा उत्तर पश्चिम मे उसका शासन प्रमाणित होता है।

पुराण तथा लेख

उत्तर प्रदेश से कुछ ऐसे लेख तथा मुद्राएँ उपलब्ध हुई है जिसम पता चलता है कि मघ, नल, मेकल वशी राजाओ ने तीसरी-चौथी शताब्दियो मे राज्य किया था। पुराणो मे भी इन शासकों के नाम मिलते है। इनके लेख रीवा के समीप बन्दोगढ तथा प्रयाग के समीप कौशाम्बी मे मिले हैं। इस प्रकार पुराणो के कथन की पुष्टि लेखो से होती है। साहित्य (विशेषतया वैदिक साहित्य) मे जिन यज्ञो का वर्णन है उनके नाम नानाघाटलेख तथा नन्दसा

यज्ञस्तम्भ की प्रशस्ति मे उल्लिखित हैं। अतएव साहित्य की घटनाओ अथवा विवरण को विश्वसनीय बनाने मे अभिलेखो ने पर्याप्त सहायता पहुँचाई है।

भारतीय नरेशो की एक महान् विशेषता रही है कि वे किसी धर्म के कट्टर अनुयायी न थे। अभिलेखो मे ही अधिकतर इस बात का परिज्ञान होता है। उन राजाओ के जीवन की यह विशेषता होते हुए भी साहित्यकारो का ध्यान उस ओर क्यो नही गया, यह कहना कठिन है। परन्तु विभिन्न शासको के अभिलेखो के अध्ययन से यह विदित हो जाता है कि अमुक राजा सहिष्णु था। अशोक ने बारहवें प्रधान शिलालेख मे स्पष्ट रूप मे यह मे आज्ञा जारी की थी कि कोई अपने धर्म की प्रशसा तथा दूसरे धर्म की निन्दा न करे। इस कार्य से अपना धर्म और भी वृद्धि के बदले क्षीण हो जाता है—

धार्मिक सहिष्णुता

पुजेतिविय व चु पर—पषड तेन तेन अकरेन। एव करत अत प्रषड वढेति पर-प्रपंडस पि च उपकरोति। तद अनथ करमिनो अत प्रपड क्षणति पर प्रषडस च अपकरोति। यो हि कचि अत प्रषड पुजेति पर प्रषड गरहति सवे अतप्रपड भतिय व किति अत पड दिपयमि ति सो च पुन तथ करतं सा च पुन तथ करंत मो च पुन तथ करत बढतर उपहति अत प्रषंड। सो सयमो वो सधु।"

पिछले युग मे भी ऐमी बातो का उदाहरण मिलता है। दक्षिण भारत के सातवाहन नरेशो के लेखो मे एक ओर वैदिक यज्ञ का वर्णन है (नाना घाट का लेख) और गौतमीपुत्र शातकर्णी अपने को एक ब्राह्मण कहता है। वही शासक बौद्ध सघ को गुहा दान करने मे गर्व का अनुभव करता है। नासिक लेखों मे भदावनीय सघ तथा काले गुहा लेख मे महासघिक भिक्षु शाखा को दान देने का विवरण पाया जाता है। सातवाहन काल मे ही अमरावती स्तूप एव बुद्धप्रतिमा का निर्माण हुआ था। आश्चर्य तो यह है कि सातवाहन के उत्तराधिकारी कृष्णा घाटी के शासक इक्ष्वाकु नरेश वैदिक यज्ञ के कर्ता थे परन्तु उन्होंने बौद्ध धर्मावलम्बी कन्याओ से विवाह किया था। उन्हें किसी धर्म से विरोध नही था। गुप्त नरेशो की भी यही दशा थी। परम वैष्णव होकर भी शैव तथा जैन मतानुयायी पदाधिकारियो को नियुक्त किया तथा बौद्ध कला को प्रोत्साहन दिया था। मध्ययुग के शासक पाल नरेश परम सौगत (बौद्ध) होकर भी ब्राह्मण देवताओ के लिए दान दिया करते थे। धर्मपाल के खामीपुर ताम्रपत्र मे नर नारायण (विष्णु) के मन्दिर को दान देने का विवरण है। भागलपुर के ताम्रपत्र मे शिवमदिर को अग्रहार देने का वर्णन है। नारायण पाल ने सौकडो शिवमदिरो का निर्माण किया था तथा पाशुपत आचार्य का मदिर का पदाधिकारी बनाया था। इस प्रकार बौद्ध धर्मानुयायी द्वारा हिन्दू देवो के पूजा निमित्त दान का विवरण सहिष्णुता का परिचायक है।

प्राचीन भारत के अभिलेखो का अध्ययन भारतीय समाज के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालता है। शासक का ध्यान प्रजा के सुख-वैभव की ओर सदा लगा रहता था। अशोक ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अमुक कार्य करना श्रेयस्कर है। उसके निर्दिष्ट मार्ग पर चलने से प्रजा को इस लोक मे सुख मिलेगा तथा बाद मे स्वर्ग की प्राप्ति होगी—साधु यं कटविये तथा कलत हिद लोकिक्ये चकं आलवे होति पलत च। अनत पुना पशवति तेना धंमदानेन

आर्थिक सामाजिक तथा शासन-व्यवस्था

(११वा शिलालेख) मौर्य सम्राट् ने प्रजा के सुख के लिए नहरें खुदवाई थी। महाक्षत्रप रुद्र-दामन के जूनागढ लेख में नहर तथा नालियो का विवरण उपलब्ध है। कुमारगुप्त प्रथम के विलसद स्तम्भ-लेख में प्रासाद के साथ धर्मसत्र (अन्नसत्र) का वर्णन मिलता है। बंगाल के बोगरा जिला के एक लेख मे राज्य के अन्न-भण्डार से अकाल-पीडित प्रजा मे अन्न विभक्त करने का वर्णन आया है। जनता के कष्ट निवारण के लिए ही अन्न विभक्त किया गया तथा राजा द्वारा ऋण दिए गए। नालदा के एक ताम्र-पत्र मे ऐसा ही वर्णन आता है कि महाविहार मे निवास करने वाले रोगी भिक्षुओं के लिए भोजन, आसन, औषधि, वस्त्र आदि का प्रबंध किया गया था। देवपाल का नालदा ताम्रपत्र अपने ढग का अकेला दानपत्र है जिसमे राजा के उदार-हृदय की चर्चा चरितार्थ की जा सकती है। पाल शासक ने जावा के राजा बालपुत्रदेव की प्रार्थना पर पाच गाव दान मे दिया था। इस कार्य से उसके विश्वप्रेम की झलक मिलती है। प्रजा के सुख की कामना मे ही पिछले गुप्तवंश नरेश आदित्यसेन की पत्नी कोणदेवी ने तालाब का निर्माण कराया था। दक्षिण भारत के घटसाला (कृष्ण जिला) के लेख मे महानाविक शिवक का वर्णन मिलता है जिसमे प्रकट होता है कि व्यापार के लिए भारतीय जहाज लेकर समुद्र पार यात्रा करते थे। इस तरह समाज के आर्थिक जीवन पर प्रशस्तियों द्वारा प्रकाश पडता है।

प्राचीन शासन प्रणाली के सम्बन्ध मे भारतीय अभिलेखो मे पर्याप्त ढंग से चर्चा की गई है। अशोक के समय से ही पदाधिकारियो की पदवी तथा कार्य के सम्बन्ध मे उल्लेख पाया जाता है। इससे यह प्रकट होता है कि प्राचीन राजनीति ग्रथो मे वर्णित कर्मचारियो की नियुक्ति शासक द्वारा की जाती थी। कार्य प्रणाली को व्यावहारिक रूप मे दर्शाया गया है। भारतीय लेखो की चर्चा अन्यत्र मिलेगी जिसका विस्तृत विवरण यहाँ अनुपयुक्त है। इस विषय मे अधिकतर लेख एक समान चर्चा करते है। दक्षिण भारत के दो विशिष्ट लेख है जिनका स्थान प्रमुख समझा जाता है। एक लेख तंजौर के समीप नालूर मे तथा दूसरा मद्रास के समीपवर्ती उत्तर मेरूर नामक स्थान मे मिला था। इनके अध्ययन से यह ज्ञात हो जाता है कि मध्ययुग के आरभ मे ग्राम शासन किस ढग से होता था। सभा ग्राम के सारे कार्य की देखरेख करती थी। धार्मिक, आर्थिक तथा स्थानीय विषय को सभा पूर्ण रीति से सम्पन्न करती थी। उत्तर मेरूर का लेख अपने ढग का अकेला अभिलेख है जो सभा की विभिन्न उपसमितियो, सदस्यो का चुनाव तथा कार्यशैली पर प्रकाश डालता है। नालूर का लेख ९वी सदी से १३वी सदी तक प्रचलित चोल शासन का विवरण उपस्थित करता है। विशेषकर वर्णन आता है कि राज-राज प्रथम के समय मे व्यापारी द्वारा मंदिर को भूमिदान दी गई थी, उसका प्रबध-समिति की बैठक नालूर के राज-राजन सभामण्डप मे हुआ करती थी (सा इ. इ भा २ लेख न० ३२२ सन् १९१०) उसमे यह भी कहा गया है कि जो व्यक्ति ग्राम या मदिर सम्बन्धी कार्य का विरोध करेगा वह ग्राम द्रोहिन समझा जायगा और उसे समाज के अधिकार से वंचित किया जाएगा। अधिकतर लेख मंदिर की दीवार पर खुदे है। इस कारण उनमे धार्मिक चर्चा, दान आदि की प्रधानता है। इस तरह ९वी सदी के नालूर लेख मे ग्राम से सम्बन्धित विषयो की चर्चा मिलती है।

उत्तर मेरूर लेख का अध्ययन प्रजातत्र ढङ्ग की शासन पद्धति पर प्रकाश डालता है। समिति का रूप, उस समिति का चुनाव, चुनाव-टिकट तथा उम्मीदवार सम्बन्धी विषद विवेचन उन प्रशस्तियो मे किया गया है। उससे पता चलता है कि उस भूभाग के निवासी राजनैतिक

अधिकार तथा चुनाव सस्था की ओर विशेष ध्यान देते थे। न्याय तथा तार्किक विचारों का आश्रय लेकर अपना कार्यक्रम स्थिर करते थे। उत्तर मेरूर के लेखो मे पल्लव शासन (नवी सदी) से लेकर १३ वी सदी तक चोल साम्राज्य को अवनति काल तक ग्राम शासन प्रणाली का विवेचन किया गया है। विभिन्न वशो का शासन तथा राजनीतिक परिस्थितियो के परिवर्तन होने पर भी ग्राम सभा के कार्य मे कोई भेद नही आ सका। हर एक युग मे सभा ने समान कार्य किया था। दसवी सदी मे चोल राजा प्रथम के समय सभा तथा उपसमितियाँ निर्विघ्न रूप से काम करती रही। उत्तर मेरूर के अभिलेखो से स्पष्ट प्रकट होता है कि ग्राम सभा के नियमो मे विभेद न था तथा सदैव नियमित समझा जाता था। केन्द्रीय सरकार तथा सभा के कार्य का विवेचन करते समय ग्राम के नियमो को आदर मिलता था। यदि सभासद किसी सार्वजनिक कार्य के लिए ऋण लेता तो भविष्य मे चुने जाने वाले सदस्य या उपसमिति को मान्य होता था। उसके सलग्न कार्य को पूरा करना, ऋण को वापस करना तथा सूद देना आदि सभी बातें नई उपसमिति को मानना आवश्यक था। लेख मे वर्णित सभा की शक्ति का अनुमान एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। जब सभा ग्राम के मडको की मरम्मत करती या तालाब खुदवाती तो अपने कोष से जमीन खरीदकर उस कार्य को पूरा करती। पेय जल के प्रबध के लिए किसी प्रदत्त धन का आय से १५ फी सदी भाग व्यय किया जाता और तालाब उपसमिति उसकी निगरानी रखती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि नालूर तथा उत्तर मेरूर के लेखो मे अमूल्य ऐतिहासिक सामग्री भरी पडी है विशेषकर ग्राम-शासन का ऐसा सुन्दर सजीव तथा विस्तृत विवरण अन्यत्र कही नही मिलता।

अभिलेखो मे संयुक्त शासन का भी वर्णन आता है। इस प्रसग म लेखो के आधार पर नारी शासको का वर्णन अप्रासगिक न होगा। कश्मीर सिक्को मे एक मुद्रा लेख (दि क्षेम गुप्त) के आधार पर यह कहा जाता है कि रानी दिद्दा क्षेमगुप्त के साथ शासन करती थी और बाद मे स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगी। इस पिछले मुद्रा लेख मे 'दिद्दा देव्या' लिखा गया, पर काश्मीर की प्रशस्ति मे उसे 'राजन' कहा गया है (पुरुष वाचक शब्द राज्य करने के कारण प्रयुक्त है)। दक्षिण आध्र प्रदेश की काकतीय रानी रुद्रम्बा 'रुद्रदेवे महाराज' शब्दो से लेखो मे वर्णित है। राजपूताना मे प्रचलित मध्ययुग के सिक्के पर 'सोमल देवी' का मुद्रालेख उत्कीर्ण है जो राजपूत रानी के शासन का द्योतक है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की राजनीतिक बातें अभिलेखो के अध्ययन से विदित होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप

यद्यपि प्राचीन अभिलेखो मे अन्तर्राष्ट्रीय ढग की चर्चा बहुत कम मिलती है परन्तु कुछ लेख इस सम्बन्ध मे विशिष्ट सूचना देते है। अशोक के तेरहवें प्रधान शिलालेख मे कई विदेशी नरेशो के नाम उल्लिखित है, जहाँ मौर्य सम्राट् ने अपने दूत भेजे थे—

"सो च पुने लधो देवन प्रियस इह च सवेपुच अतेषु अषषु पि योजन शतेपु यत्र अतियोको नम योन रज पट च तेन अतियोकेन चतुरे ४ रजननि तुरमये नम अतिकिनि नम मक नम अलिक सुदरो नम निच चोड-पड अब तबपणिय—यान क बोयेषु सवत्र देवनं प्रियस मनुशस्ति अनुवटति। यत्र पि देवन प्रियस दुत न ब्रचति आदि।" अशोक का मन्तव्य था कि उसका दूत आसानी से विदेशो मे भ्रमण करे तथा वहाँ उन्हे कार्य करने (धर्म प्रचार) मे

सुविधा दी जाय । अशोक स्वयं भी विदेशी दूतो को मौर्य साम्राज्य मे वैसी ही सुविधा देने के पक्ष मे था । ईसा पूर्व प्रथम सदी में तक्षशिला के राजा अंतिलिकित का दूत हेलियोडोरस विदिशा में भागभद्र के राजदरबार मे आया था । इसकी सूचना बेसनगर के गरुड स्तम्भ लेख से मिलती है उसमे निम्न प्रकार का उल्लेख है—हेलिओदोरेण भागवतेन दियसपुत्रेण तख्ख सिलाकेन योन-दूतेन आगतेन—। मध्ययुग के एक ताम्रपत्र से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध पर भी विशेष प्रकाश पडता है। देवपाल देव के नालंदाताम्रपत्र मे वर्णन आया है कि जावा के राजा बालपुत्र देव ने दूत के द्वारा पालनरेश के पास प्रार्थना भेजी थी कि नालंदा मे नवनिर्मित विहार को अग्रहार दान दिया जाय । देवपाल ने उसे स्वीकार कर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की । यह वर्णन पठनीय है—

"सुवर्णद्वीपाधिप महाराज श्री बालपुत्र देवेन दूतक मुखेन वयामंत्रज्ञापिता यथा मया श्री नालंदायाम्विहार कारित —
शासनीकृत्य प्रतिपादित ।"

भारतवर्ष मे तीसरी सदी मे ही राजदूतो की नियुक्ति की चर्चा लेखो मे मिलती है। वृहत्तर भारत के (हिन्द चीन) सस्कृत लेखो मे भारतीय दूत का सुन्दर वर्णन मिलता है।

भारतीय अभिलेखो के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि विदेशी आक्रमणकारियो ने भारत मे आकर अपने शासन सम्बन्धी बातो को विभिन्न रूप मे उत्कीर्ण कराया । कतिपय इस ओर सकेत करते है कि अमुक शासक ने भारतीय धर्म ग्रहण कर

भारतीय करण की चर्चा भारतीय नाम भी अगीकार किया । उन लोगो ने भारतीय सस्कृति को अपनाया था जिसका उल्लेख यूनानी तथा शक लेखो मे पाया जाता है । वेसनगर गरुड स्तम्भ पर जो लेख उत्कीर्ण है उसमे यूनानी राजदूत हेलियोडोरस को भागवत कहा गया है यानी उसने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था । उसी समय के यानी ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी मे बजौर से एक शरीर-अवशेष सचित सदूक मिला है जिस पर यूनानी राजा मिनेन्डर (मिलिन्द) के समय का लेख खुदा है । इस (लेख) के आधार पर अनुमान किया गया है कि मिनेन्डर बौद्ध था । इसकी पुष्टि एक प्राकृत ग्रथ "मिलिन्द-पन्हो" से की जाती है । उसमे नागसेन और मिलिन्द के मध्य बौद्ध दर्शन पर प्रश्नोत्तर सग्रहीत है ।

ईसवी सन् के आरम्भ मे उत्तर पश्चिम भारत मे कुषाण नरेशो ने शासन किया । कुषाणो के प्रथम राजा वीम कदफिस ने शैवमत को स्वीकार किया जिसका प्रमाण उसके मुद्रा-लेख मे मिलता है । सोने की मुद्रा पर एक ओर राजा का नाम यूनानी अक्षरो मे तथा दूसरी ओर खरोष्ठी मे एक लम्बा लेख खुदा है—'महरजस रजति रजस सर्व लोग इश्वरस महीश्वरम विमि कफिशस' । महीश्वर (महेश का पुजारी) की पदवी उसके धार्मिक विश्वास को व्यक्त करती है । उसके उत्तराधिकारी कनिष्क के विषय मे सर्व विदित है कि वह बौद्ध था और उसने बुद्ध धर्म की चौथी सगीति बुलाई थी। साहित्य को छोड कर लेखो के अध्ययन मे भी यही प्रमाणित होता है कि कनिष्क बौद्ध था । सारनाथ के बौद्ध प्रतिमा के छत्रयष्टि पर कनिष्क के तीसरे वर्ष में एक लेख खोदा गया था जिसमे उस कुषाण नरेश की राज्यपाल खरपल्लाना द्वारा मूर्ति स्थापना का वर्णन मिलता है—महारजस्य कणिष्कस्य स० ३ हे० ३ दि० २० + २—बोधि-

सत्वो छत्रयष्टि प्रतिष्ठापितो वाराणसिये । कनिष्क के २१ वें वर्ष में पेशावर के समीप बुद्ध के अवशेष की स्थापना का विवरण लेख में आया है—भगवतस शक्यमुनिस शरिर प्रदिठवेदि (कुर्रम अवशेष-सदूक वाला लेख) । कनिष्क के उत्तराधिकारी नरेश ने भारतीय ढंग का अपना नाम वासुदेव रक्खा । हुविष्क के पश्चात् इस प्रकार का नामकरण भारतीय संस्कृति का प्रभाव ही कहा जा सकता है । मथुरा के अनेक प्रतिमा लेखों में वासुदेव शब्द का प्रयोग उस राजा के लिए किया गया है । ईसवी सन् की दूसरी सदी में शक नरेशों ने भी शनैः-शनैः भारतीयता को अंगीकार किया । नहपान के जामाता ऋषभदत्त ने तीर्थस्थानों पर दान देकर भारतीय संस्कृति में निष्ठा को प्रकट किया था । नासिक के गुहा लेख में प्रभास तीर्थ में ब्राह्मण कन्याओं के विवाह निमित्त धन दान दिया । रामतीर्थ में हजारों रुपया ब्राह्मणों में वितरण किया तथा राज्य के अनेक नदियों पर निःशुल्क यात्रा (घाट उतरने) करने की आज्ञा दी । दशपुर, नासिक आदि स्थानों में आराम के लिए गृह (धर्मशाला) तथा जल और सदावर्त का प्रबन्ध किया । इस तरह धर्मशास्त्रों में वर्णित रीति से ऋषभदत्त ने यज्ञ किया । नासिक गुहा लेख का वर्णन पद्म पुराण, अग्नि पुराण, विष्णु पुराण तथा महाभारत में प्रतिपादित धार्मिक चर्चा के सदृश है । ब्राह्मण कन्या का दान पद्म पुराण (ब्रह्म खण्ड अध्याय २४) में निम्न प्रकार से मिलता है—

सालङ्कारां द्विजश्रेष्ठ कन्यां यच्छति यो नरः ।
स गच्छेद्ब्रह्मसदनं पुनर्जन्म न विद्यते ।।

नासिक लेख में "पुण्य तीर्थे ब्राह्मणेभ्य. अष्टभार्या प्रदेन" का उल्लेख है । उसी लेख में वर्णित "नावा पुण्य-तर-करेण" पुराणों के शुल्क तर या तर-शुल्क (अशुल्कतर) के समान है । महाभारत (३, ८५, ४२) में रामतीर्थ के स्थान का महत्व बतलाया गया है जिसकी तुलना "गोवर्धने सुवर्णं मुखे शोर्पारगे च रामतीर्थे चरकपर्षेभ्य —" की पंक्ति से की जा सकती है । ऋषभदत्त ने उल्लेख किया है कि पुष्कर जाकर उसने अभिषेक किया तथा दान दिया था (ततोस्मि गतो पोक्षरानि । तत्र च मया अभिसेको कृतो भीति च गोमहस्रानि दत्तानि ग्रामो च) विष्णु संहिता (८५ । २) में भी इस तीर्थ का महत्व वर्णित है—

पुष्करे स्नान मात्रत सर्व पापेभ्य पूतो भवति ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विदेशी शक नरेश भारतीय संस्कृति को अपनाने लगे थे । अन्त में पश्चिम भारत के कारदमक वंशी नरेशों के सम्बन्ध में दो शब्द कहना उचित प्रतीत होता है । रुद्रदामन के सम्बन्ध में जूनागढ के शिलालेख में ऐसी बातें कही गई हैं जो उसके भारतीयता की अभिरुचि का द्योतक है । यह आश्चर्य ही है कि शक नरेशों के मुद्रा-लेख प्राकृत में मिलते हैं किन्तु रुद्रदामन की प्रशस्ति संस्कृत में है । इस शक राजा ने अपने पुत्र का नाम रुद्रसिंह रक्खा जो शक नामकरण न होकर भारतीय था । इनके लेखों में भारतीय मास-गणना का आरम्भ दिखलाई पड़ता है । रुद्रसिंह के गुण्डा लेख में "वैशाख शुद्धे पंचम तिथौ रोहिणी नक्षत्र मुहूर्त" का उल्लेख है तो जूनागढ के दूसरे लेख में "चैत्र शुक्लस्य दिवसे पचमे" या रुद्रसेन की गढ़रा प्रशस्ति में "भाद्रपद बहुल ५" आदि मास और तिथि का वर्णन भारतीय करण के प्रबल प्रमाण हैं ।

भारतीय इतिहास मे भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण तथा शरीर के अवशेष सम्बन्धी विवाद की कथा सर्व विदित है। कुशीनगर (कसिया) मे शव के दाह मस्कार करने के पश्चात् राख या शेष हड्डियो को आठ भागो मे विभक्त कर दिया गया।

बुद्ध के अवशेष की वार्ता वैशाली के लिच्छवी, कपिलवस्तु के शाक्य, अलकप्प के बुलि, रामग्राम के कोलिय, वैथद्वीप के ब्राह्मण, कुसीनारा के मल्ल, दोण के ब्राह्मण तथा पिप्पलीवन के मारिय नरेशो को बराबर बराबर भाग मिला (महापरिनिब्वान-सुत अध्याय १) साची के दक्षिण तथा पश्चिम तोरणो के पट्टियो पर भी अवशेष सम्बन्धी युद्ध चित्र खुदा है। अन्त मे शान्ति हो जाने पर आठ भाग किया गया। उसके एक भाग को एक पात्र मे रख कर हाथी के सिरे पर दिखलाया गया है। आठों शासको द्वारा बुद्ध के अवशेष पर स्तूप निर्मित किया गया। ह्वेनसांग के कथानुसार अशोक ने उस अवशेष से कुछ भाग निकाल कर चौरासी हजार स्तूप बनवाये। अशोक निर्मित स्तूपो के भग्नावशेष मिले हैं परन्तु किसी स्थान पर उत्कीर्ण लेख प्राप्त नही हुआ जिसमे बुद्ध के शरीर अवशेष की चर्चा की गई हो। हाल ही मे वैशाली की खुदाई मे एक स्तूप का पता लगा है जिसमे भगवान के अवशेष हो सकते है। पुरातत्व की खुदाई तथा स्मारक भवनो से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि बुद्ध के अवशेष वहाँ होगे। बुद्ध के अवशेष (राख) एक कीमती प्रस्तर, सोने या चादी के सदूक मे रख दिया जाता था। मूल्यवान भस्म पात्र को एक प्रस्तर के सदूक मे रख कर उसके किसी भाग पर लेख उत्कीर्ण किया जाता था। ऐसी ही सदूके कई स्थानो से प्राप्त हुई है। कभी ढकन के नीचे अथवा सदूक के ऊपरी भाग पर लेख मिले है। लेखो से अवशेष की स्थापना की वार्ता (इसी सदूक के अभि-लेख मे) उल्लिखित है। सम्भवत वह सदूक स्तूप की खुदाई से निकला तभी उस मे किसी धातु पत्र पर लेख सुरक्षित मिला है। अन्य आधार (ताम्रपत्र) पर भी उत्कीर्ण लेख प्रकाश मे आए है। उन सब मे **शरीर** या **धातुएँ** शब्द से भगवान के अवशेष को व्यक्त किया गया है।

भारतीय अभिलेख इस दिशा मे अमूल्य सहायता पहुँचाते है। उनके वर्णन से पता चलता है कि अमुक राजा ने भगवान् के शरीर अवशेष की स्थापना की। यह प्रमाण पूर्वक कहना कठिन है कि उन राजाओ को वास्तव मे अवशेष कहाँ से प्राप्त हुए थे।

सर्वप्रथम लेख बस्ती जिले (उत्तर प्रदेश) के पिपरावा नामक स्थान से मिला था वह लेख ईसा पूर्व चौथी सदी का है—

इद शरीर-निधान बुद्धस्य भगवत. शाक्याना।

पश्चिमोत्तर प्रात के समीप बजोर रियासत के शिनकोट स्थान से अवशेष सदूक (Casket) के ऊपरी तथा भीतरी भाग पर खुदा लेख प्राप्त हुआ है[१] जो यूनानी राजा मिलिन्द के समय का है (ईसा पूर्व दूसरी) उस सदूक के ढकन के अन्दर निम्न लेख खुदा है—प्रण समेद शरीर भगवतो शकमुनिस। पात्र के भीतर भी इसी प्रकार का लेख है—

भगवतु सकिमुणिस सम सबुधस शरीर।

इसे लेख मे बुद्ध के अवशेष को प्राण सहित कहा गया है। इसका उल्लेख तात्पर्य यह है कि इसकी पूजा करने पर आश्चर्य जनक फल मिलता है। बौद्ध लोगो का यह विश्वास था कि अवशेष की पूजा मे चमत्कार प्रकट होता है। ईसा पूर्व पहली सदी मे स्वात नदी की घाटी मे स्थित

किसी गाँव से अवशेष का सदूक पात्र (casket) मिला जिसके निचले भाग पर लेख खुदा है—

इमे शरीर शक मुणिस भगवतो बहू जण हितिए।

वहा के एक यूनानी शासक ने भगवान् का अवशेष जनसाधारण के हित के लिए स्थापित किया। पहली सदी के क्षत्रप शासक रजुवल का मथुरा सिंह-स्तम्भ पर इसी प्रकार का लेख उत्कीर्ण है। वहाँ स्तूप मे अवशेष स्थापित करने की चर्चा है।

थे निसिमे (स्तूप) शरिर प्रतिठविवो भक्रवत्रो शक मुनिस बुधस। तक्षशिला के शासक पटिक के ताम्रपत्र मे भी अवशेष स्थापना का वर्णन है—

पतिको अप्रतिठवित भगवत शक मुनिस शरिरं प्रतिथवेति।

उन शासको को अवशेष कहाँ से मिला इस सम्बन्ध मे तर्क से काम नही लिया जा सकता, केवल विश्वास करना है। उसी स्थान के समीप कलवान से प्राप्त ताम्रपत्र मे भी निम्न प्रकार का वर्णन मिलता है—

इड शिलए शरिर प्रइस्तवेति गह थुवमि।

भगवान् के अवशेष को राजा अयस ने भ्राता, भगिनि, दुहिता के साथ गृह स्तूप मे स्थापित किया। पहली सदी मे यह अवशेष कहाँ से आया, यह अनिर्वचनीय है। तक्षशिला का एक लेख एक चाँदी के पत्र पर खुदा मिला है जो सम्भवत. अवशेष पात्र से निकाला गया होगा। उसमे वर्णन है कि अयस नामक राजा ने धर्म राजिका स्तूप मे भगवान का अवशेष स्थापित किया था। तक्षशिला मे धर्म राजिका स्तूप को अशोक ने बनवाया था। स्यात् उसकी मरम्मत पहली सदी मे पह्लव राजा अय ने की और इसीलिए निम्न प्रकार का उल्लेख किया—

"इश दिवसे प्रदिस्तवित भगवतो धातुओ उरस कोण इतह्निण पुत्रण वहलिएण रणो अचए णागरे वास्तवेण। तेण इने प्रदिस्तवित भगवतो धातुओ धमर इए तक्षशिलए।"

अन्य धातु पात्रो की तरह पेशावर के समीप कुर्रम मे ताम्बे का अवशेष-पात्र मिला है जिसके ऊपरी भाग पर अवशेष स्थापना की बात उल्लिखित है—

थूवमि (स्तूप मे) भगवतस शक्य मुनिस शरिर प्रदिठवेदि (प्रतिष्ठापित किया)।

इस स्तूप का निर्माण अवशेष पर किया गया परन्तु यह ज्ञात नही हो सका कि बुद्ध के शरीर के अवशेष कहा से मिले थे। अफगानिस्तान के खवट नामक स्थान पर स्तूप का भग्नावशेष है जिसमे कासा का पात्र मिला था। इस काँस्य पात्र के नीचे लेख खुदा है।

"वग्रमारेग्रविहरम्नि थुस्तिमि भगवद शक्य मुणे शरिर परिठवेति"

वग्रमरेग नामक विहार के समीप स्तूप मे भगवान बुद्ध का अवशेष स्थापित किया गया। यह घटना हुविष्क के शासन काल की है। यानी ईसवी सन् की दूसरी सदी तक लेखो मे अवशेष स्थापना की चर्चा मिलती है। ईसा पूर्व चौथी सदी से लेकर दूसरी सदी तक के लेखो मे बुद्ध के अवशेष स्थापित करने की वार्ता लेखो के सहारे ज्ञात होती है। उनकी ऐतिहासिकता पर विवेचन नही किया जा सकता। यहाँ इस बात पर बल के साथ स्पष्ट उल्लेख करना कि लेखो के अतिरिक्त बुद्ध के शरीर-अवशेष सम्बन्धी विवरण जानना सम्भव नही था।

भारतीय संस्कृति का बृहत्तर भारत मे विस्तार की चर्चा लेखो द्वारा ही मिलती है। यो तो अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर भारत तथा पूर्वी द्वीप समूह जावा, बोर्नियो का परिज्ञान पाल तथा चोल लेखो से होता है परन्तु चौथी सदी के चम्पा के शिलालेख (नं० २ ३) मे पुरुषमेध का वर्णन मिलता है। महाराज भद्रवर्मन कहता है कि मै तुम्हे अग्नि को समर्पित करता हूँ। निम्न पंक्ति का उल्लेख इसे प्रमाणित करता है—नमो देवाय भद्रेश्वर स्वामिपाद प्रसादात अग्न-येत्वा जुष्ट करिष्यामि धर्म महाराज श्री भद्रेश्वर वर्मणो यावच्चन्द्रादित्यौ तावत पुत्र पौत्र मोक्ष्यति। पृथिवी प्रसादात कार्य सिद्धास्तु। सिवोदासो वद्धयते (चो दिन लेख, मजूबदार चम्पा लेखा न २, ३)।

भारतीय लेख तथा वृहत्तर भारत

इन्ही पक्तियो मे शिव नामक दास को यूप से बाँधकर पुरुषमेध का अनुमान लगाया जाता है। इसमे सदेह नही है कि पुरुषमेध का अनुकरण चम्पा मे भारत से किया गया जहाँ वैदिक (शत० ब्रा० १३, ६, २, १ गो० ब्रा० ५, ८, आपस्तम्ब (२०, २४, १) तथा कात्यायन २, १, ३) पौराणिक (वायु पुराण १०४; ८४) और बौद्ध साहित्य (सूत्रनिपात्त १, २) म इसका विवरण पाया जाता है। भारत के ब्राह्मणो ने उस उपनिवेश मे भारतीय सस्कृति का प्रचार किया था, यह लेखो के आधार पर सत्य सिद्ध हुआ है। मध्य एशिया के लेखो से भी इसी प्रकार सास्कृतिक प्रसार के विवरण उपलब्ध है जो भारतीय सस्कृति के प्रसार का परिज्ञान कराते है (खरोष्ठी लेख भा० १, २, ३—सरकार सेलेक्ट इन्स० पृ० २३४)। दक्षिण पूर्व एशिया—चम्पा, कम्बोडिया, जावा, बोर्निया, वालि आदि-के लेखो मे भारतीय ढंग के दान का विवरण पाया जाता है। इस प्रकार अन्य साधनो के अतिरिक्त वृहत्तर भारत के लेख भारतीयता की छाप की कथा सुनाते है।

भारतीय अभिलेखो की सहायता से प्राचीन तिथि और काल गणना का ज्ञान हमे होता है। ईसा पूर्व शताब्दी ई० पू० ५७ मे विक्रम काल गणना का आरम्भ हुआ था। जिसकी जानकारी लेखो से ही की जाती है। ईसवी सन् के आरम्भ से शक सम्वत (स ७८) का प्रारम्भ हुआ जिसका सम्बन्ध कुषाण नरेशो के अभिलेखो से स्थापित किया जाता है। कनिष्क से लेकर वासुदेव तक के लेख एक क्रम से ३ से ८०) तिथि युक्त है। नहपान का जूनार लेख ४६ मे और रुद्रदामन का जूनागढ की प्रशस्ति ७२ वर्ष मे उत्कीर्ण की गई थी। इन सब का सम्बन्ध उसी शक सम्बत् से निश्चित किया गया है। गुप्त वश के अभिलेखो को अध्ययन से यही पता लगता है कि उनके लेख गुप्त सम्बत् (ई० स० ३१८) से सम्बन्धित है। द्वितीय चन्द्र गुप्त के मथुरा लेख की तिथि ८२ और कुमार गुप्त प्रथम को करमदण्डी लेख मे ११७ तिथि मिलती है। मनुकुमार प्रतिमा लेख मे १२९ खुदा है तो उसके पुत्र स्कन्द गुप्त के जूनागढ प्रशस्ति मे १३६, १३७, १३८ तिथियो का विवरण पाया जाता है। इस पर विचार करने से यह नही कहा जा सकता कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ८२ वर्ष, प्रथम कुमार गुप्त १२९ वर्ष तथा स्कन्द गुप्त ने १३८ वर्ष शासन किया। किसी न किसी काल गणना से उनका सम्बन्ध स्थापित करना ही पडेगा। प्रथम कुमारगुप्त के मंदसोर लेख ४९३ तथा ५२९ तथा उसी स्थान के यशोधर्मन के लेख मे ५८९ अंक उल्लिखित है। इन पर विचार कर दोनो तिथि का सम्बन्ध विक्रम सम्वत् से स्थिर किया गया है (आगे विस्तृत विवेचन देखिए)। इसी तरह मौखरि नरेश ईशान बर्मा

अभिलेखो से तिथि का ज्ञान

के हरहा लेख को तिथि ६११ (श्लोक) मिलती है जिसका सम्बन्ध विक्रम सम्वत् से था। उत्तर गुप्त युग के अभिलेखो मे पहाडपुर का ताम्रपत्र १५९ तथा एरण का लेख १९१ तिथि युक्त है। ये गुप्त काल (ई स ३१८) से सम्बन्धित है किन्तु अपसद तथा मॅगराँव लेख हर्ष सम्वत् (ई स ६०६) से सम्बन्धित किए गए है। इस प्रकार अभिलेखो के अध्ययन द्वारा शासको की शासन-तिथि निश्चित हो जाती है।

लेखो मे अत्युक्ति

भारतीय अभिलेखो मे कभी एक छोटी सी घटना का गम्भीर रूप मे चित्रण मिलता है। इसका कारण यह था कि प्रशस्तिकार अपने सरक्षक शासक की मुक्त कठ से प्रशसा कर उसके चरित्र को अतिरजित करना था। इस प्रकार की अत्युक्ति पूर्ण प्रशस्ति मध्य युग मे अधिक पाई जाती है। गुप्त लेख मे एक स्थान पर ऐसी घटना का उल्लेख है जो इतिहास की कसौटी पर खरी नही उतरती। मेहरौली के लेख मे एक पक्ति मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विजय वर्णित है—

तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः।

द्वितीय चन्द्रगुप्त को दक्षिण का विजयी कहा गया है। परन्तु अन्य प्रमाणों से यह सत्य ज्ञान नही होता। इसे आलकारिक विवरण मानना पडेगा। छठी सदी के मध्य मे वासुल नामक प्रशस्ति लेखक ने मालवा के शासक यशोधर्मन की विजय यात्रा का वर्णन अतिरजित शब्दो मे किया है। मदसोर के लेख मे विवरण मिलता है कि यशोधर्मन ने लौहित्य (आसाम) से पश्चिमी समुद्र (रत्नाकर) तथा हिमालय से महेन्द्र पर्वत तक समस्त भू भाग पर अधिकार कर लिया था। तत्कालीन इतिहास का अनुशीलन यह बतलाता है कि पश्चिम भाग मे चालुक्य वश का राज्य था। मगध मे पिछले गुप्त नरेश शासन कर रहे थे। ऐसी दशा मे मार्ग मे स्थित शासको के पराजय का विवरण प्रशस्तिकार ने उपस्थित नहीं किया है। श्लोक पठनीय हैं—

आ लौहित्योपकण्ठात्तलवन गहनोपत्यकादामहेन्द्रा—
दा गङ्गाश्लिष्ट-सानोस्तुहिन शिखरिण पश्चिमादा पयोधे ।
सामन्तर्यस्य बाहु-द्रविण हृत मदै पादयोरानमद्भि—
श्चूडारत्नाशु-राजि-व्यतिकर-शबल भूमिभागा क्रियन्ते ।।

उसी प्रकार दसवी सदी के प्रतिहार राजा का सामत चन्देल नरेश यशोवर्मन के खजुराहो लेख मे अत्युक्ति पूर्ण उल्लेख है। उस लेख मे वह गौड (बगाल) कोशल, मिथिला, मालवा चेदि तथा कुरु देश के विजेता के रूप मे वर्णित है (ए० इ० भा० १ पृ० १२६) वास्तव मे उन प्रदेशो मे चंदेलो का कोई सम्बन्ध न था।

इतना ही नही यशोधर्मन के दूसरे अभिलेख मे राजस्थानीय (राज्यपाल) अभयदत्त के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि वह विन्ध्या से अरब सागर तक शासन करता था। यह वास्तविक मे सच्ची घटना नही कही जा सकती। (मदसोर शिलालेख मा० स० ५८९, का० इ० इ० ३ पृ० १५२ श्लोक १९) मध्ययुग के अभिलेखो मे छोटे शासक के लिए भी 'परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' की पदवी उल्लिखित की गई है। सम्भवत लेख लिखने वाले को इस पदवी का वास्तविक अर्थ अज्ञात था अथवा अपने सरक्षक राजा के महान् विजेता या शक्तिशाली नरेश दिखलाने का प्रयत्न था। समुद्रगुप्त ऐसे विजेता को केवल महाराजाधिराज

कहा गया है जबकि पिछले गुप्त-नरेश (मगध के शासक) जीवित गुप्त को देववर्नाक लेख मे महान् उपाधि—"परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर" से विभूषित किया गया है (श्री विष्णुगुप्त देव तस्य पुत्र तत्पादानुध्यातो परम भट्टारिकाया राज्ञा महादेव्या श्री इज्जादेव्या-मुत्पन्न परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री जीवितगुप्त)। इस तरह के अनेक दृष्टात हैं जो सिद्ध करते है कि प्रशस्तिकार ने आलकारिक भाषा मे नायक के चरित का अतिरञ्जन किया है।

यह सत्य है कि प्रशस्तियो के सहारे अनेक शासको के चरित का परिज्ञान होता है परन्तु अभिलेखो के अध्ययन मे सतर्कता का व्यवहार उपयोगी है। जिस ऐतिहासिक तथ्य को जानने के लिए विद्वान् विभिन्न मत उपस्थित करते है तथा अन्य सिद्धान्त का खण्डन करते है, उनमे किसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। अशोक के धर्म सम्बन्धी प्रश्न को लेकर साहित्यिक विवाद खड़ा हुआ। वह किस मत का मानने वाला था, यही एक विवादास्पद प्रश्न है। सम्पूर्ण धर्म लेखो का वैज्ञानिक विवेचन अशोक को बौद्ध मत का अनुयायी सिद्ध करता है। मौर्य साम्राज्य के उपरान्त भागवतधर्म का प्रचार हुआ। जिस वैदिक यज्ञ अथवा समाज की निन्दा अशोक ने की, उसकी पुन स्थापना हो गई। इस परिणाम पर पहुँचने के लिए सातवाहन लेख, शुग प्रशस्ति, बेसनगर गरुड-स्तम्भ-लेख तथा घोसुण्डी शिलालेख (नागरी, चित्तौरगढ (राजपुताना) के लेखो का अनुशीलन आवश्यक हो जाता है। शासको की शक्ति का अनुमान भी उस वश के लेखो से किया जा सकता है। लेखो के प्राप्ति स्थान से अमुक राजा के राज्य-विस्तार का पता लगता है परन्तु विभिन्न उल्लेखो का तुलनात्मक अध्ययन जरूरी है। नालदा तथा गया (विहार प्रदेश) मे समुद्रगुप्त के दो ताम्रपत्र मिले है जो समुद्रगुप्त के पाँचवें तथा नवें वर्ष के कहे गए है। इन नालदा ताम्रपत्र मे अश्वमेध का वर्णन है जो प्रयाग की प्रशस्ति मे उल्लिखित नही है। इसलिए यह मानना पडेगा कि शासन के ५ वें वर्ष मे समुद्रगुप्त ने अश्वमेध किया होगा जो असम्भव है। समुद्रगुप्त ने सर्वप्रथम आर्यावर्त के शासको को पराजित कर दक्षिण का दिग्विजय किया। अत उसके बाद ही अश्वमेध करना समुचित प्रतीत होता है। इस परिस्थिति मे ५ वें वर्ष मे अश्वमेध की कल्पना नही की जा सकती। अतएव वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि ये दोनो ताम्रपत्र कल्पित है। किसी ने व्यक्तिगत लाभ के लिए जाली दानपत्र तैयार कर घोषित कर दिया होगा।

वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन

एक साधारण लेख से वैज्ञानिक रीति को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। समुद्रगुप्त प्रयाग की प्रशस्ति तथा अन्य सभी गुप्त लेखो मे 'लिच्छवी-दौहित्र' कहा गया है। वह लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी का पुत्र था, इसलिए "लिच्छवी-दौहित्रस्य महादेव्या कुमारदेव्यामुत्पन्न" उल्लिखित है। इसकी पुष्टि प्रथम चन्द्रगुप्त के मुद्रा लेख से की जाती है। राजा द्वारा प्रचलित स्वर्ण सिक्के के अधोभाग पर "कुमार देवी श्री तथा चन्द्रगुप्त" का नाम खुदा है तथा पृष्ठ भाग पर 'लिच्छवय. उत्कीर्ण है। इससे तथ्य का पता लग जाता है कि चन्द्रगुप्त का विवाह लिच्छवी वंशजा कुमारदेवी से हुआ था। समुद्रगुप्त को इसी कारण लिच्छवी-दौहित्र कहा गया है। इस प्रकार के अन्य दृष्टात भी उपस्थित किए जा सकते है। गुप्त वश का एक मुहर पर

कुमारगुप्त प्रथम के पश्चात् पुरुगुप्त का नाम मिलता है और दूसरे अभिलेखो मे स्कन्दगुप्त प्रथम कुमार गुप्त का पुत्र तथा उत्तराधिकारी कहा गया है। इस प्रश्न को लेकर ऐतिहासिक विवाद खडा हो गया जिसका समाधान अभी तक न हो सका कि प्रथम कुमार गुप्त का वास्तविक उत्तराधिकारी कौन था ? ऐसे अल्प उदाहरण ही पर्याप्त है जो वैज्ञानिक रीति तथा तुलनात्मक अध्ययन के महत्व पर प्रकाश डालते है।

लेखो की अपूर्णता तथा दोष

प्राचीन भारतीय लेखो मे शासको की विशेष चर्चा की गई है। कभी उसमे ऐतिहासिक तथ्य का अभाव रहता है। उदाहरणार्थ नागपुर प्रशस्ति मे परमार राजा लक्षणवर्मन का विजय गौड, अंग, कलिंग (पूर्व मे) चोल, पाड्य (दक्षिण मे) तुरुष्क (मुसलमान) तथा वक्षु (वल्ख) की सीमा पर्यन्त वर्णित है (ए० इ० भा० २ पृष्ठ १८६)। यह सभी सत्य से परे है। उनके धार्मिक कृत्य पर भी विशेष ध्यान दिया गया है परन्तु प्रजा के प्रति उनके कर्त्तव्य का विवरण नही के बराबर है। राजनीतिक वार्त्ताओ को किसी प्रकार सन्तोष जनक नही समझा जा सकता। अभिलेखो के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि ऐतिहासिक घटना आकस्मिक रूप मे लिखी गई है। कभी लेखक ने आलकारिक रूप मे उसको रचना की। इतिहास के सत्यता पर ध्यान न रहा। राज्य मे नियमो का कौन निर्माता था या किस रूप मे प्रजा शासक को उपनियम तैयार करने मे सहायता करती थी, आदि बातें प्रकाश मे नही आई है। अभिलेखो मे दान का वर्णन सर्वदा स्मृतियो पर अवलम्बित है, पर आश्चर्य यह है कि दान ग्राही तथा दान कर्त्ता के संक्षिप्त चर्चा के अतिरिक्त वर्णो का तुलनात्मक अध्ययन नही मिलता। धर्म शास्त्रकारो ने वर्णो के कार्यो, अधिकार तथा स्थिति का सुन्दर वर्णन दिया है किन्तु प्रशस्तिकार इस विषय मे मौन है। ब्राह्मण किसी अपराध मे मृत्युदण्ड से मुक्त समझा जाता रहा, लेखो मे इस सिद्धान्त का उल्लेख नही है। वैश्य तथा शूद्र के श्रम, पारिश्रमिक, वस्तुओ के मूल्य, उत्पादन सीमा, उनकी आवश्यकता, सापेक्षिक उपभोग आदि विषयो का ज्ञान अभिलेखो मे उपलब्ध नही है। शासक आर्थिक उन्नति मे किस रूप से सहायता करता था या किस मार्ग से प्रोत्साहन देता था यह भी अज्ञात है। साहित्यक आधार पर जितना परिज्ञान है उसे अभिलेखो से प्रमाणित नही कर पाते है। कुछ अशो म भारतीय प्रशस्तियाँ अपूर्ण है तथा इन दोषो का कारण भी अज्ञात है।

अध्याय ३

अभिलेख लिखने के आधार

अभिलेख का तात्पर्य है कि किसी वस्तु पर कोई विषय उत्कीर्ण किया जाय। प्राचीन भारतीय इतिहास लिखने मे प्रशस्तियो ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। प्राचीन समय में राजाश्रय पाकर कविगण को प्रशसा के शब्द लिखते समय अथवा किसी घटना का उल्लेख करने के निमित्त लिखने के आधार वस्तु (जिन पर लेख लिखा जाय) को ढूँढना पडा। प्राचीनतम काल मे कागज या ताडपत्र या भोजपत्र का भी प्रयोग लोगो को ज्ञात नही था। लेखन कला का जन्म भारत मे हो गया था। विद्या कण्ठगता थी, इसलिए वेदो के लिखने की भी आवश्यकता न थी। ईसा पूर्व सदियो में सर्व प्रथम प्रस्तर का आधार बनाकर लिखना प्रारम्भ किया गया। तत्पश्च त् धातुओ का प्रयोग होने लगा। अन्य वस्तुएँ भी काम मे लाई जाती थी जिन पर सामयिक वृतान्त अंकित मिलता है। उन्ही का विवरण अगली पक्तियो मे उपस्थित किया जायगा। यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि प्रस्तर को स्थायी समझ कर लेख उत्कीर्ण किए गये। साधारणत जितने प्रकार की आधार वस्तुएँ काम मे लाई जाती थी, उन पर खुदे वृतान्त को 'लेख' कहते है। राजाज्ञा द्वारा प्रस्तर या धातु पर उत्कीर्ण लेख 'प्रशस्ति' शब्द से प्रसिद्ध है।

शिलाखण्ड

ईसा पूर्व सदियो मे मौर्य सम्राट् अशोक ने अपने धर्म-लेख को समस्त जनता की जानकारी के लिए स्थान-स्थान पर खुदवाया था। उसके चौदह लेख राज्यसीमा पर स्थित शिलाओ पर खुदे है। जिनको प्रधान शिला लेख के नाम से पुकारते है। उसके लेख उत्तर पश्चिम मनसेरा (पेशावर जिला) तथा काठियावाड के गिरनार से लेकर पूरब मे धौली (उडीसा) तक और उत्तर मे कालसी (देहरादून, उत्तर प्रदेश) से दक्षिण येरगुडी (करनूल, मद्रास) मे पाये गये है। उत्तर मौर्य काल मे पुष्यमित्र शुंग का एक लेख अयोध्या से प्राप्त हुआ है जिसमे उसके जीवन की मुख्य घटनाओं का उल्लेख मिलता है। वह लेख दरवाजे के ऊपरी चौखट पर खोदा गया था। ईसवी सन् की पहली तथा दूसरी सदियो मे शक व कुषाण नरेशों ने भी प्रशस्तियाँ खुदवाई थी। हुविष्क तथा सोडास का मथुरा शिला लेख तथा कनिष्क का मानिक्याला उल्लेखनीय है। सबसे प्रधान लेख महाक्षत्रप रुद्रदामन का है जो १५० ई० मे गिरनार में खोदा गया था। वह लेख अशोक के गिरनार वाले लेख के शिलाखण्ड पर ही उत्कीर्ण है। यही लेख संस्कृत साहित्य का सबसे पहला गद्य खण्ड है जो साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डालता है। रुद्रदामन के व्यक्तिगत तथा राजनीतिक जीवन का सारा वृतान्त उपस्थित करता है।

गुप्त वश के शासन आरम्भ होने पर अनेक प्रशस्तियाँ लिखी जाने लगी। सर्व प्रथम समुद्रगुप्त ने प्रशस्ति खुदवाने का श्री गणेश किया। उसके पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त ने भी शिला खण्ड पर लेख खुदवाया जिसमे उस वंश का इतिहास भरा पडा है। उसके उत्तराधिकारियो मे कुमारगुप्त प्रथम का मंदसोर का लेख तथा स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ का लेख प्रसिद्ध हैं। छठी

सदी के राजा यशोवर्मन की प्रशस्ति इसी श्रेणी मे रक्खी जाती है। मौखरि राजा ईशानवर्मा की प्रशस्ति (हरहा का लेख) अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। इसमें मौखरि इतिहास के अतिरिक्त मालव सम्वत् का उल्लेख पाया जाता है। पिछले गुप्त नरेशो के लेखो मे अपसद (गया, बिहार) का लेख मुख्य माना जाता है।

पूर्व मध्य काल (७००–१२०० ई०) मे भारत मे कोई एक-छत्र सम्राट् न था। छोटे-छोटे राजा सीमित क्षेत्र मे शासन करते रहे। ऐसी दशा मे राजाज्ञा को सोमा या प्रान्तो के शिला खण्डों पर उत्कीर्ण कराने का प्रश्न ही न रहा। सम्भवत उन्हे उचित स्थान न मिल सका। उस समय सामाजिक परिवर्तन के कारण राजा तथा प्रजा के सम्मुख लेख खुदवाने का नवीन उद्देश आया। राजाज्ञा के प्रसार के लिए लेख नही खुदवाये गये किन्तु दान तथा धार्मिक वृतान्त लिखने की परिपाटी चल निकली। यही कारण है कि शिला खण्डो पर प्रशस्ति न खुदवा कर अन्य आधार स्तम्भ अथवा ताम्रपत्र का प्रयोग होने लगा। दूसरे शब्दो मे यह कहना उचित होगा कि पूर्व मध्य युग मे प्रशस्ति अंकित करने के लिए प्रस्तर खण्ड का प्रयोग प्राय समाप्त हो गया।

शिलाखण्ड के पश्चात् प्रस्तर का दूसरा रूप स्तम्भ है, जिस पर लेख लिखवाने की प्रथा ईसा पूर्व सदियो से भारत मे चल पड़ी। स्तम्भो के वर्तमान स्थान से बहुधा लोगो मे भ्रम हो जाता है कि स्तम्भ जहाँ पर खडे है वही पर आरम्भ से स्थित है। परन्तु सभी के लिए यह कथन उचित नही है। मुसलमान बादशाहो ने उन्हे स्थाननान्तरित भी किया है। जैसे प्रयाग के किले मे खड़ा स्तम्भ (जिस पर अशोक तथा समुद्रगुप्त के लेख खुदे है।) कौशाम्बी से, तथा दिल्ली मे फिरोजशाह कोटला पर स्थित अशोक स्तम्भ अम्बाला या मेरठ मे लाया गया था। किन्तु आज भी ऐसे स्तम्भ है जो मूल स्थान पर खडे है। जैसे सारनाथ तथा लौरिया (चम्पारन, बिहार) के स्तम्भ। अशोक के चौदह प्रधान शिलालेखो के बाद सात स्तम्भ लेखो की गणना होती है जिनमे रूपनाथ, लौरिया, दिल्ली स्तम्भो का नाम लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त साची, सारनाथ तथा कौशाम्बी के स्तम्भ लेख द्वितीय श्रेणी मे रक्खे जाते है। स्तम्भो पर लेख खुदवाने का कारण यह था कि जहा शिला खण्ड उपलब्ध नही थे उस स्थान पर राजाज्ञा की घोषणा स्तम्भ लेख द्वारा की जाती थी। रूपनाथ (मध्य प्रदेश) सारनाथ (उत्तर प्रदेश) तथा लौरिया (चम्पारन, बिहार) आदि स्थानो मे किसी प्रकार का प्रस्तर खण्ड अथवा पर्वत श्रेणी न होने के कारण अशोक ने स्तम्भो पर धर्म लेख खुदवाये थे। ये सभी लेख उसके राज्य की सीमा मे स्थित है। सम्भवत उन स्थानो की निजी विशेषता थी। ईसा पूर्व दूसरी सदी मे यूनानी राजदूत हेलियोदारस ने भी अपनी धार्मिक भावना को व्यक्त करने के लिये भिलसा (प्राचीन विदिशा) मे स्तम्भ पर लेख खुदवाया था। वह आज भी मूलस्थान को सुशोभित कर रहा है और खम्बा बाबा के नाम से प्रसिद्ध है।

स्तम्भ

गुप्त राजाओ ने भी प्रशस्ति खुदवा कर विजय का वर्णन किया है। सर्व प्रथम कवि हरिषेण ने समुद्रगुप्त के दिग्विजय का विवरण प्रयागस्तम्भ पर उत्कीर्ण किया जिसमे सम्राट् के सम्पूर्ण विजय का वर्णन है। यह लेख अशोक के कौशाम्बी स्तम्भ पर निचले भाग मे खुदा है। उसके वशज कुमारगुप्त प्रथम तथा स्कन्दगुप्त ने स्तम्भ पर लेख खुदवा कर गुप्त वंश की कीर्ति

को प्रसारित किया था। स्कन्दगुप्त का भितरी का स्तम्भ वाला लेख शासक के विजय व हूणो के पराजय का विस्तृत विवरण उपस्थित करता है। उसके पश्चात् बुधगुप्त तथा भानु गुप्त के स्तम्भ लेख महत्वपूर्ण माने जाते है। प्रस्तर के अतिरिक्त द्वितीय चन्द्रगुप्त ने लोहे का स्तम्भ तैयार कराया तथा लेख अंकित कराया था। वह संसार का एक अद्वितीय धातु स्तम्भ है जो दिल्ली के समीप मेहरौली मे कई सौ वर्षों मे खडा है। छठी सदी का यशोधर्मन का मंदसोर स्तम्भ लेख शासक के यश तथा विजय की कथा सुनाता है। इस तरह भारत के प्राचीन शासक गण अपनी कीर्ति लता के विस्तार के लिए स्तम्भो पर लेख उत्कीर्ण कराते थे। इस भावना का बडा ही सुन्दर वर्णन समुद्रगुप्त के स्तम्भ लेख मे पाया जाता है—"कीर्तिमिति स्त्रिदशपति भवन गमनावाम ललितसुख विचरणामाक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रित स्तम्भ।" भाव यह है कि सारी पृथ्वी के विजय मे जो कीर्ति उपलब्ध हुई उसे स्वर्ग तक पहुँचाने के लिए ऊँचा स्तम्भ पृथ्वी के बाहु के समान है। कुछ स्तम्भ लेख 'यूप' के नाम से विख्यात है जिन पर यज्ञ सम्बन्धी अभिलेख उत्कीर्ण है। मौखरि वश का बडवा लेख (तीसरी सदी) इस श्रेणी (यूप) मे रक्खा जा सकता है (ए० इ० भा० २३, पृ० ५२)।

मध्यकाल मे भी यत्र तत्र स्तम्भ खडा करने का वर्णन मिलता है। परन्तु उन पर लेख खुदवाने का विशेष महत्व नही समझा जाता था।

भारतवर्ष मे ईसवी सन् के आरम्भ से महायान शाखा मे भक्ति का समावेश हुआ जिसके कारण प्रतिमाओ का निर्माण होने लगा। यो तो साहित्यिक आधार पर मूर्तियों के निर्माण के प्राचीनतम प्रमाण मिलते है परन्तु उतने पुराने उदाहरण नही मिले है। भागवतधर्म ने जब बौद्धमत को प्रभावित किया, तब पूजा के निमित्त बुद्ध की मूर्ति तैयार की गई। प्रस्तर के इस तीसरे रूप (प्रतिमा) पर भी लेख अकित किये जाने लगे। जो व्यक्ति उसका दान करता था या जिस शासक के समय मे मूर्ति बनी, उस विषय का विवरण प्रतिमा-लेख मे पाया जाता है। अधिकतर प्रतिमाओ के आधार-शिला पर लेख उत्कीर्ण किये जाते थे। कभी उनके पृष्ठ भाग पर भी लेख मिलते है। इस प्रसग मे मौर्यकाल–पूर्व पटना तथा पारखम यक्ष प्रतिमाओ का नाम लिया जा सकता है। मध्ययुग की कुछ सूर्य मूर्ति के पृष्ठ भाग पर उत्कीर्ण लेख पाये गय है। पूर्व मध्ययुग (७००-१२०० ई०) की बौद्ध प्रतिमाओ के सिरे भाग पर विशिष्ट लेख (निम्न पद) उत्कीर्ण किया जाता था—

प्रतिमाये

यो धर्म्मा हेतु प्रभवा, हेतु तेषा तथागतोह्यवदत्।
अवदत् च यो निरोघो एवं वादी महाश्रमण ॥

ईसवी सन् की पहली सदी मे बोधगया मे विशाल बुद्ध मूर्ति तथा मथुरा के अनेक प्रतिमाओ के आधार शिला पर लेख खुदे मिले है। मथुरा से कुषाण कालीन बौद्ध तथा जैन प्रतिमायें पर्याप्त संख्या मे उपलब्ध हुई हैं जिनमे अधिकतर कुषाणवशी लेखक है और शक सम्वत् मे तिथि भी उल्लिखित है। सारनाथ मे एक विशाल बोधिसत्व प्रतिमा मिली है जिसके छत्र-यष्टि पर कनिष्क के महाक्षत्रप (राज्यपाल) खरपल्लाना द्वारा लेख खुदवाया गया था। हुविष्क के समय मे भी बौद्ध तथा जैन प्रतिमाएँ अधिकतर लेख के आधार थी। उनसे कुषाण इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। मथुरा के क्षत्रप शासको ने भी मूर्तियो पर लेख खुदवाये थे।

यह क्रम बढता ही गया। गुप्त शासको ने भी कुछ मूर्तियो पर लेख खुदवाया था जिनमे मन-कुमार की बौद्ध प्रतिमा प्रसिद्ध है। करमदण्डा के शिवलिङ्ग पर भी गुप्त लेख मिला है।

पिछले गुप्त नरेशो में कुमारगुप्त द्वितीय बुद्धगुप्त तथा आदित्यसेन ने क्रमश बुद्ध प्रतिमा तथा सूर्य मूर्ति के आधार प्रस्तर पर लेख अंकित कराया था। मध्य प्रदेश के एरण नामक स्थान पर वाराह भगवान् को विशालकाय मूर्ति है जिस पर हूण राजा तोरमाण के समय की प्रशस्ति है। इस तरह जैन प्रतिमाओ और आयागपट्ट पर लेख पाये जाते है। कसिया के महावीर-निर्वाण मूर्ति पर भी लेख खुदा है। यद्यपि कुछ लेखो का कोई ऐतिहासिक महत्व नही है किन्तु इससे पता चलता है कि मूर्तियो के आधार-शिला पर कुछ लेख उत्कीर्ण किये जाते थे। धातु प्रतिमाओं पर उस अनुपात मे कम लेख अकित है (धातु मूर्तियाँ लेख रहित नही होती थी)। उन प्रतिमाओ का भारतीय कला के इतिहास मे विशेष स्थान है और उन पर उत्कीर्ण लेखो से इतिहास की जानकारी मे भी सहायता मिलती है। ऐसी धातु प्रतिमाएँ विहार प्रदेश के नालदा तथा कुर्कीहर नामक स्थान से प्रकाश मे आई है। उन पर शासक तथा दानकर्त्ता के नाम प्राय खुदे है।

प्राचीन समय मे बुद्ध के शरीर अवशेष पर अशोक ने अनगिनत स्तूप बनवाया था जिसका उल्लेख चीनी यात्रियो ने किया है। किसी भस्म पात्र मे फूल (अवशेष) रख दिये जाते और उस पर अण्डाकार या अर्द्ध-वृत्ताकार ढाचा तैयार किया जाता था जो स्तूप के नाम से प्रसिद्ध है। उस स्तूप के बाहर चारो तरफ घेरा (वेष्टनी) मिलती है जिसमे द्वार (तोरण) भी बने है। उसी वेष्टनी के स्तम्भ या सूची पर लेख उत्कीर्ण मिलते है। तोरण भी लेखो के आधार थे। भरहुत, अमरावती तथा साची की वेष्टनी इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

स्तूप

स्तूप के भी भीतर शरीर को राख (अवशेष) सोने या कीमती पत्थर के पात्र मे रक्खा जाता था। तत्पश्चात् उस अस्थि-पात्र को प्रस्तर के बाक्स म रखते थे। कभी उस पत्थर या पात्र के ढकन पर भी लेख मिलता है। ऐसे पात्रो पर उपलब्ध लेखो मे पीपरावा [बस्ती, उत्तर प्रदेश] का पात्र-लेख सबसे पुराना है जिस पर अशोक से पूर्व लिपि मे लेख अकित है। साची के द्वितीय स्तूप से एक पात्र मिला था जिसमे अवशेष रक्खा था। पात्र पर 'स' अक्षर अकित था जिससे विद्वान् यह अनुमान लगाते है कि यह मारीपुत्र के नाम का सक्षिप्तकरण है। अन्य पात्र लेख से बुद्ध के प्रधान शिष्य मोग्गलायन का भी नाम मिला है। इससे प्रकट होता है कि वह स्तूप इन दोनो शिष्यो के स्मारक स्वरूप (अवशेष के साथ) तैयार किया गया था। उत्तर पश्चिमी प्रांत के वजौर रियासत मे मिलिन्द्र के समय का एक भस्म पात्र प्राप्त हुआ है जिसके अन्दर और ढक्कन के दोना तरफ खरोष्ठी मे लेख खुदा है। (ए० इ० २४ पृ० ७) उसमे 'प्रण समेद शरीर भगवतो शक मुनिस', लिखा है। अफगानिस्तान के बीमरान स्तूप से भी एक लेख उपलब्ध हुआ है जो कनिष्क के शासन-काल का है। कनिष्क के कुर्रम पात्र पर भी "शक मुनिस शरीर" लेख खुदा है। मथुरा से भी अवशेष पात्र मिले है जिन पर लेख उत्कीर्ण है। इस तरह स्तूप से सम्बन्धित पात्र भी हमे बहुत सी बातो का ज्ञान कराते है।

अवशेष-पात्र

स्तूप की वैष्टनी तथा तोरण पर भी लेख खुदे मिले है । साची के दक्षिण तोरण पर सातवाहन राजा शातकर्णी का नाम है। इस स्थान की वेष्टनी पर विभिन्न व्यक्तियों तथा व्यापारियो के नाम खुदे है जिन्होंने उसे दान मे दिया था तथा प्रत्येक मे 'दानम्' शब्द इसे प्रमाणित करता है । साची की वेष्टनी पर द्वितीय चन्द्रगुप्त का गु० म० ९३ का लेख खुदा हैं । साची के अतिरिक्त भरहुत की वेष्टनी पर कई जातक का नाम तथा उसका चित्रण मिला है । उस प्रसंग मे यह कहा जा सकता है कि वेष्टनी पर बौद्ध कथानकों तथा ऐतिहासिक घटनाओं का जितना प्रदर्शन किया गया है, उन सबका ज्ञान भरहुत वेष्टनी पर अकित लेखो से हो जाता है । सातो मानुषी बुद्ध के नाम वही से मिलता है । उदाहरण के लिए "भगवतो विपसिनो बोधि" अथवा "भगवतो शकमुनिनो बोधो" प्रस्तर पर प्रदर्शन करते समय उस जातक के उल्लेख से लोगो की विशिष्ट जानकारी हो जाती है । बुद्ध का जन्म, ज्ञान, महाकपि जातक, यक्ष, यक्षिणी के नाम आदि उसी स्थान के अंकित पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है । पूरब के तोरण पर खुदा यह "सुगाना राज्ये रञो गागीपुतस कारित तोरणम्" लेख घोषित करता है कि भरहुत की वेष्टनी शुग काल (इसवी पूर्व द्वितीय सदी) मे तैयार की गई थी । वही से श्रावस्ती के जेतवन और अनाथ पीडक सेठ का नाम ज्ञात हो सका है । 'अमरावती तथा मथुरा मे इस तरह के अनेक स्तूपो के भग्नावशेष निकले है । मथुरा के सिह सिरे के लेख से पता चलता है कि कुषाण के पश्चात् उत्तर पश्चिम भारत की दूसरी शक्ति ने मथुरा पर अस्थायी रूप से अधिकार कर लिया था । उसके प्रातपति रंजुवल और सोडास शासन कर रहे थे । इस प्रकार पात्र तथा वेष्टनी या तोरण पर उल्लिखित लेखो के सविस्तृत अध्ययन से बहुत स ऐतिहासिक तथ्यो का पता लगता है ।

मद्रास प्रान्त के गटूर जिले मे नागार्जुनी पर्वत के समीप स्तूप के अवशेष मिले है जिन पर वीरपुरुषदत्त (तीसरी सदी) के कई लेख खुदे है जिनमे वीरपुरुषदत्त द्वारा अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, वाजपेय तथा अश्वमेध करने का विवरण पाया जाता है । वह लेख 'नमो भगवते बुधस' से प्रारम्भ होता है जो शासक की सहिष्णुता को प्रमाणित करता है ।

भारत मे बौद्धमत से सम्बन्धित दो प्रकार की गुहाए मिलती है । निवास के निमित्त विहार तथा पूजा के लिए चैत्य । बौद्ध धर्म के अभ्युदय के साथ गृहस्थ आदि भिक्षु बनकर, घर छोडकर विहार मे निवास करने लगे। उस कार्य के लिये ऐसा स्थान

गुफा

चुना गया जो नगर के समीप हो । भिक्षु प्रतिदिन भिक्षा माग कर संध्या समय विहार मे लौट जाते। इसलिये भिक्षुओ के रहने के लिये नगर से ५ मे ८ मील की दूरी पर पर्वतो मे गुफायें तैयार होने लगी । गुहा (या गुफा) की संख्या सह्याद्रि (पश्चिमी घाट) मे अधिक है । पश्चिमी भारत मे प्राय बौद्ध गुफायें हैं । नासिक, एलोरा, अजंता, भाजा, कार्ले, कनहेरी आदि ऐसे स्थान है जहाँ विहार मे भिक्षु निवास करते थे । सबसे प्राचीन मौर्य कालीन बराबर पर्वत (गया, बिहार) मे भी कुछ गुफायें हैं । उडीसा मे (यानी पूर्वी भारत) मे जैन गुफाये है । जैसे मचपुरी, रानी गुम्फा आदि । भारत के पर्वतो मे गुहा खोदने की प्रथा प्राचीन है । ऐतिहासिक काल क्रमानुसार प्राचीनतम बराबर की गुफाएँ है जो मौर्य काल मे तैयार की गई थी । उनमे अशोक के १२वें

तथा १९वें वर्ष का लेख खुदा है। उस सुन्दर गुहा को आजीविक साधुओ को दान मे दिया गया था—लाजिना पियदसिना दुवाडस वसाभिसितेना इयं निग्रोह कुभा दिना आजीविकेहि।

गुहा खोदने का क्रम चलता रहा। उडीसा मे भुवनेश्वर के समीप हाथीगुम्फा मे राजा खारवेल की एक लम्बी प्रशस्ति मिली है जिसमे कलिंग राजा के जीवनघटनाओ का पता चलता है। ईसवी सन् को दूसरी सदी मे नासिक, जूनार, कार्ले (महाराष्ट्र) की गुफाओ मे क्षत्रप नहपान के जामाता उषवदत्त के कई महत्त्वपूर्ण लेख उत्कीर्ण मिले है। उसमे खोदने वाले व्यक्ति का नाम नही मिलता किन्तु लेख मे दान का वर्णन है। उत्कीर्ण तिथि के आधार पर नहपान का काल स्थिर किया जाता है। नासिक गुहा लेखो से शक-सातवाहन सघर्ष के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशाका परिज्ञान हो जाता है। शक लोग किस तरह भारतीय सस्कृति को अपना रहे थे, यह उसके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। उन गुफाओ के लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

गुप्तकाल मे गुहा-निर्माण की कला उन्नत अवथा को प्राप्त कर चुकी थी। द्वितीय चन्द्रगुप्त की उदयगिरि गुहा अत्यन्त प्रसिद्ध है। वहाँ उसका बयासिवें (८२) वर्ष का लेख भी खुदा है। उस काल मे अजंता मे कई गुहाये तैयार की गई। प्रधानत उनमे सुन्दर सामाजिक चित्र तथा बुद्ध के जन्म की कहानियाँ भी (जातक) चित्रित है। छठी सदी के वाकाटक राजा हरिषेण का लेख भी वही खुदा है। ग्वालियर के समीप बाघ की गुफायें मुख्यत. चित्रकला से सम्बन्धित हैं। नासिक तथा कनहेरी के लेख ऐतिहासिक है। एलोरा की प्रसिद्ध गुफा (कैलाशनाथ मन्दिर) को राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने तयार किया था जो भारत की अद्वितीय गुहा हे। गुहा लेख तो ऐतिहासिक घटनाओ को बतलाते ही है किन्तु धार्मिक जगत् की भी अनेक बातें ज्ञात हो जाती है। पश्चिमी सहयाद्रि की बौद्ध गुफाओ तथा पूरब मे उदयगिरि (उडीसा) की जैन गुफाओं के अनुकरण ब्राह्मण धर्मावलम्बियो ने भी किया था। गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त की उदयगिरि (भिलसा के समीप) की वैष्णव गुफा, एलौरा तथा ऐलेफेन्टा की शैव गुफाएँ और दक्षिण मे महाबलिपुरम् की गुफाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि गुफा मे ऐतिहासिक लेख खोदने के अतिरिक्त बौद्ध कलाकारो ने चित्र के कारण उनकी सुन्दरता बढा दी। अजंता तथा बाघ की ससार प्रसिद्ध गुफाएँ उत्कृष्ट चित्रो के कारण अद्वितीय है।

प्राचीन समय मे अभिलेखो के निमित्त ताम्रपत्रो को प्रयोग अधिकतर मिलता है परन्तु मंत्र भी उस पर खोदे जाते थे। किन्तु ताम्रपत्रो को प्रसिद्धि दानपत्र के सम्बन्ध मे ही हुई।

ताम्रपट्टिका

उन पत्रो को चतुर्भुजाकार तैयार किया जाता था। मध्यम आकार के ताम्रपत्रो पर दान का उल्लेख किया जाता था। एक ताम्रपत्र पर राजकीय मुद्रा ऊपरी भाग पर अंकित मिलता है। आर्थिक संख्या मे ताम्रपत्रो ताम्बे की अंगूठी से संयुक्त कर जोड के .अश पर राजकीय मुद्रा (Seal) को स्थान दिया जाता था। इससे ताम्रपत्र की प्रमाणिकता सिद्ध होती थी। ताम्रपत्रों के आकार पर ही लेखो का विस्तार विदित होता है। ताम्रपट्टिका पर लेख अंकित करने का विशेष कारण था। पूर्व मध्य युग (७००-१२०० ई०) मे सामाजिक परिस्थिति मे परिवर्तन होने लगा। बौद्ध धर्म मे वज्रयान के कारण नाना भाँति के प्रस्तर तथा धातु प्रतिमायें पूजानिमित्त तैयार

होने लगी। वहाँ धर्म प्रचार के लिए लेख खुदवाना महत्वपूर्ण कार्य न रहा पर मूर्तियो की आधार-शिला पर दानकर्त्ता का नाम आवश्यक समझा गया। हिन्दूमत मे पाचरात्र के अनुसार चर्या और क्रिया प्रधान धार्मिक कार्य थे। इस कारण इन दोनो कार्यो के लिये दान का विशेष महत्व था। मदिर निर्माण या पूजा व्यय के लिए धन की आवश्यकता थी। दान देकर ताम्र-पट्टिका पर भूमि का पूर्ण विवरण लिखकर उसे दानग्राही को दे दिया जाता था जिसे वह सुरक्षित रखता था। उस स्थिति मे दान लिखने का कार्य ताम्रपट्टिका के अतिरिक्त शिला पर सम्भव नही था। दान लेने वाला सरलता मे ताम्रपत्र को वर्षो तक सग्रह करता था जिसके आधार पर उनके वशज उस भूमि या धन का उपभोग करते रहते थे। प्राचीन भारत के अनेक ताम्र-पत्र खोज से प्राप्त हुए है जिनके अध्ययन से ज्ञान-राशि मिली है।

यद्यपि प्रस्तर के बाद धातु की वस्तुओं का प्रयोग लेख-अकन के लिए हुआ था किन्तु यह परिपाटी अत्यन्त प्राचीन नही है। ईसवी सन् के बाद ही ताम्रपट्टिका का प्रयोग होने लगा। सहगौरा का ताम्रपत्र (मौर्यकालीन) इसका अपवाद है। शक-कुषाण युग से पट्टिका का प्रयोग तक्षशिला के लेख (२१ ई०) कलवान (७७ ई०) तथा स्यूविहार लेख के निमित्त (८९ ई०) पाये जाते है। धनैदह ताम्रपत्र (राजशाही, बगाल)—पूर्वी भारत का सर्वप्रथम ताम्रपत्र—का नामोल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

ताम्रपत्रो के अध्ययन से कई विषयो पर प्रकाश पडता है। इसमे राजनीति के साथ कई प्रकार के सामाजिक अथवा धार्मिक उल्लेख पाये जाते है। गुप्त शासन काल से इसका अधिक प्रचार हुआ। अधिकतर ताम्रपत्रो पर दान का विवरण लिखकर दानग्राही को दे दिया जाता था। कभी-कभी राजा विजय के स्मारक मे दान पत्र लिखकर ब्राह्मण को समर्पित कर देता था। प्राचीन ताम्रपत्रो का राजनीतिक उद्देश्य न था। प्रसग वश उसमें शासन सम्बन्धी बातो का समावेश मिलता है। ताम्रपत्रो मे वर्णित दान का उल्लेख यह बतलाता है कि अमुक स्थान दान कर्ता के राज्य की सीमा मे स्थित था।

प्रथम कुमार गुप्त के दामोदरपुर (उत्तरी बगाल) ताम्रपत्र मे भूमि बिक्रय का वृतान्त पाया जाता है। स्कन्दगुप्त का इन्दौर ताम्रपत्र गुप्त-काल का महत्वपूर्ण 'शासन' समझा जाता है। गुप्तो के सामत हस्तिन् तथा सक्षोभ के अनेक ताम्रपत्र मध्यभारत के खोह नामक स्थान मे पाये गये है। उनमे सब प्रकार के कर (टैक्स) से मुक्त भूमि के दान का वर्णन है। छठी सदी मे गुप्त राजाओ ने उत्तरी बगाल मे कई ताम्रपत्र लिखवाये जिनका बहुत ही ऐतिहासिक महत्व है। दामोदरपुर के ताम्रपत्र ग्राम तथा विषय (जिला) सम्बन्धी शासन पर प्रकाश डालते है। ग्राम-सभा को भूमि-विक्रय का अधिकार था। सभासदो का चुनाव प्रत्येक पाँचवे वर्ष होता था। इन विषयो का जानकारी दामोदरपुर व फरीदपुर के ताम्रपत्रो के अध्ययन से होती है। हर्ष वर्धन के समय मे बाँसखेरा तथा मधुवन नामक ताम्रपत्र उत्कीर्ण किये गये थे। इनसे उस राजा के जीवन घटनाओ का परिज्ञान होता है। विशेष बात यह है कि उन ताम्रपत्रो मे तिथियो का उल्लेख भी मिलता है। गुप्त काल मे गुप्त सम्वत् (ई० स० ३१) तथा हर्ष के ताम्रपत्रो मे हर्ष सम्वत् (ई० स० ६०६) का प्रयोग है। सक्षोभ के ताम्रपत्र मे 'गुप्त नृप राज्यभुक्तौ' का उल्लेख यह घोषित करता है कि बुदेलखंड के शासक गुप्तो के अधीन थे। बगाल के राजा देवपाल का नालंदा ताम्रपत्र-लेख अन्तरराष्ट्रीय प्रशस्ति है। उसमे सुमात्रा के राजा

बालपुत्रदेव द्वारा पालवंशी देवपाल से नालंदा मे निर्मित विहार के लिए भूमिदान की प्रार्थना की गई है। मध्ययुग मे धार्मिक भावना की प्रगति के कारण छोटे-छोटे राजा भी ताम्रपट्टिकाओं पर दान का उल्लेख करते थे। राजपूत नरेश तथा दक्षिण के राजाओ ने अधिकाधिक लेख ताम्रपत्रो पर ही अंकित कराया है। मध्ययुग मे जितने शासन (ताम्रपत्र) मिले है उनमे गहड-वाल नरेश गोविन्दचन्द्र के ताम्रपत्रो की अधिक सख्या है। इन पट्टियो पर खुदे लेख दान का विषय, दान कर्त्ता, दान ग्राही, भूमिकर आदि विषयो पर प्रकाश डालते है। इसी प्रकार अन्य ताम्रपत्रो से अनेक राजाओ के विषय मे जानकारी होती है। यदि सम्पूर्ण दानपत्र को विषय वार विभाजन किया जाय तो निम्नप्रकार की चर्चा सामने आती है।

(१) शासक का वश परिचय जिसके समय मे ताम्रपत्र लिखा गया। उस राजा का संक्षिप्त वृत्तान्त, विजय आदि।

(२) दान लेने वाले व्यक्ति का वश, वैदिक शाखा तथा गोत्र का वर्णन।

(३) अग्रहार भूमि, उसका माप, सीमा तथा क्षेत्रफल का उल्लेख।

(४) विभिन्न कर की सूची। दान भूमि से राजकीय-कर-सग्रह करने का भार दान-ग्राही को स्वत मिल जाता था।

(५) राज कर्मचारियो की लम्बी सूची मिलती है जिन्हे अग्रहार भूमि के स्वामित्व की सूचना देना आवश्यक था। उसके अनुसार राजा के समस्त अधिकार दानग्राही को सौंप दिया जाता था।

(६) दान के अवसर (विजय, तीर्थ, ग्रहण तथा धार्मिक कार्य)।

(७) मंगलमय तथा शाप युक्त पद। दान कर्त्ता के उत्तराधिकारी शाप के भय से उस दान-भूमि को वापस नही ले, इसलिए अनेक धर्म-श्लोक अन्त मे उद्धृत किए जाते थे।

ताम्रपत्र लिखने के कई प्रकार थे। ताम्रपत्र पर लेख स्याही से लिखकर कीलनुमा यत्र से खोदे जाते थे। कभी उस पट्ट पर खुरच कर अक्षर अंकित किये जाते थे किन्तु उत्तर पश्चिम भारत से प्राप्त कलवान लेख बिन्दु समूह से उत्कीर्ण किया गया है।

भारतीय इतिहास मे सिक्को पर लेख खुदवान का कार्य यूनानी शासको ने उत्तर पश्चिम भारत मे प्रारम्भ किया। भारतीय यूनानी इतिहास की जानकारी तथा शासको का नाम मुद्रा-लेख से ज्ञात होता है। उन पर खुदे लेख से दियोदोतस, यूथिडिमस दिमित, अपलदतस या मिलिन्द आदि के नाम जाने जाते है। जो इतिहास साहित्य के आधार पर ज्ञात है उसकी पुष्टि मुद्रालेख से होती है। प्राचीन भारत के सघ यानी प्रजातत्र का नाम—मालवा, आर्जुनायन या यौधेय आदि सिक्को पर खुदे मिले है।

सिक्के

मालवाना जय । यौधेयगणस्य जय आदि।

इससे लेखन-शैली तथा तिथियो का ज्ञान होता है। यूनानी सिक्को के अनुकरण पर पह्लव तथा कुषाण राजाओ ने मुद्रा पर लेख अंकित कराया। कुषाण नरेशो ने पूर्व प्रचलित रजत सिक्को को हटाकर स्वर्ण मुद्रा तैयार किया जिसमे पता चलता है कि उनका कार्य अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर आधारित था। साइबेरिया से सोना मँगाकर कुषाण राजाओ ने उत्तर प्रदेश से मध्य एशिया पर्यन्त भू भाग पर स्वर्ण मुद्रा का प्रचलन किया। वीम कदफिस सर्व प्रथम नरेश था

जिसकी स्वर्ण मुद्राएं, आर्थिक तथा धार्मिक इतिहास पर प्रकाश डालती हैं। मुद्रा-लेख 'महरजस रजदिरजस सर्वलोग ईश्वरस महीश्वरस विम कदफिसस त्रतरस" यह बतलाता है कि वह शिव का पुजारी था। यह धार्मिक परम्परा कुषाण राजा वासुदेव तक चलती रही। पह्लव लेख बतलाते है कि राजा मोग ने ईरानी पदवी धारण किया था (रजतिरजस महतस)। उस पदवी को कुषाण राजाओ ने भी प्रचलित किया। कुषाण राजा कनिष्क के मुद्रा-लेख से पता चलता है कि इस बौद्ध शासक ने हिन्दू देवता (शिव), यूनानी देवता (अरदोक्षा आदि), ईरानी देवता (सूर्य आदि) तथा बौद्ध देवता (बुद्ध) को धार्मिक सहिष्णुता के कारण हो सिक्को पर स्थान दिया था।

इसी के अधीन गवर्नर पश्चिमी भारत मे महाक्षत्रप पदवी धारण कर राज्य करते रहे। पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपो का पूरा इतिहास मुद्रा-लेखो से ज्ञात होता है। उनके मुद्रा-लेखो मे पिता, पुत्र या शासक तथा उसके उत्तराधिकारी के नाम अंकित हैं—

(१) राज्ञो महाक्षत्रपस रुद्रदाम्न पुत्रस
राज्ञो महाक्षत्रप रुद्रसिहस

(२) राज्ञो महाक्षहरतस स्वामि सत्यसह पुत्रस
राज्ञो महाक्षत्रप सामि रुद्रसहस

पश्चिमी भारत तथा उत्तरी भारत मे चौथी सदी मे गुप्त सम्राटो ने शासन आरम्भ किया और पिछले कुषाण नरेशो के सिक्को के अनुकरण पर अपनी मुद्रानीति स्थिर की। उनकी स्वर्ण मुद्राओ पर राजा के नाम के साथ संस्कृत भाषा मे छंदोबद्ध लेख खुदा है। सम्भवत उस समय संस्कृत राजभाषा थी। संस्कृत साहित्य के उपजाति व पृथ्वी आदि छदो मे लेख अंकित है। राजाओ के लिए चाँदी के सिक्को पर 'परम भागवत' की उपाधि मिलती है जिस से उन के वैष्णव मतानुयायी होने का प्रमाण मिलता है। कई घटनाएँ उन मुद्रा-लेखो से ज्ञात होती है—उदाहरणार्थ

(१) समरशतविततविजयो जितरिपुरजितो दिव जयति।
(२) राजाधिराज पृथिवीमवित्वा दिव जयन्याहृतवाजिमेध।
(३) अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितै दिव जयति।

मुद्रा-लेखो से समुद्रगुप्त के सैकडो युद्धो मे विजयी होने तथा अश्वमेध यज्ञ करने का परिज्ञान होता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मुद्रा पर 'परमभागवती महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त' अंकित है। प्रथम कुमार गुप्त के मुद्रा लेख—(अ) कुमारगुप्तो युधि सिंहविक्रम तथा (ब) भर्त्ता खड्गत्राता कुमारगुप्तो जयत्यनिशम्—राजा के हाथो सिंह तथा गैंडा के मारने की घटना वर्णित करते हैं।

गुप्त वंश के पश्चात् मध्ययुग मे विदेशी हूण भी भारत मे आकर भारतीय संस्कृति के उपासक हो गए, जिसकी जानकारी उनके मुद्रा लेख से होती है। हूण राजा मिहिर के सिक्को पर 'जयतुवृष' उत्कीर्ण है जो उसे शैवमतावलम्बी घोषित करता है। कहने का साराश यह है कि मुद्रा-लेख वास्तविक इतिहास के अध्ययन मे सहायता करते हैं।

इस प्रसंग मे यह कहना आवश्यक है कि सिक्को पर खुदे लेखो की लिपि भारतीय लिपि के विकास को बतलाती है। यूनानी राजा दिमित, पंतलेव, अगुथकल, अपलदतल या मिलिन्द

ने उत्तर पश्चिम भारत में प्रचलित खरोष्ठी लिपि का प्रयोग किया था। पश्चिमी भारत में क्षत्रप, शक नरेशों ने ब्राह्मी का प्रयोग किया। प्रजातंत्र शासकों के सिक्कों पर ब्राह्मी अंकित है। गुप्त राजाओं ने गुप्त लिपि को प्रयुक्त किया। मध्ययुग के सिक्कों पर नागरी लिपि में शासकों का नाम-श्रीमत् गोविन्द चन्द्र देव, गांगेयदेव, परिमर्दिदेव, पृथ्वीराजदेव आदि लेख अंकित है। संक्षेप में यह कहना यथार्थ होगा कि मुद्रा पर खुदे लेख भारतीय लिपि के विकास का भी परिज्ञान कराते हैं।

कच्ची मिट्टी के पिण्ड पर लेख अंकित कर उसे आग में पकाया जाता था। उसी को मुहर का नाम देते थे। प्रशस्ति लिखने के आधार की सूचि में मुद्रा या मुहरों की गणना विशेष रूप से की जाती है। इन मुहरों को विषय के अनुसार कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। धार्मिक मुहरें जिनका सम्बन्ध मंदिर या विहार से था। दूसरे विभाग में राजकीय मुहरों की गणना होती है जिन पर शासक का नाम खुदा है और साधारणतया वे ताम्रपट्टिओं से जुड़े हैं। तीसरे विभाग में कर्मचारियों की मुहरें हैं जिन्हें कार्यालय में पत्रव्यवहार में प्रयोग किया जाता था। कुछ निजी मुहरें भी खुदाई में मिली हैं जिनमें व्यक्तिगत लेख उत्कीर्ण है। यदि प्रयुक्त सामग्री की दृष्टि से देखा जाय तो पता चलता है कि मुहरें मिट्टी, ताम्बा, कास्य, प्रस्तर तथा हाथी दाँत की बनाई जाती थी। इस तरह की मुहरें उत्तरी भारत के विभिन्न स्थानों में प्राप्त हुई है। (आ० रि० १९०३—१३) । बैशाली, कसिया, नालंदा, राजघाट, कौशाम्बी तथा भीटा (प्रयाग के समीप, उत्तर प्रदेश) से प्राप्त हुई हैं। धातु की मुहरों पर उत्कीर्ण लेख के ऊपरी भाग में किसी देवता की आकृति भी ऊपरी भाग में तैयार की जाती थी। भीटा की मुहरों पर शिव लिङ्ग, त्रिशूल तथा वृषभ की आकृति मिलती है तथा नीचे गुप्त लिपि में लेख अंकित है। नालंदा से जो ताम्बे या मिट्टी की धार्मिक मुहरें प्राप्त हुई है उनपर बुद्ध की प्रतिमा है। राज वंशों से सम्बन्धित लेखों के आरम्भ में जो मुहरें जुड़ी हैं या निर्मित है उनसे भी धर्म का ज्ञान होता है। गुप्त वंश के भितरी मुद्रा पर गरुड की आकृति है तथा नीचे प्रथम कुमार गुप्त से द्वितीय कुमार गुप्त तक गुप्तवंश वृक्ष का उल्लेख है। इससे उसे वैष्णव मत से सम्बन्धित मुद्रा मानते है। पालवंशी नरेश धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र के ऊपरी भाग में बुद्ध का प्रतीक (धर्मचक्र तथा दो हिरन) तथा राजा का नाम 'श्री धर्मपालदेवस्य' खुदा है। देवपाल के नालंदा ताम्रपत्र में भी ऐसी ही मुद्रा संलग्न है जो राजा को बौद्ध घोषित करती है। इसी प्रकार सेन लेख में शिव की प्रतिमा (सदा शिव) शासकों का शैव मत से सम्बन्ध प्रकट करती है।

मुहरें

पूर्व मध्य युग से मुहरों का इतिहास क्रमबद्ध रूप में मिलता है। प्रत्येक ताम्रपत्र से एक धातु मुद्रा (अंगूठी की तरह) जुड़ी रहती थी। वही उस आज्ञापत्र को प्रमाणित करती थी। ये मुद्राएँ राजकीय विभाग में रक्खी जाती थी। उन पर कुल देवता या ध्वज का चिह्न अंकित मिलता है। भितरी मुद्रा, सर्ववर्मन मौखरि की असीरगढ की मुद्रा तथा हर्षवर्धन की सोनपत वाली मुहर राजकीय श्रेणी में रखी जा सकती है। इस प्रसंग में भीटा से प्राप्त कुछ मुहरों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। यहाँ से सातवाहन नरेश गोतमीपुत्र शातकर्णी की मुहर मिली है जिससे उस वंश का सम्बन्ध प्रकट होता है (आ० स० रि० १९११-१२ पृ० ५१)। पाँचवी सदी से मिट्टी की मुहरें बैसाली (वसाढ, उत्तर विहार) तथा नालदा में अधिक संख्या में मिली

हैं। मिट्टी की मुहर धातु के साँचे में तैयार की जाती थी जिन पर आकृति तथा लेख दोनों उभड आता था। वास्तविकता तो यह है कि साँचा ही लेख का असली आधार था जिसमें उलटे रीति से आकृति या लेख उत्कीर्ण किए जाते थे। मृत पिंड पर दबाव डालने से साँचे का कलात्मक नमूना उभड आता था। उस कच्ची मिट्टी को आग में पका देते थे ताकि पक्की मिट्टी की मुहर स्थायी रह सके। नालंदा की ऐसी मुहरें धार्मिक हैं। बुद्ध की प्रतिमा तथा "येधम्मा हेतु प्रभवा" आदि मंत्र खुदा है। कुछ मुहरें संघ के आचार्य से सम्बन्धित मिली हैं (आ० स० मे० न० ५९) भीटा से प्राप्त मुहरों का विशेष महत्व है। उनमें कुछ पदाधिकारियों के कार्यालय से तथा कुछ निगम (व्यापारिकसंघ) से सम्बन्धित हैं जिन पर महासेनापति, महादण्डनायक अथवा कुमारामात्याधिकरणस्य लेख खुदे हैं। कुछ पर निगम शब्द का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वैशाली (मुजफ्फरपुर, बिहार) की मुहरें तत्कालीन शासन पद्धति पर प्रकाश डालती हैं। इन पर गुप्त लिपि में कर्मचारियों के कार्यालय तथा श्रेणी (गण) से सम्बन्धित लेख खुदे हैं।

(१) तीरभुक्त्युपरिकाधिकरणस्य
  (तीरहुत के राज्यपाल का कार्यालय)

(२) कुमारामात्याधिकरणस्य
  (कुमारामात्य के कार्यालय का)

(३) श्रेष्ठि निगमस्य
  (श्रेष्ठी के संघ का)

(४) श्रेष्ठी श्री दासस्य
  (श्री दास सेठी की मुहर)

इतना ही नहीं वैशाली के राजकुमार गोविन्दगुप्त तथा रानी ध्रुवदेवी (चन्द्रगुप्त द्वितीय की पत्नी) के नाम भी मुहरों में खुदे मिले हैं।

भीटा में व्यक्तिगत मुहरें भी प्राप्त हुई हैं जिन पर 'आदित्यस्य', कौसिकदेवस्य, वसुदेवस्य, पुर्सामतम या विष्णुचन्द्र नामक व्यक्तियों के नाम अंकित हैं। इसी प्रकार स्थान से सम्बन्धित 'चित्रग्राम' या 'विछीग्राम' लेख अमुक ग्राम की मुहर कहे जा सकते हैं (आ स रि १९११-१२ पृ० ५६८)। कुछ दिन हुए काशी के समीप राजघाट की खुदाई में बहुत सी मुहरें मिली हैं जिनको लिपि के आधार गुप्त कालीन माना गया है। अधिकतर मुहरों पर धार्मिक लेख खुदे हैं। उनके अध्ययन से पता चलता है कि काशी में शैवमत का कितना अधिक प्रचार था।

इस प्रसंग में प्राग्ऐतिहासिक युग के नगर मोहेनजोदडो व हरप्पा से प्राप्त मुहरों के सम्बन्ध में कुछ कहना अप्रासंगिक न होगा। आधुनिक समय में अहमदाबाद के पास लोथल से वैसी ही मुहरें प्राप्त हुई हैं। ये मुहरें सज्जी की बनती थी और उन पर धातु की नुकीली कील से (Burin) चित्रमय लिपि में कुछ खोदा गया है। उन पर गैंडा, हाथी, शेर, बैल, भैंस आदि की आकृतियाँ हैं। जो कुछ खुदा है वह अभी तक पढा नहीं जा सका है। सम्भवतः ये मुहरें तावीज की तरह पहनी जाती थी। इस लिपि का ज्ञान हो जाने पर यह ज्ञात हो जायेगा कि ये लोग कौनसी भाषा जानते थे।

आयागपट्ट जैन धर्म से सम्बन्धित एक चार कोना प्रस्तर जिस पर तीर्थंकर महावीर की मूर्ति तथा अष्ट मांगलिक वस्तुओं की आकृति खुदी रहती है।

आयागपट्ट

मथुरा के ककाली टीला से एक आयागपट्ट मिला है जिस पर अमोहिनी का लेख मिलता है। [अमोहिनिये सहा पुत्रेण पालघोषेण पोठघोषेण धनघोषेण आर्यवती (जैन आयागपट्ट) प्रतिथापिता]। तीर्थंकर की मूर्ति महत्वपूर्ण है और उसी के पूजा निमित्त आयागपट्ट का दान दिया जाता था। यो तो इस तरह के प्रस्तर पर शुग राजा पुष्यमित्र का लेख अयोध्या से मिला है परन्तु आयागपट्ट जैन धर्म मे पूजा निमित्त तैयार किया जाता था।

पुराने समय मे मन्दिर तथा प्रतिमा के नीचे कुछ ईंटो पर लेख या अक्षर खोदे जाते थे जिनका कनिंघम ने पता लगाया था। मथुरा सग्रहालय मे ईसा-पूर्व पहली सदी की ईंटें सुरक्षित है जिन पर अक्षर खुदे है। ईट के अतिरिक्त मिट्टी के पात्रो पर भी लेख मिलते है। कुम्हरार की खुदाई से पात्र के एक हिस्से पर गुप्त लिपि मे "अरोग्य विहारे भिक्षुसघस्य" लिखा मिला है। इस तरह के ईट या पात्र पर लेख यदा-कदा मिलते है। भारत मे इस तरह लिखने की परिपाटी कम रही होगी।

ईंट तथा मृतिका-पात्र

लेख अकन के आधार सम्बन्धी विवरण को समाप्त करते हुए यह सकेत करना आवश्यक है कि ईसवी सन् के कई सदियो बाद भोजपत्र, ताडपत्र, वस्त्र, चमडा यथा कागज पर पुस्तकें लिखी जाती रही। ईरानी भाषा मे चमडा को पुस्तक कहते है इसलिये ग्रन्थ को पुस्तक का नाम दिया गया। उडीसा मे ताडपत्र पर नुकीली कील से अक्षर खोदे जाते थे और बाद मे उस पर स्याही का लेप लगाया जाता था। यही कारण है कि लेपन के कार्य से लिपि' शब्द की उत्पत्ति हुई परन्तु इस प्रश्न का विस्तृत विवरण यहाँ अप्रासगिक होगा।

•

अध्याय ४

प्रशस्ति-अंकन के काल एवं स्थान

प्राचीन भारत के समस्त अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा (शासक) तथा व्यक्ति विशेष द्वारा लेख विभिन्न अवसरों पर उत्कीर्ण किये जाते थे। पिछले धर्म-शास्त्र ग्रन्थों मे ऐसा ही उल्लेख पाया जाता है। स्मृतिचन्द्रिका के व्यवहार भाग मे दो प्रकार के लेख का वर्णन मिलता है। "लौकिक राजकीय च लेख्य विद्यात् द्विलक्षणम शासकगण अपनी राज-आज्ञा को प्रजा तक पहुचाने के लिए लेख खुदवाते थे। उस समय राजाज्ञा को चिरस्थायी करने का अन्य कोई साधन न था अत लेख अंकित करना आवश्यक था। अशोक ने अपनी धार्मिक आज्ञाओं को प्रस्तर तथा स्तम्भों पर खुदवाया था। उसके चौदह शिलालेख उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्कीर्ण किए गए थे। उनमे धार्मिक कार्य अथवा पदाधिकारी की नियुक्ति तथा उपदेश की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया गया है। अशोक ने सघ मे मत-भेद देखकर गौड स्तम्भ लेख तैयार कराया ताकि भिक्षु भय से शान्त हो जाय और विहारों की पवित्रता बनी रहे। अशोक के लेखों को आज्ञापत्र की श्रेणी मे रक्खा जाता है।

(कार्यमादिश्यतं येन तदाज्ञापत्रमुच्यते-स्मृतिचन्द्रिका)

इन धार्मिक-पत्रों के खुदवाने का कोई निश्चित अवसर न था, पर अशोक ने अहिंसा मे प्रजा की आस्था लाने के लिए लेखों को उत्कीर्ण कराया (से अज यदा धम्मलिपि लिखिता)। समाज मे सदाचार लाना उसका मुख्य ध्येय था, लेकिन अशोक के बाद ऐसे लेख कम मिलते है। भिलसा के गरुण स्तम्भ की प्रशस्ति मे इसी प्रकार मे सदाचार की बातें (तीन मार्ग) उल्लिखित है (त्याग, आत्म सयम तथा राग रहित)।

त्रिनि अमृत पदानि इ अ सु-अनुठितानि।
नेयति स्वर्ग दम चाग अप्रमाद।

कालान्तर मे धर्मलिपि का स्वरूप परिवर्तित हो गया और धार्मिक अवसर (यात्रा तथा दान आदि) पर लेख उत्कीर्ण होने लगे।

अशोक ने स्वयं लुम्बिनी स्तम्भ पर लिखा है कि भगवान् बुद्ध का यह जन्म-स्थान था इस कारण यह स्तम्भ-लेख अंकित किया गया (हिद बुधे जाते सक्य मुनिनि सिला-विगड भीचा कालापित सिला थमे च उस पापिते)। इसका भाव यह है कि

धार्मिक अवसर

बौद्ध तीर्थ की यात्रा कर अशोक ने लेख खुदवाया था। नासिक लेख मे महाक्षत्रप नहपान के जामाता उषवदत्त ने पुष्कर तीर्थ (अजमेर, राजस्थान) मे जाकर दान किया और लेख खुदवाया। मध्ययुग मे गहडवाल नरेश गोविंद चन्द्रदेव के अनेक ताम्रपत्र काशी के पास कमौली ग्राम से मिले है जिनमे ताम्रपट्टिका पर तीर्थ यात्रा से सम्बन्धित लेख खोदने का विवरण पाया जाता है (तीर्थानिकारी कुशिकोत्तर कौशलेन्द्रस्थानो)।

ईसवी पूर्व सदियो मे सातवाहन नरेश शातकर्णी ने अनेक वैदिक यज्ञ किया था जिसका विवरण उसकी पत्नी नागनिका ने नानाघाट के स्थान पर उत्कीर्ण कराया था। ऐसी ही घटना गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के अश्वमेध सिक्को पर लिखित हैं। मुद्रालेख मे "राजाधिराज पृथिवीमविन्वा दिव जयत्याहृतवाजिमेध" उत्कीर्ण है। इसमे समुद्रगुप्त द्वारा अश्वमेध को चिरस्थायी बना दिया गया। शातकर्णी के समकालीन भारतीय स्तूपो की वेदिका अथवा तोरण पर ऐसे लेख मिले हैं जिनसे पता चलता है कि विभिन्न लोगो ने उसे तैयार किया था। साँची की वेदिका तथा तोरण पर अनेक लेख उत्कीर्ण हैं। भरहुत वेदिका पर भी ऐसे लेखो की कमी नही है। दक्षिण भारत के अमरावती वेदिका पर भी लेख उत्कीर्ण है। ईसवी सन् के आरम्भ से मूर्तियो की आधार-शिला पर लेख खुदवाने की परिपाटी चल पड़ी। कुषाण युग के बुद्ध एव जैन प्रतिमा पर ऐसे अनेक लेख मिले हैं। सारनाथ की प्रसिद्ध बोधिसत्व की प्रतिमा के अधो भाग पर कनिष्क के तीसरे वर्ष का लेख खुदा है। मध्ययुग मे प्रतिमा के आधार शिला तथा प्रतिमा के सिरो भाग की ओर उत्कीर्ण कराने का अधिक प्रचलन था। प्राय बौद्ध प्रतिमाओ के सिरे की ओर एक-सा मत्र उत्कीर्ण मिलता है।

या धम्मा हेतु प्रभवा हेतुं तेषा तथागतोह्यवदत्।
अवदत् च यो निरोधो एव वादी महाश्रमण ॥

छठी सदी से बारहवी सदी तक पूर्वी भारत के प्रस्तर तथा धातु मूर्तियो पर यह लेख उत्कीर्ण है। आधार शिला पर खुदे लेखो से तिथियाँ भी मिलती हैं जिनसे बगाल के पालवंशी राजाओ के नाम तथा तिथि ज्ञात होती है। पालयुग के हिन्दू प्रतिमाओ के ऊपरी भाग पर भी लेख खोदने की परिपाटी चल पड़ी थी।

भारत एक धर्म प्रधान देश है। दान का विवरण साहित्य के अतिरिक्त लेखो मे अधिक पाया जाता है। याज्ञवल्क्य स्मृति मे यह उल्लेख मिलता है कि दान देकर राजा को स्थायी रूप से लेख लिखवा देना चाहिए।[1] —

दान की परिस्थिति "दत्वा भूमिनिबध वा कृत्वा लेख्य तु कारयेत्।
पट्टे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नितम्।"

प्राचीन युग के शासक इस बात को ध्यान मे रखकर प्रस्तर या ताम्रपट्टिका पर लेख खुदवाते थे। मौर्यकालीन गया जिला (बिहार) मे स्थित बराबर पर्वत की गुहा लेख दान का सबसे प्राचीन उदाहरण है। ईसा पूर्व सदियो मे साँची वेदिका पर प्रस्तर के ऊपरी भाग मे दान कर्त्ता का नाम खुदा है। नासिक लेख मे उषवदत्त द्वारा दान का उल्लेख मिलता है कि तीन हज़ार कार्षापण श्रेणियो के बैंक मे सूद पर जमा किया गया था। उस आय को भिक्षुओ के भोजन तथा चीवर के निमित्त व्यय किया जाता था। उषवदत्त ने प्रभास नामक तीर्थ मे आठ ब्राह्मण कन्या के विवाह निमित्त दान दिया था तथा दमण, तापी आदि नदियो के घाट को निःशुल्क घोषित किया। राम तीर्थ के ब्राह्मण साधुओ के लिए गुप्त दान दिया। गुप्त युग से अग्रहार देने की परिपाटी चल पडी। ब्राह्मण ग्रन्थो मे यज्ञ (इष्ट) तथा दान (पूर्त) का वर्णन मिलता है। पुराने समय मे गुहा, चैत्य, मण्डप, वापी आदि दान मे दिये जाते थे परन्तु कालान्तर मे (प्रायः गुप्त युग के पश्चात्) ब्राह्मणो के अतिरिक्त संस्थाओ को भी भूमिदान की प्रथा चल पडी थी। भूमि-

१ विस्तृत विवरण अगले पृष्ठो मे देखिये।

दान को 'शासन' कहते थे जो अधिकतर ताम्रपत्र पर खुदे हैं। पहाड़पुर, दामोदरपुर, खोह तथा प्रभावती गुप्ता का पूना ताम्रपत्र गुप्त युग के शासन माने जा सकते हैं। पूर्व मध्य-युग में भी ऐसे लेखों की कमी न थी। बाँसखेरा ताम्रपत्र, वलभी दान पत्र, वाकाटक नरेशों के ताम्रपत्र, बादामी के चालुक्य राजाओं के शासन, राष्ट्रकूट, प्रतिहार, चेदि तथा गहड़वाल नरेशों के अनेक ताम्रपत्र इसी श्रेणी में रक्खे जाते हैं। प्रत्येक ताम्रपत्र में मंगलाचरण के पश्चात् राजा की वंशावली, भूमि का माप, सीमा, कर आदि का उल्लेख दान, ग्राही की विद्वता एवं गुणों की प्रशंसा तथा शासन के पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं। ब्राह्मणों को अग्रहार देने के अतिरिक्त संस्थाओं को जो भूमि दान में दी जाती थी उसका भी विवरण ताम्रपत्र पर अंकित रहता था।

बंगाल के पाल नरेश देवपाल का नालंदा ताम्रपत्र विशेषरूप से उल्लेखनीय है। पाल नरेश ने जावाद्वीप के शासक बालपुत्रदेव द्वारा निर्मित नालंदा के विहार को पांच गांव दान में दिया था। इस कारण यह ताम्रपत्र वैदेशिक सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालता है। ह्वेनसाग ने लिखा है कि नालंदा महाविहार को दो सौ ग्राम दान में मिले थे। पाल राजाओं ने विक्रमशीला विश्वविद्यालय को भी आर्थिक सहायता दी तथा दान देकर शासक ने उदार भावनाओं का परिचय दिया था।

मंदिरों के निर्माण तथा पुनरुद्धार का भी विवरण लेखों में भरा पड़ा है। प्रथम कुमार गुप्त के मंदसोर वाले लेख में श्रेणी द्वारा सूर्य मंदिर के निर्माण का विवरण निम्न प्रकार है —

"श्रेणीभूतै भवनमतुलं कारितं दीप्त-रश्मे"

निर्माण के सदृश मंदिरों के पुनरुद्धार का कार्य भी पवित्र तथा धार्मिक समझा जाता था। लेखों में 'खण्ड स्फुट संस्कार' शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति की गई है। दामोदरपुर के ताम्रपत्र में "श्वेत वराह स्वामिनो देवकुल खण्ड स्फुट प्रति संस्कार करणाय" वाक्य से वराह स्वामी के मन्दिर के उद्धार की बात उल्लिखित है। राजपूताना के लेखों में इस तरह का अधिक विवरण पाया जाता है। परमार लेख में विधवा रानी द्वारा मंदिर के जीर्णोद्धार के माध्यम से पुण्य अर्जन का वर्णन मिलता है। लेखों में निम्न प्रकार के वाक्य मिलते हैं —

खण्ड स्फुट देवगृह जगतो समरचनार्थम् (ए० इ० १२ पृ० ११५)
खण्ड स्फुट विचरित पतित संस्करार्थम् (का० इ० इ० ४ पृ० १५०)
खण्ड स्फुटित समरचनादिग् धर्मोपि योग्य कर्त्तव्यम् (ए० इ० १९ पृ० ६२)

इस उदाहरण से स्पष्ट प्रकट होता है कि दसवीं सदी के पश्चात् मंदिरों का संस्कार अत्यन्त पुण्य का कार्य समझा जाने लगा। सम्भवत. मुसलमानों द्वारा मंदिरों के नष्ट किए जाने पर धनीमानी लोगों का ध्यान निर्माण से हटकर संस्कार की ओर आकृष्ट हुआ। जोधपुर के एक लेख (ए० इ० भा० २०) तथा असम के लेख (इ० हि० क्वा० भा० २२ पृष्ठ १२) में इसी प्रकार का अक्षरशः उल्लेख मिलता है।

प्राचीन भारत में विजय यात्रा के समाप्ति की समय शासक लेख उत्कीर्ण कराते थे ताकि उनके विजय का विवरण अन्य लोग तथा उत्तराधिकारियों को ज्ञात हो जाय। इस प्रसंग में

विजय यात्रा

प्रयाग का स्तम्भ लेख, उदयगिरि का लेख, अयहोल की प्रशस्ति, जोधपुर का अभिलेख तथा भोर संग्रहालय का ताम्रपत्र क्रमशः समुद्र गुप्त, द्वितीय चन्द्रगुप्त, चालुक्य राजा द्वितीय पुलकेशी, प्रतिहार नरेश

भोज तथा राष्ट्रकूट ध्रुवराज के विजय का वृत्तात उपस्थित करते है। उनमे राजाओ के दिग्विजय व युद्ध मे विजय का विवरण दिया गया है। इन लेखो का मुख्य ध्येय राजा की विजय कीर्ति को चिरस्थायी करना था। अतएव प्रशस्तिकार ने अपने आश्रयदाता या शासक के विजय का सुन्दर वर्णन किया है। गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के मेहरौली लौहस्तम्भ पर चन्द्र नाम से शासक के विजय का वर्णन अकित है। यशोधर्मन का मदसोर का लेख उसके युद्ध कौशल का वर्णन करता है। उसी मे उसके हाथो हूण नरेश के पराजय का विवरण मिलता है। निम्न पद्य पठनीय है—

तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधि र्वीर्य्यानिलैर्द्दक्षिण । (मेहरौली लेख)
आ लौहित्योपकण्ठात्तलवनगहनोपत्यकादा महेन्द्रा-
दागङ्गाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिण. पश्चिमादा पयोध
चूडा-पुष्पोपहारैर्म्मिहिरकुलनृपेणार्च्चितं पादयुग्म । (मदसोर की प्रशस्ति)

ऐसे स्थानो पर राजा को कीर्ति को चिरस्थायी करने की भावना काम करती थी। अत उनमे कुछ अत्युक्ति भी मिलती है।

मध्य युग के परमार लेख मे तो "कोकण विजय पर्व्वणि" वाक्य का स्पष्ट उल्लेख है। गाहडवाल प्रशस्ति जयचन्द्र के अभिषेक के अवसर पर अकित की गई थी। इस प्रकार शासक के विजय यात्रा के अन्त मे भी प्रशस्ति अकित कराने की परिपाटी प्रचलित थी।

प्राचीन समय मे सामाजिक अवसरो पर लेख उत्कीर्ण कराने की परिपाटी अधिक नही थी। परन्तु मध्ययुग की प्रशस्तियो मे इसका वर्णन पाया जाता है। गाहडवाल राजा जयचन्द्र ने राजकुमार के जन्म तथा चूडा-कर्म के अवसर पर दान दिया था। दानपत्र मे "राजपुत्र श्री हरिश्चन्द्र नाम करणे" का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त मध्ययुग म अनेक त्यौहारो पर भी दान देने का विवरण उपलब्ध होता है। सक्रान्ति, अक्षयतृतीया, रामनवमी, कृष्णजन्माष्टमी, महा सप्तमी, एकादशी तथा अधिक मास मे भी दान दिया जाता था। माता-पिता के "पार्वणि श्राद्ध" के अवसर पर गाहडवाल तथा कलचुरी नरेशो द्वारा दान का उल्लेख निम्न शब्दो मे मिलता है।

सामाजिक अवसर

"आश्विन मासि कृष्णपक्षे १५ पितु
साम्वत्सरिक पार्वणि श्राद्धे"
या
"गागेयदेवस्य सम्वत्सरे श्राद्धे"
या
"आत्मीय मातु राज्ञी श्री साम्वत्सरिके"

पिछले गुप्त नरेश भानुगुप्त के एक लेख मे गोपराज का सेना के साथ होने का वर्णन है जिससे पता चलता है कि सती होने के अवसर पर यह लेख उत्कीर्ण कराया गया था।

कृत्वा च युद्ध समुहत् प्रकाशं
स्वर्गंगतो दिव्य नरेन्द्र कल्प ।

भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता
भार्याविलग्नानुगताग्निराशिम् ।   (एरण का लेख)

प्राचीन युग के मिट्टी की मुहरो पर श्रेणियो द्वारा अकित अनेक लेख मिले हैं । वैशाली मे ऐसे लेखो की अधिकता है जिन्हें श्रेणी मुख्य द्वारा व्यवसाय के प्रसग में तैयार किया गया था । व्यापार की वृद्धि के लिए ही सिक्के तैयार किए जाते थे जिन पर कई ढंग के मुद्रा-लेख खुदे हैं । इस प्रकार व्यापारिक कारणो से मुद्राओ पर लेख खुदवाया जाता था । जिन मुहरो को श्रेणिया तैयार करती उसमे अपना नाम अकित कराती । "श्रेष्ठो सार्थवाह कुलिक निगमस्य" (वैशाली की मुहर) तथा "कुलिक निगमस्य" (वसाढ मुहर) लेख उसके उदाहरण है । यूनानी राजाओ, शक नरेश तथा बाद मे गुप्त सम्राटो के सिक्को पर पदवो युक्त शासक का नाम पाया जाता है । यद्यपि मुद्रा लेखो के अध्ययन से अधिकतर किसी विशेष अवसर का पता नही चलता परन्तु राज्य के आर्थिक दशा सुधारने या व्यापार की उपयोगिता के लिए कई प्रकार के सिक्के तैयार किये जाते थे । गुप्त युग के पश्चात् सगठित व्यापार न होने के कारण ही सिक्को का प्रचलन कम हो गया ।

व्यापारिक अवसर

कुछ गौण अवसरो पर भी राजा लेख खुदवाया करते थे । महा क्षत्रप रुद्रदामन ने सुदर्शन झील की मरम्मत करने के समय जूनागढ वाला लेख उत्कीर्ण कराया था । आदित्यसेन के अपसद लेख का समय भी वैसा ही था । उस समय रानी कोणदेवी ने तालाब का निर्माण किया था ।

साधारण समय

राजा खानितमद्भुतं सुपयसा पेपीयमान जनै
स्तस्यैव प्रियभार्यया नरपते श्रीकोणदेव्या सर ।

प्राचीन समय मे ही भारतवर्ष मे ऐसे स्थान पर नगर स्थापित हुए जिनका किसी न किसी प्रकार का स्थानीय अथवा भौगोलिक महत्व था । साम्राज्य की सुरक्षा के लिए महत्व-पूर्ण स्थान पर नगर बसाए गए तथा तीर्थ स्थानो पर अच्छे प्रकार के नगरो का निर्माण किया गया । राजधानी साम्राज्य का केन्द्र होने के कारण सर्वथा प्रसिद्ध नगरी होती थी । यो तो जनता के आवागमन के निमित्त सुरक्षित मार्ग बने थे परन्तु व्यापारिक केन्द्रो ने भी शासक का ध्यान आकर्षित किया और कालान्तर मे वे स्थान सास्कृतिक केन्द्र हो गए । प्रशस्ति खुदवाने के विभिन्न स्थानो की परीक्षा यह बतलाती है कि राजधानी, महत्वपूर्ण नगर, तीर्थ स्थान एव जयस्कन्धावार की ओर शासको का ध्यान गया और उन स्थानो पर अभिलेख खोदे गये ।

प्रशस्ति खुदवाने का स्थान

भारतीय पुरातत्व के इतिहास मे सर्व प्रथम अशोक के लेखो का स्थान आता है । उसने बौद्धधर्म मे दीक्षित होने के पश्चात् ही साम्राज्य के विशिष्ट तथा बौद्धधर्म से सम्बन्धित स्थानो पर लेख अकित कराये । कुछ लेख प्रान्त की राजधानी तथा विशिष्ट स्थानो पर मिले है । धौली (भुवनेश्वर के समीप) का लेख यह बतलाता है कि उडीसा का जीत कर उसने राजाज्ञा निकाली । इसी के सदृश तक्षशिला भी प्रान्त का प्रधान नगर था । सीमा प्रान्त पर मानसेरा व शहबाजगढी के लेख इसी बात का पुष्टि करते है । दक्षिण मे मैसूर प्रान्त के ब्रह्म-गिरि मे अशोक के लेख मिले है । उसे धम्मघोष के प्रसार के निमित्त तथा प्रजा की जानकारी के लिए

अनेक स्थानो पर धर्मलेख उत्कीर्ण कराना पडा था। बिहार के चम्पारन जिले में लौरिया तथा रमपुरवा के स्तम्भ लेख, कालसी (उत्तर प्रदेश) गिरनार (काठियावाड) तथा येरुगुडी (करनूल जिला, मद्रास) के लेख सीमा पर स्थित है। यद्यपि लेख सर्वत्र खोदे जा सकते थे पर स्थान का चुनाव भी एक मुख्य विषय था। भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण स्थानो पर अशोक ने लेख अंकित कराया। सारनाथ (प्रथम प्रवचन का स्थान, धर्म चक्र परिवर्तन) कोशाम्बी (बुद्ध का निवास-स्थान तथा राजमार्ग पर स्थित प्रधान नगर) तथा साची (बुद्ध के स्तूप के समीप) मे लेख युक्त स्तम्भ खडे है। अशोक का स्तम्भ रुम्मनदेई मे भी स्थित है जो स्थान सिद्धार्थ का जन्म-स्थान माना जाता है। इस के महत्व को समझकर अशोक ने तीर्थयात्रा की तथा निम्नलिखित बातें स्तम्भ पर खुदबाई।

हिद बुधे जाते सक्य मुनीति
हिद भगव जाते ति लुमिनी गामे उवलिके कटे।

इस प्रकार अशोक के लेख कई बातो पर प्रकाश डालते हैं। लेख धर्म प्रचार के सबसे अधिक साधन माने गये है तथा इसी कारण प्रधान स्थान, सीमा तथा धार्मिक केन्द्र मे धर्म लेख अंकित किए गए।

अशोक के बाद भी प्राचीन शासको ने अपनी सीमा के भीतर प्रशस्तियाँ खुदवायी। पह्लव राजाओ ने तक्षशिला मे, नहपान का लेख जुनार तथा नासिक मे और रुद्रदामन का लेख जूनागढ मे मिलते है। ये सभी स्थान उन राजाओ के राज्य सीमा मे स्थित थे। कनिष्क के तीसरे वर्ष मे जो मूर्ति पर लेख खुदा था उसे सारनाथ मे शासन करने वाले महक्षत्रप खरपल्लाना ने अंकित किया था। गुप्त नरेशो ने इस रीति को निवाहा परन्तु सारनाथ से प्राप्त लेख तो धार्मिक स्थान से ही सम्बन्धित कहा जा सकता है। समुद्रगुप्त ने कौशाम्बी के महत्व को समझ कर ही अपने विजय यात्रा का वर्णन अशोक के स्तम्भ पर लिखवाया था। उत्तरी भारत से दक्षिण जाने समय इसी मार्ग से होकर व्यापारी यात्रा करते थे। उदयगिरि के स्थान पर जो लेख मिले है वे चन्द्रगुप्त द्वारा उज्जयिनी जाते समय अंकित किये गये होंगे क्योकि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की दूसरी राजधानी उज्जयिनी थी। प्राचीन समय मे मालवा का अत्यन्त महत्व था। विदिशा उज्जयिनी प्रान्त की राजधानी के रूप मे स्थित रही। मंदसोर (मालवा) की प्रशस्तियाँ (यशोवर्मन तथा प्रथम कुमारगुप्त) इस बात को पुष्ट करती है कि राजमार्ग मे स्थित होने के कारण वहाँ श्रेणी कार्य करती रही जिसके कारण वह मुख्य नगर हो गया। वैशाली एक प्रधान नगर व सघ का केन्द्र था इसलिए विभिन्न कार्यालयो की मुहरें वहाँ मिली है। काशी (राजघाट) की मुहरे धार्मिक भावना का लेकर अंकित थी जिसमें शैवमत सम्बन्धी बातो का पता चलता है। तीर्थ होने के कारण मध्य देश के गाहडवाल नरेश गोविन्दचन्द्र देव ने काशी के समीप कमौली गाँव मे अधिक दान दिया था जिसका उल्लेख कमौली से प्राप्त ताम्रपत्रो मे मिलता है।

तीर्थ को छोड़कर जयस्कन्धावार) सेना कैम्प) मे भी लेख अंकित करने की आज्ञा दी जाती थी। वह सदा विजय के उपलक्ष मे किया जाता था। वलभी तथा वासखेड़ा का ताम्रपत्र, खालिमपुर और मुगेर का ताम्रपत्र आदि उल्लेखनीय हैं। सातवाहन राजा की निम्नलिखित पक्ति से उसे स्पष्ट करती है।

जयस्कन्धावार

सेनाये वेजयंतिये विजय खघावारा (विजय स्कान्धावार) गोवधनस वेना कटक स्वामि गोतमि पुतो सिरि सदकणि आनपयति । (नासिक गुहा लेख)

विजय स्कन्धावारात् भद्रपत्तनवासकात् (वलभी लेख)

महानौस्त्यश्व जयस्कन्धावारात् श्री वर्धमानकोटचा (बासखेडा ताम्रपत्र)

श्री मुद्गिरि समावासि श्रीमद् जयस्कन्धावारात् (पाल लेख)

इस प्रकार सेना के कैम्प से लेख खुदवाने या घोषित करने की प्रथा की जानकारी हो जाती है।

पुराने समय मे जिस स्थान का कोई सास्कृतिक महत्व था वहाँ भी प्रतिमा स्थापना के समय मूर्ति के आधार शिला पर लेख अकित किया जाता था। मथुरा तथा सारनाथ से ऐसे अनेक मूर्ति लेख प्रकाश मे आए है। सारनाथ मे गोविन्द चन्द्र की रानी कुमार देवी तथा महीपाल (बगाल के पालनरेश) के लेख खुदाई से निकले है। इसी तरह नालदा भी शिक्षा का एक प्रधान केन्द्र था। यशोधर्मन के मत्री मालाद के लेख तथा देवपाल का ताम्रपत्र प्रशस्ति नालदा महाविहार के विषय मे प्रकाश डालते है। उस युग मे सस्था को दान देने का महत्व था। नालंदा महाविहार के विद्यार्थियो के लिए जावा के राजा बालपुत्र देव ने विहार निमित्त किया। विहार के रक्षण भिक्षुओ के भोजन, आवास, चिकित्सा आदि प्रबंध के लिए कई सौ गाँव दान में दिए गए थे। नालदा एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र हो गया था जहाँ विदेशो के विद्यार्थीगण पढ़ने के लिए आये थे। नालदा का यह वर्णन सुनिए—

प्रधान नगर

नालदा गुणवृन्दलुब्धमनसा
भक्त्या च शौद्धोदने।
बुद्धाशैल सरिस तरंग तरला
लक्ष्मीमिमाम शोभनाम्।
यस्ते नौन्नत सौधधाम सध वसति
सधार्थ मित्र श्रिया।
नाना सद गुण भिक्षु सध वसति
तस्या विहार कृत ।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि राज्य सीमा, राजधानी, जयस्कन्धावार, तीर्थ तथा सास्कृतिक केन्द्रो में लेख उत्कीर्ण करना आवश्यक था। राजधानी मे लेख अधिक संख्या मे उत्कीर्ण हुआ करते थे।

आधुनिक काल मे कई लेख मूल स्थान पर स्थित नही है इसलिए किञ्चित भ्रम हो सकता है। अशोक के स्तम्भ अम्बाला तथा मेरठ मे दिल्ली मे फिरोज तुगलक द्वारा लाए गए। कोशाम्बी का स्तम्भ भी आज प्रयाग के किले मे है। ताम्र पत्र तो निश्चित स्थान पर अधिकतर मिलते ही नही, परन्तु वर्णन से या प्रचलित परम्परा से उस स्थान का समीकरण किया जाता है।

अध्याय ५

अभिलेखों से इतिहास का ज्ञान

इस बात की पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नही प्रतीत होती कि प्राचीन भारतीय इतिहास की मूल्यवान सामग्रियो मे उत्कीर्ण लेख, सर्वोपरि माने जाते है। ऐतिहासिक लेखो के मूल्यांकन मे सतर्क रहना पड़ता है क्योकि यह आवश्यक नही कि सारी बातें सत्य मान ली जाय। सातवी सदी के पश्चात् प्रशमात्मक लेख मिलते है जिनमे कुछ बाते शासक को प्रसन्न करने के लिए लिखी गई थी। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि स्कन्द गुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य की श्री समाप्त हो गई। मगध के पिछले गुप्त नरेश सामान्य ढंग से शासन करते थे परन्तु देव वरनार्क लेख मे जीवित गुप्त के लिए महान् पदवी—परम माहेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर—लिखी है जो समुद्रगुप्त के लिए भी प्रयुक्त नही की गई थी। अतएव अतिशयोक्ति को हटाकर लेख पर विचार करना युक्ति सगत होगा। लेख के विश्वसनीय होने की बात सर्वप्रथम देखी जाती है। जो उल्लेख मिलता है उसकी पुष्टि अन्य साधनों मे होने पर उसकी मर्यादा निश्चित की जाती है। किसी लेख के विषय मे उसकी उपयोगिता पर ध्यान देना चाहिए। यह जानना आवश्यक है कि लेख द्वारा इतिहास-निर्माण मे कितनी सहायता मिली है, तभी उस प्रशस्ति को ऐतिहासिक मान सकते है। तात्पर्य यह है कि अभिलेखो को उपरिलिखित चारो बातो से तौलकर ही इतिहास लेखन आरम्भ किया जा सकता है। कभी-कभी एक ही बात की पुष्टि अनेक लेख करते है। अतएव सभी का महत्व एक-सा नही माना जा सकता। इतिहास लिखन मे जितनी सहायता लेखो ने की है उतनी अन्य पुरातत्व सामग्रियो के अध्ययन मे नही मिलता।

प्राचीन अभिलेख अशोक, कनिष्क, खारवेल, गोतमीपुत्र शातकर्णी, रुद्रदामन, समुद्रगुप्त, द्वितीय पुलकेशी, धर्मपाल तथा ध्रुव आदि शासको के सम्बन्ध मे अनेक बातें बतलाते है। उनके प्रताप तथा कीर्ति की गाथा सुनाते है अन्यथा उन राजाओ का यश तथा शक्ति का परिज्ञान सम्भव न था। अशोक के धर्मलेख ही मौर्य साम्राज्य की विशेषता बतलाते है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र मे शासन-पद्धति का विशद् वर्णन किया है परन्तु राज्य विस्तार का उल्लेख तक नही है। अशोक के लेखो से ही उसके पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य की शक्ति का अनुमान होता है। यो तो उसके लेख प्राय सम्पूर्ण भारत पर विस्तृत साम्राज्य की जानकारी कराते है परन्तु तेरहवें लेख मे अशोक द्वारा कलिंग मात्र विजय की बात कही गयी है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि कलिंग को छोड़कर हिमालय से मद्रास तक का प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य ने जीता था। अशोक के धर्म लेख का अध्ययन अधिक समय तक विद्वानो को भ्रम मे डाले था कि उसका नाम प्रियदर्शी था। परन्तु मास्की (आंध्र प्रदेश) लेख मे उसके नाम—अशोक का पता चला। उड़ीसा के राजा खारवेल के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी हाथी गुहा लेख मे होती है। वही लेख सारा इतिहास बतलाता है और खारवेल का जीवन वृत्तात उसी मे प्रकाश मे आया है।

उसकी अनुपस्थिति में खारवेल के सम्बन्ध मे सभी बातें लुप्त हो जायेंगी । कनिष्क के लेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उसका राज्य पेशावर से वाराणसी तक विस्तृत था । कुर्रम (का० इ० इ० भाग २ पृ० १५५) तथा सारनाथ का प्रतिमा लेख (ए० इ० ८ पृ० १७३) उपरिलिखित बातो की पुष्टि करते है। दक्षिण मे मौर्यो के उत्तराधिकारी सात वाहन नरेश ईसा पूर्व दूसरी सदी से चौथी शताब्दी (ईसवी सन्) तक शासन करते रहे । उस वश क सबसे प्रतापी राजा गोतमीपुत्र शातकर्णी की कीर्ति तथा विजय नासिक गुहा के दीवार पर खुदी है। उसी वर्णन से नहपान के पराजय की बात ज्ञात होती है । महाक्षत्रप रुद्रदामन की ख्याति उसके जूनागढ लेख मे प्रकट होती है जिसमे दक्षिणा-पथपति (सातवाहन) को दो बार परास्त करने की बात उल्लिखित है। (दक्षिणापथपतेस्सातकर्णेद्विरपि नीर्व्याजमवजीत्यावजीत्य सम्बन्धा विदूरतया—ए० इ० ८ पृ० ४२) । इन राजाओ के युद्ध वर्णन के सदृश गुप्त सम्राट् समुद्र गुप्त की दिग्विजय यात्रा प्रयागस्तम्भ लेख मे वर्णित है। इससे ज्ञात होता है कि समुद्र ने पाटलिपुत्र से उडीसा होकर काची तक विजय पताका फहराई थी । उसने धर्मविजयी राजा की तरह दक्षिण के शासको को परास्त कर मुक्त कर दिया था। उत्तर भारत म उसकी दूसरी नीति थी और इस भाग के कई प्रदेशो को विजित कर अपने साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया था ।

लेखो मे अत्युक्ति के प्रसग मे छठी सदी के राजा यशोधर्मन का नामोल्लेख आवश्यक है। मदसोर (मालवा) के लेख मे वर्णन आता है कि उसने लौहित्य (असम) तक विजय किया। परन्तु तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति मे मालवा से असम तक का विजय सम्भव नही था । अतएव मदसोर का लेख (इ० ए० १८ पृ० २१९) अविश्वसनीय है। मध्य युग मे कन्नौज पर अधिकार करने के लिए प्रतिहार, राष्ट्रकूट तथा पाल नरेशो में परस्पर युद्ध हो रहा था । इस युद्ध की कथा भोर-सग्रहालय-लेख (ए० इ० २२ पृ० १७६), खालीमपुर प्रशस्ति (ए० इ० भा० ४) तथा ग्वालियर प्रशस्ति (आ० स० रि० १९०३-४ पृ० २८०) मे वर्णित है। उसमे ध्रुव, धर्मपाल तथा वत्सराज के विजय या पराजय की बातें लिखी है । तीनो वंशो के लेख यह बतलाते है कि शासको मे वशानुगत युद्ध की भावना काम कर रही थी । राष्ट्रकूट इन्द्र ने भी उत्तरी भारत पर आक्रमण किया था। देवपाल प्रतिहार नरेश से ईर्ष्या करता रहा तथा दोनो मे युद्ध भी हुआ । इसी प्रकार अयहोल की प्रशस्ति मे द्वितीय पुलकेशी की जीवन-कथा विस्तृत रूप से कही गई है । उस लेख (ए० इ० ६ पृ० ३) से ही पता चलता है कि चालुक्य नरेश ने कन्नौज के राजा हर्षवर्धन को परास्त किया था । [भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः] इस प्रकार अभिलेखो की उपयोगिता, मूल्य तथा इतिहास के महत्वपूर्ण साधन होने की बातें आँकी जा सकती ।

प्रशस्तियो के अध्ययन से राजवंशो की वश परम्परा का पता चलता है । जिस शासक के राज्यकाल मे कोई अभिलेख उत्कीर्ण होता उसके पूरे वंशवृक्ष का उल्लेख किया जाता था । ईसवी पूर्व सदियो मे ऐसी परिपाटी नही मिलती । ई० स० १५०

वशवृक्ष

वाले जूनागढ के लेख मे रुद्रदामन की तीन पीढियो का नाम हैं—स्वामी चष्टनस्य पौत्रस्य राज्ञ क्षत्रपस्य सुगृहितनाम्न स्वामिजयदाम्न पुत्रस्य राज्ञो महाक्षत्रपस्य—रुद्रदाम्नो (ए० इ० ८ पृ० ४२)। पश्चिमी भारत के

शक क्षत्रपो के मुद्रा-लेख मे पिता-पुत्र दोनो का नाम निम्न प्रकार से मिलता है—

"राज्ञो महाक्षत्रपस्य दामजदश्री पुत्रस्य राज्ञो क्षत्रपस्य सत्यदाम्न ।" इसीरूप मे मुद्रालेख द्वारा क्षत्रपो का वश-वृक्ष तैयार किया जाता है । गुप्त लेखो मे वंश वृक्ष की परम्परा चरमसीमा की पहुँच गयी थी । जिस शासक का लेख उत्कीर्ण किया जाता था उसके पूर्व पुरुषो की नामावली अवश्य लिखी जाती थी । स्कन्द गुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख मे पूरी वंशावली निम्न प्रकार से दी गयी है—

महाराज श्री चन्द्रगुप्त प्रपौत्रस्य श्री घटोत्कच पौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्र गुप्त पुत्रस्य कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्र तत्परिग्रहितो महादेव्या ध्रुव-देव्यामुत्पन्न परम भागवतो महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तस्य · · ···

प्रथित विपुल धामा नामत स्कन्दगुप्त

इसी तरह बिहार शिलालेख मे अंतिम पक्ति के स्थाद पर "कुमारगुप्त तस्य पुत्र. तत्पादानुध्यात परम भागवतो महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त" लिखा मिलता है । इसमे गुप्त वंश के साथ रानियो के भी नाम मिलते है । यदि द्वितीय कुमारगुप्त की भितरी राजमुद्रा के लेख पर विचार किया जाय तो गुप्तो की दूसरी वश परम्परा का ज्ञान हो जाता है । प्रथम कुमार गुप्त तक सभी नामो मे समता है परन्तु उसके बाद स्कन्दगुप्त का नाम न आकर पुरु गुप्त का नाम आता है । लेख इस प्रकार है—"श्री कुमारगुप्त तस्य पुत्र तत्पादानुध्यातो महादेव्या अनन्तदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्तः तस्य पुत्र पादानुध्यातो महादेव्या श्री चन्द्रदेव्या उत्पन्न महाराजाधिराज श्री नरसिंहगुप्त तस्य पुत्र तत्पादानुध्यातो परमभागवतो महाराजाधिराज. श्री कुमारगुप्त ।" इस ढग से लेखो के आधार पर गुप्त वशावली का पता लग सका है । सभी लेखो मे वशवृक्ष का उल्लेख नही होता था परन्तु यह बतलाना कठिन है कि किस अवसर पर कर्मचारी (प्रशस्तिकार) वश वृक्ष का उल्लेख करता अथवा केवल उस लेख से सम्बन्धित राजा का केवल नाम दिया करता था । ऐसी घटना मिहिरकुल के लेखो से भी पायी जाती है । उसके ग्वालियर वाले शिलालेख (५३५ ई०) मे तोरमाण का भी नाम आता है—

श्री तोरमाण इति य प्रथितो प्रभूतगुण ।

× × × ×

तस्योदित कुल कीर्ते पुत्रोऽतुलविक्रम पति पृथ्व्या

मिहिरकुलेतिख्यातो ·· ।

गुप्त कालीन वाकाटक राजा विंध्यशक्ति के ताम्रपत्र मे उसके पितामह प्रवरसेन तथा पिता सर्व्वसेन का नाम मिलता है ।

"प्रवरसेन पौत्रस्य श्री सर्व्वसेन पुत्रस्य धर्म्म

महाराजस्य वाकाटकाना श्री विंध्यशक्ति—।"

प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रपत्र मे तो वाकाटक वँशवृक्ष के स्थान पर गुप्त वंशावली का उल्लेख है जिसका आशय यह है कि प्रभावती गुप्ता गुप्त वश की राजकुमारी थी किन्तु रानी होकर गुप्तो की सहायता से शासन करती रही । प्राय प्रस्तर या धातु पत्र पर खुदे लेखो में वंशावली मिलती है। प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल की राजमुद्रा से उस वंश के राजा तथा रानी

का क्रमबद्ध नाम मिलता है। उसका अनुवाद निम्न प्रकार है—"परम वैष्णव देवराज रानी भूमिकादेवी उसके पुत्र परममाहेश्वर वत्सराज रानी सुन्दरादेवी उसके पुत्र परमभागवती भक्त भागभट्ट रानी इष्टादेवी उसके परमादित्य भक्त रामभद्र रानी अप्पादेवी उसके पुत्र परमभागवत भोज रानी चन्द्रभट्टारिका देवी उसके पुत्र परमभागवत महेन्द्रपाल रानी देहनागादेवी" के नाम मिलते है। इस दिशा मे ज्ञानवर्द्धक राजमुद्राओ में नालंदा तथा वसाढ की मुद्राओ का उल्लेख किया जा सकता है। उनसे कई सस्थाओ तथा पदाधिकारियो के नाम संग्रहीत किए गए है। इसी रूप में मौखरि नरेश ईशान वर्मा के हरहा प्रशस्ति का नाम उल्लेखनीय है। उसमें पूरे वश का उल्लेख करते समय सर्ववर्मन मौखरि का नाम आता है जिसके सम्बन्ध मे अन्य साधनो से कुछ ज्ञात नही है। हर्षवर्धन के बासखेडा ताम्रपत्र मे नरवर्धन से तक शासको तथा रानियो के नाम मिलते हैं। इस तरह दक्षिण के राजा गुर्जर प्रतिहार के जोधपुर प्रशस्ति मे, अयहोल की प्रशस्ति मे, चालुक्य वश तथा राष्ट्रकूट वशी भोर संग्रहालय ताम्रपत्र मे उस वश के राजाओं के नाम उल्लिखित हैं। बगाल के पाल वश के राजाओ के विषय म खालीमपुर ताम्रपत्र विशेष उल्लेखनीय हे। इस तरह प्राचीन लेखो के अध्ययन से अनेक भारतीय शासको के वश वृक्ष का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

उत्कीर्ण लेखो के अतिरिक्त मुद्रा-लेखो से भी भारतीय इतिहास निर्माण मे सहायता मिलती हे। उदाहरणार्थ सम्भूति का नाम सर्वप्रथम सिक्के पर ही खुदा मिला हे। इतिहास मे ऐसे काल विभाग है जिनका ज्ञान मुद्रा-लेख से उपलब्ध हुआ है। जटिल प्रश्न भी सुलझ जाते है। अज्ञात युग पर प्रकाश पडता है। भारतीय यूनानी तथा शक राजाओं के सिक्को का अध्ययन हो उनके इतिहास को प्रकाशित करता है। उनके लेख शासको के नाम तथा क्रम को निश्चित करते हैं। मुद्रा लेखो के आधार पर राजाओ की सख्या बतलाई जाती है। पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप सिक्को पर शासक का नाम तथा तिथि का उल्लेख मिलता है जिससे राजाओ की वशावली तथा शासन का क्रम प्राय निश्चित हो सका है। उदाहरण के लिए राज्ञो महाक्षत्रपस रुद्रसिहस पुत्रस महाक्षत्रपस सगदामन लेख के साथ तिथि १४४ (१४४ + ७८ = २२२ ई०) अकित है।

गण सिक्के भी शासक का नाम बतलाते हैं। कुणिन्द के सिक्कों पर 'राज्ञो कणीदस अमोघ भूतिस महरजस' खुदा मिला है। कुषाण सिक्को पर कदफिस कनिष्क तथा वासुदेव आदि के नाम मिलते है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रशस्तियो के अतिरिक्त सिक्को मे राजाओ के नाम मिल जाते हैं। इस परम्परा से गुप्त सिक्के पृथक् नही थे। अंत मे यह कहना आवश्यक हो जाता है कि प्रशस्तियो के सदृश मुद्रा-लेखो से वशावली का ज्ञान नही हो सकता। केवल क्षत्रप सिक्के दो पीढियो के नाम उपस्थित करते है। अन्यथा व्यक्तिगत नाम तथा तिथि की जानकारी सिक्को पर खुदे मुद्रा-लेख से होती है। कौशाम्बी मे प्राप्त सिक्को के आधार पर नए मग वश का पता चलता है। उनके विषय मे अन्य साधन अज्ञात थे।

प्राय उत्कीर्ण लेखो मे किसी-न-किसी वश के शासक के विजय यात्रा, युद्धगाथा तथा सन्धि की बातें वर्णित रहती हैं। अशोक के तेरहवें शिलालेख से ही यह ज्ञात हो सका कि वह कलिंग पर युद्ध करने के पश्चात् अहिंसा का पालक हो गया। भेरी घोष को धम्म घोष मे परिवर्तित कर दिया और उसने बुद्धमत के प्रसार निमित्त देशान्तर में धर्मदूत भेजे। अयोध्या का लेख यह स्पष्ट कर

युद्ध-गाथा

देता है कि पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध किया था [द्विरश्वमेधयाजिन' सेनापतें. पुष्यमित्रस्य] पूरब मे उदयगिरि के हाथी गुम्फा लेख मे खारवेल का विजय वर्णित है। नासिक से प्राप्त लेखो मे सातवाहन राजा गोतमीपुत्र शातकर्णि तथा क्षत्रप नहपान के युद्ध का वर्णन पाया जाता है। इस वर्णन से प्रकट होता है कि नहपान को गोतमीपुत्र शातकर्णि ने परास्त किया था। जिसकी पुष्टि जोगलथम्बी सिक्को से होती है। नहपान के दस हजार चाँदी के सिक्को को गोतमीपुत्र शातकर्णि ने पुन. मुद्रित किया था। काठियावाड का जूनागढ़ लेख वर्णन करता है, कि महा-क्षत्रप रुद्रदामन ने १५० ई० मे अपने वश की खोई प्रतिष्ठा को पुन स्थापित किया तथा वह पुलमावि को परास्तकर मालवा, महाराष्ट्र, काठियावाड, सिन्ध आदि प्रातो पर राज्य करने लगा। दूसरी शती मे सातवाहन नरेश गोतमीपुत्र यज्ञ श्री शातकर्णि ने विजय कर शकक्षत्रप नरेशो को पुन नीचा दिखाया। नासिक, कार्ले, कनहेरी तथा जूनार आदि स्थानो पर उसके लेख मिले हैं। इस विजय के स्वरूप यज्ञश्री ने चाँदी के सिक्के भी प्रचलित किए। उन्ही क्षत्रपो को चौथी सदी मे गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने परास्त कर गुप्त साम्राज्य को पश्चिमी भारत तक विस्तृत किया था। उदयगिरि (भिलसा के समीप) गुहालेख उस विजय को प्रमाणित करता है (कृत्स्न पृथवी जयार्थेन राज्ञैवेह सहागत) मेहरौली का स्तम्भ लेख भी उसके विजय का द्योतक है। उसके पिता समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन हरिषेण ने प्रयाग के स्तम्भ-लेख मे किया है जिससे प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त मध्य प्रदेश होकर तथा उडीसा पारकर काची तक गया था। दक्षिण के राजाओ को परास्त कर उसने मुक्त भी कर दिया। हरिषेण ने उत्तरी भारत के नागवशी राजाओ के पराजय का सुन्दर वर्णन प्रयाग की प्रशस्ति मे किया है।

स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ लेख के अध्ययन से विदित होता है कि हूणो ने कुमार-गुप्त की वृद्धावस्था मे गुप्त राज्य पर आक्रमण किया था। उनका बडी कठिनाई से स्कन्द ने परास्त किया। वर्णन निम्न प्रकार है—

(१) हूर्णैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्म्यां धरा कपिता
(२) विचलित कुल लक्ष्मी-स्तम्भनायोद्यतेन
(३) पितरि दिवमपेते विप्लुता वश-लक्ष्मी
भुजबल विजतारिर्य्य. प्रतिष्ठाप्य भूय । (का० इ० इ० ३ पृ० ५३)

छठी सदी के राजा यशोधर्मन के मदसोर लेख मे ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त के बाद हूणो का आधिपत्य मध्य भारत मे हो गया था। तोरमाण का एरण लेख (का० इ० इ० ३पृ० १५९) तथा मिहिरगुल की ग्वालियर प्रशस्ति (वही पृ० १६२) इसके प्रमाण है। हूण नरेश ग्वालियर के भूभाग मे शासन कर रहे थे। यशोधर्मन ने पुन उन्हे परास्त किया जो उसकी प्रशस्ति से स्पष्ट हो जाता है।

ये भुक्ता गुप्त नार्थैर्न सकल वसुधा क्रान्ति दृष्ट प्रतापै
र्नाज्ञा हूणाधिपाना क्षितिपति मुकुटाद्ध्यासिनी यान्प्रविष्ठा

इस प्रकार के उल्लेखो मे युद्ध की कहानी ज्ञात हो जाती है।

मध्य युग के आरम्भ से ही उत्तर तथा दक्षिण के शासको की युद्धगाथा उनकी प्रश-स्तियो मे मिलती है। हरहा लेख मे ईशान वर्मा मौखरि को विजय कथा मिलती है तो कमौली के ताम्रपत्रो मे गोविन्द चन्द्रदेव की चर्चा है। अयहोल के लेख मे द्वितीय पुलकेशी द्वारा अनेक

राजाओ के अतिरिक्त कन्नौज नरेश हर्षवर्धन के पराजय का वर्णन मिलता है। भोर संग्रहालय ताम्रपत्र में राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग, कृष्ण तथा ध्रुव आदि के युद्धो का विवरण पाया जाता है। उदाहरणार्थ सुनिए—

श्री काची पति गंगवेगीकयुता ये मालवेशादय
प्राज्याना नयतिस्म तान् क्षितिभृतो य. प्रातिराज्यानपि

पाल राजा धर्मपाल के साथ युद्ध को सूचना निम्न पंक्ति से मिलती है—

गंगा यमुनयोर्मध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यतः
लक्ष्मी लीला विन्दानि स्वेत छत्राणि यो हरत्। (सजान लेख)

पूर्वी भारत मे बगाल का शासक धर्मपाल भी एक विजयी नरेश था। उसके विजय का वर्णन खालीमपुर ताम्रपत्र पर उल्लिखित है। कन्नौज के राजा इन्द्रायुध को परास्त कर चक्रायुध को गद्दी पर बैठाया जिस कार्य को अनेक शासको ने स्वीकार किया। बारहवें पद्य मे वर्णन है—

भोजैरमत्स्यै समद्रै कुरु यदुयवन अवन्ति गान्धार किरैर भूपति,
व्यालौल मौलि प्रणति परिणतै. साधू संगीर्यमान
हृस्यति पंचाल वृद्धो धृतकनकमय स्वाभिषेकोदकुम्भो
दत्त श्री कान्यकुब्ज सललित चलित भ्रूलता लक्ष्मयेन।

इस प्रकार अनेक उदाहरणो द्वारा यह प्रमाणित किया जा सकता है कि लेखो के अध्ययन से विभिन्न शासको के युद्ध व विजय का वृत्तात सुलभ हो सकता है।

राज्य सीमा

प्राचीन समय मे लेख विशिष्ट स्थान पर उत्कीर्ण कराये जाते थे तथा उद्देश्य की पूर्ति के लिए शासको ने विभिन्न स्थानो पर खुदवाया। सीमा पर खुदवाने का विशेष महत्व था। विजय अथवा आज्ञा सम्बन्धी घोषणा प्रजा के लिए उतना ही आवश्यक थी जितनी प्रत्यन्त नृपति के लिए।

मौर्य सम्राट् अशोक के धर्म लेखो के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष का अधिक भाग मौर्य शासन मे रहा। पश्चिमी भाग मे अफगानिस्तान से उडीसा तक तथा हिमालय की तराई से (नेपाल की तराई का स्तम्भ लेख रुम्मनदेई तथा कालसी का लेख) मद्रास प्रान्त के येरुगुडी (करनूल जिला) तक अशोक के शिलालेख पाये जाते हैं। इसमे यह कहा जाता है कि उतने भूभाग पर उसका राज्य विस्तृत था। अशोक के द्वितीय तथा तेरहवे शिलालेख मे प्रत्यन्त (सीमा) नृपतियो के नाम मिलते हैं जिससे पूर्व कथित बातो को बल मिलता है। चोल, पाड्य, केरल आदि राज्यो को छोडकर समस्त भारत पर उसका शासन था। मौर्य युग के पश्चात् सातवाहन वश का राज्य-विस्तार अभिलेखो तथा सिक्को की प्राप्ति से ज्ञात हो जाता है। शातकर्णि राजा का नाम साची के दक्षिण तोरण पर खुदा है। उसका नाम नानाघाट के लेख (पूना के समीप) मे उल्लिखित है तथा उसी को हाथी गुम्फा लेख मे पश्चिम दिशा का शासक कहा गया है। इससे यह प्रकट होता है कि मालवा से महाराष्ट्र तक उसका राज्य फैला था। उसके कई सदियो बाद सातवाहन राजाओ के लेख नासिक, कार्ले, कनहेरी आदि स्थानो से मिले हैं तथा उनकी मुद्राओ की उपलब्धि आन्ध्रप्रदेश, मैसूर, बम्बई तथा महाराष्ट्र प्रदेशो से हुई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सातवाहन नरेश उन प्रदेशों पर अवश्य शासन करते रहे। क्षत्रप राजा नहपान का लेख भी उन्ही स्थानो से (नासिक, कार्ले तथा जूनार)

प्राप्त हुए है जिसके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि नहपान अजमेर से पूना तक राज्य करता था और उसको परास्त कर ही सातवाहन नरेश गोतमीपुत्र शातकर्णि तथा उसके वंशज शासन करने लगे । क्षत्रप तथा सातवाहन अभिलेखो के अध्ययन से दोनो वंशो के परम्परागत शत्रुता तथा पराजय व विजय का परिज्ञान हो जाता है ।

नहपान तथा पुलमावि के नासिक गुहा लेखो के अनुशीलन से विदित हो जाता है कि नहपान जिस भूभाग पर शासन करता था उस पर सातवाहन का आधिपत्य हो गया । इस परिणाम पर पहुँचने का कारण यह है कि दोनो नासिक लेखो मे प्राय एक ही प्रदेशो के नाम उल्लिखित है जिन पर नहपान के पश्चात् गोतमी पुत्र शातकर्णि ने अधिकार कर लिया । भरुकच्छ (भरौंच) दशपुर (मालवा) गोवर्धन (नासिक) शोर्पारगे (सोपारा) प्रभास (काठियावाड) नहपान के राज्य विस्तार बतलाते है । पुलमावि के लेख मे सुरठ (सौराष्ट्र) कुकुरापरान्त (बम्बई प्रदेश) विदर्भ (बरार) तथा आकरावन्ती (मालवा) सातवाहन राज्य की सीमा बतलाते है । आन्ध्रप्रदेश भी इनके अधिकार मे था । दूसरी सदी मे महाक्षत्रप रुद्रदामन सातवाहन नरेश को पराजित कर मालवा, काठियावाड, साबरमती तथा राजपूताना का स्वामी बन गया (जूनागढशिलालेख) इस प्रकार महाराष्ट्र, मैसूर, आध्रप्रदेश तथा बरार पर सातवाहन शासन शेष रह सका । नर्वदा, ताप्ती के उत्तरी भाग पर क्षत्रपो का पूर्ण आधिपत्य रह गया । सातवाहन राजाओ के सिक्के भी आध्रप्रदेश, मैसूर, बम्बई तथा महाराष्ट्र मे मिले है जिनसे उनके स्वामित्व की वार्ता पुष्ट होती है । इस अध्ययन से ज्ञात होता है कि क्षत्रप तथा सातवाहन अभिलेख दोनो राजवशो के पारस्परिक युद्ध तथा विकास एव पतन की चर्चा करते है तथा दक्षिण पर आधिपत्य की कहानी सुनाते है ।

उत्तर पश्चिम भारत मे ईसवी सन् के बाद कुषाण शासन पेशावर मे काशी तक विस्तृत था । पूर्वी सीमा के प्रमाण मे सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा का लेख (अ० स० ३) उपस्थित किया जा सकता है । उस मूर्ति लेख मे यह वर्णन मिलता है कि कनिष्क के तीसरे राज्य वर्ष मे महाक्षत्रप खरपल्लाना (जो कनिष्क का राज्यपाल था) के समय यह प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई । अतएव यह निर्विवाद है कि सारनाथ तक कनिष्क का राज्य फैला था । भोपाल से कनिष्क का लेख प्राप्त हुआ है अत मध्यप्रदेश के भूभाग पर भी वह शासन करता रहा । गुप्त वश के अभिलेख मे भी राजाओ के दिग्विजय तथा राज्य विस्तार की वार्ता वर्णित है । प्रयाग स्तम्भ लेख मे हरिषेण ने समुद्रगुप्त द्वारा विजित नरेशो का नामोल्लेख किया है, उसमे "दक्षिणापथ राज ग्रहण मोक्ष" वाक्य मिलता है जिससे सिद्ध होता है कि समुद्रगुप्त ने 'धर्म विजयी' नीति को ध्यान मे रखकर समस्त राजाओ को मुक्त कर दिया था । उत्तरी भारत के नागवशी (मथुरा के समीप) राजाओ को परास्त कर उत्तर प्रदेश तक राज्य विस्तृत किया । उसके पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त के उदयगिरि (भिलसा के पास) तथा साची के लेख बतलाते है कि सम्राट् ने मालवा पर अधिकार कर लिया था । उसके सेनापति ने वर्णन किया है—

कृत्स्न पृथवी जयार्थेन राज्ञै सह सहागत ।

पाटलिपुत्र से वीरसेन इस प्रदेश को जीतने के लिए राजा के साथ वहाँ (मालवा) गया । इसके अतिरिक्त द्वितीय चन्द्रगुप्त के चादी के सिक्के यह बतलाते है कि सौराष्ट्र तथा काठियावाड के शासक क्षत्रपो के जीतने के पश्चात् ही उसने सर्वप्रथम रजत मुद्राओ का प्रचलन

किया (जो क्षत्रप सिक्कों के अनुकरण पर निकाले गए ।) जूनागढ़ का शिलालेख यह प्रमाणित करता है कि सौराष्ट्र स्कन्द गुप्त के अधिकार मे था और उसके शासन पश्चात् पृथक् हो गया । कालान्तर मे गुप्त वंश की अवनति आरम्भ हो गई । अवनति काल में भी बुद्ध गुप्त का राज्य-विस्तार की जानकारी उसके एरण (मध्य प्रदेश) सारनाथ प्रतिमा लेख (उत्तर प्रदेश) नालंदा की मुद्रा (बिहार) तथा दामोदरपुर के ताम्रपत्र (उत्तरी बगाल) से होती है तथा ज्ञात होता है कि बंगाल से उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश तक बुद्धगुप्त पाचवी शती के अंत मे शासन करता था । गुप्त युग के पश्चात् भारत मे कई छोटे-छोटे राज्य हो गए तथा साम्राज्य की भावना का अन्त हो गया । लेखों के प्राप्ति स्थान से उस वश का प्रभाव अवश्य ज्ञात हो जाता है । उदाहरणार्थ मौखरि वश का लेख हरहा (बाराबकी जिला) तथा नागार्जुनी गुहा (गया जिला) से मिले हैं जो सिद्ध करते है कि गया से अवध तक मौखरि वश का प्रभाव विस्तृत था । पालवंशी राजा धर्मपाल के अभिलेख तथा अन्य राजकीय लेखो से यह प्रमाणित होता है कि धर्मपाल ने गुर्जर प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट अधिकार हटाकर कन्नौज पर शासन स्थापित किया । उत्तरी बिहार तथा मगध मे प्राप्त (मुंगेर, भागलपुर व नालदा आदि) पालवशी लेख बिहार प्रान्त को पाल राजाओ के अधीन घोषित करते है । यह स्थिति बीसवी सदी तक बनी रही जब कि १९१२ ई० मे बगाल से बिहार का प्रदेश पृथक् किया गया ।

राजाओ की समकालीनता

लेखो मे सरक्षक के वर्णन के अतिरिक्त समकालीन शासको के नाम भी प्रसग वश मिलते है अथवा राजा के साथ युद्ध मे सहायक या प्रतिद्वन्दी का नाम देना प्रशस्तिकार के लिए आवश्यक ही था । इसी कारण अशोक के द्वितीय प्रधान शिलालेख में चोडा, पाण्ड्या, सतियपुतो, केतल पुतो आदि छोटे राजाओ के नाम आते हैं जो सुदूर दक्षिण मे शासन करते थे । उसी प्रसंग मे यवन राजा अन्तियोक का भी नाम आता है । तेरहवे प्रधान लेख मे भी उन राजाओ तथा कुछ अन्य शासको (अन्तिकोन, मग आदि कई यूनानी राजाओ) के नाम मिलते है जिन्हे अशोक ने धर्म से प्रभावित किया था । ईसवी पूर्व पहली सदी मे कुषाण राजा कुजुल कदफिस के सिक्के पर हरमेयस का नाम भी मिलता है जिससे प्रकट होता है कि यूनानी राजा हरमेयस कुजुल कुषाण का समकालीन शासक था । गिरनार के लेख मे रुद्रदामन के द्वारा सातवाहन राजा के परास्त करने का उल्लेख मिलता है । इसमे पता चलता है कि महाक्षत्रप रुद्रदामन सातवाहन नरेश गौतमी पुत्र शातकर्णि या पुलमावि का समकालीन था । इसी प्रकार हरिषेण ने प्रयाग की प्रशस्ति मे उन राजाओ के नाम दिए है जो भारत मे राज्य करते थे और जिनको समुद्रगुप्त ने पराजित किया । इनके अतिरिक्त प्रत्यन्त नृपति (सीमा पर राज्य करने वाले शासक) के भी नाम आये है । अत उस सूची में ऐसे राजाओ के नाम है जो समुद्रगुप्त के समकालीन माने जा सकते है । कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त के लेखो मे हूण आक्रमण का वृत्तान्त मिलता है । सम्भवत तोरमाण स्कन्दगुप्त का समकालीन शासक था । पिछले गुप्त वश के अपसद लेख मे हर्ष वर्धन के साथ माधवगुप्त का सम्बन्ध बतलाया गया है । अतएव दोनो को समकालीन मानने मे किसी को आपत्ति नही हो सकती । अयहोल लेख हर्ष तथा द्वितीय पुलकेशी के युद्ध द्वारा समकालीनता सिद्ध करता है । कहने का तात्पर्य यह है कि लेखों के आधार पर राजाओ की समकालीनता स्थिर करने में बड़ी सहायता मिलती है और

उस प्रमाण के सहारे अनेक राजाओ की तिथि निश्चित की जाती है ।

भारतीय लेखो के अध्ययन से प्राचीन भारत के शासन-पद्धति का ज्ञान भी सुलभ हो जाता है । प्रशस्ति उत्कीर्ण करते अथवा राजाज्ञा प्रसारित करते समय कुछ पदाधिकारियों का उल्लेख आवश्यक रूप मे किया जाता था । जिन कर्मचारियो से

शासन-व्यवस्था

सम्बन्धित आज्ञा अथवा प्रजा हित के लिए जैसी आज्ञा घोषित होती, दोनो अवस्थाओ मे पदाधिकारियो को पदेन सम्बोधित करना पडता था । दान के कारण विभिन्न परिस्थिति उत्पन्न हो जाती हैं । जिन अग्रहार का विवरण दान-पत्रो मे लिखित रहता, उससे सम्बन्धित समस्त कर्मचारियो का उल्लेख नितान्त आवश्यक था । जिस भूमि से राजकर ग्रहण किया जाता, दान देने पर उसका स्वामित्व दानग्राही को मिल जाता था । अतएव राज कर्मचारियो को यह बतलाना आवश्यक था कि अमुक क्षेत्र म कर (टैक्स) की वसूली नही की जाय । यही कारण है कि ताम्रपट्टियो पर विभिन्न पदाधिकारियो के नाम उल्लिखित किये जाते थे ।

मौर्य कालीन शासन व्यवस्था का परिज्ञान अशोक के लेखो से होता है । यद्यपि कौटिल्य ने अर्थ-शास्त्र मे शासन-पद्धति का विस्तृत विवरण दिया है तथापि अशोक के पाँचवें शिलालेख मे धर्ममहामात्र नामक नए कर्मचारी की नियुक्ति का वर्णन है । तीसरे शिलालेख मे राजुक, प्रादेशिक तथा युक्त नामक पदाधिकारियो को प्रजाहित के लिए राज्य मे भ्रमण करने की आज्ञा दी गई थी । चौथे स्तम्भ लेख मे अशोक ने स्वय राजुक तथा परिषद् के विभिन्न कार्यो का विवेचन किया है । उन्हें प्रजा हित के चिन्तन पर विशेष बल दिया है । उसके लेखो से पता चलता है कि पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, तक्षशिला, उज्जैयिनी, तोसल्ली, सुवर्णगिरि नामक प्रातो मे साम्राज्य विभक्त था । वहाँ राजकुमार ही प्रातपति के रूप मे शासन करते रहे । कोसंबिय महामात्र (कौशाम्बी स्तम्भ लेख) तोसलियं महामात्र (धौली का पृथक् शिलालेख), उजेनिते पि चु कुमाले, तखशिलाते (वही) समापायं महामता (जौगढ लेख) पाटलिपुत्र (सारनाथ स्तम्भ लेख) तथा सुवर्ण गिरिते अयपुतस महामातान (सिद्धपुर शिलालेख) आदि उद्धरण उपरियुक्त कथन को प्रमाणित करते हैं । सम्भवत कई सदियो तक यही प्रणाली कार्यान्वित होती रही ।

ईसवी सन् के पश्चात् कुषाण नरेशो के राज्यपाल, सारनाथ मथुरा तथा काठियावाड मे शासन करते रहे । तत्पश्चात् गुप्त लेखो म गुप्त शासन प्रणाली का विस्तृत वर्णन पाया जाता है । प्रयाग के स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि हरिषेण, महादण्डनायक, सन्धिविग्रहिक तथा कुमारामात्य के पद को सुशोभित कर चुका था । द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय मे सनकानिक महाराज सामत तथा वीरसेर सेनापति था [उदयगिरि का लेख] गुप्त लेख यह बतलाते है कि साम्राज्य कई प्रातो मे बटा हुआ था । तिराभुक्ति (तिरहुत, बिहार) काठियावाड, मंदसोर (मालवा) कौशाम्बी, (उत्तर प्रदेश) पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति (उत्तरी बगाल) तथा श्रीनगर भुक्ति (पाटलिपुत्र) के नाम मिलते हैं । पहला नाम वैशाली की मुहर (तीराभुक्त्या उपरिकर अधिकरणस्य) मे उल्लिखित है । इन प्रातो (भुक्ति) पर शासन करने वाले राज्यपाल के नाम भी गुप्त लेखो से प्राप्त होते हैं तथा राष्ट्रीय, भोगिक, भोगपति तथा गोप्ता शब्दो का प्रयोग उस पद के लिए किया गया है (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—लेखक का ग्रथ—गुप्त साम्राज्य

का इतिहास भाग २) प्रथम कुमारगुप्त तथा स्कन्धगुप्त के लेख इस विषय मे अधिक सहायक सिद्ध हुए है। प्रांतो को जिला (विषय) में विभक्त किया गया था जिसके सम्बन्ध मे विशेष उल्लेख वैशाली की मुहरो तथा दामोदरपुर (उत्तरी बगाल) के ताम्रपत्रो मे मिलता है। इसका अध्ययन यह बतलाता है कि मंत्रीगण पाँच वर्ष के लिए नियुक्त होते थे। नगर के कार्यालय को अधिकरण कहते थे। वैशाली के मुहरो मे कुमारामात्य पदवी भी मिलती है। कुमारगुप्त के करम दण्डा शिवलिङ्ग लेख से स्पष्ट प्रकट होता है कि गुप्तकाल मे मत्रीपद वशानुगत था। द्वितीय चन्द्रगुप्त के मत्री शिखरस्वामी के पश्चात् उसका [त्र पृथिवीषेण गुप्त सम्राट् प्रथम कुमार गुप्त के मत्री पद पर आसीन था।

काठियावाड के राज्यपाल पर्णदत्त तथा नगर के शासक चक्रपालित की नियुक्ति स्कन्दगुप्त ने की थी। जिसका वर्णन जूनागढ के लेख मे निम्न प्रकार से मिलता है—

आ ज्ञातमेक खलु पर्णदत्तो भारस्यतस्यो द्वहने समर्थ।

पूर्वेतरस्या दिशि पर्णदन्तं नियुज्य राजा धृतिमास्तथाभूत।

चक्रपालित के लिए लिखा है—

य मन्निभुक्तो नगरस्य रक्षा विशिष्य पूर्वान् प्रचकार सम्यक्।

यदि मध्ययुग के आरम्भ से ही ताम्रपत्रो का अध्ययन किया जाय तो प्रकट होता है कि राजा सरकारी कर्मचारियो को दान की सूचना देते समय सम्बोधित करता था। बामखेडा खालीमपुर, नालंदा, मुगेर आदि ताम्रपत्रो मे अनेक पदाधिकारियो का उल्लेख किया गया है। निम्नलिखित सूची से उसका परिज्ञान हो जाता है।

राजा राजानक राजपुत्र, राजामात्य, सेनापति, विषयपति, भोगपति, षष्ठाधिकृत, दण्डशक्ति दण्डपाशिक, चौराद्धरणिक, दौहसाधनिक, दूत, खोल गमागमिक अभित्वरमाण, हस्तस्वगोमहिष्यजाविकाध्यक्ष, नौकाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, तारिक, शौल्किक, गुल्मिक, आयुक्तक, चाट, भट, ज्येष्ठ कायस्थ, महामहत्तर दशग्रामिक, विषय व्यवहारिन (खालीमपुर ताम्रपत्र), महाप्रभातर, महासामन्त महाक्षपटलिक, रणाधिकृत आदि पदाधिकारियो के नाम। विषय के अन्तर्गत अनक ग्राम थे जिसका मुखिया महत्तर कहलाता और ग्राम की इकाई स्वतत्र थी।

प्रशस्तियो तथा मुद्रा-लेख का अध्ययन यह बतलाता है कि प्राचीन युग मे दो प्रकार के शासन-राजतंत्र तथा प्रजातत्र वर्तमान थे। प्रजातत्र के लिए गण या सघ शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्य ने साम्राज्य भावना को प्रोत्साहित किया परन्तु सघ शासन को नष्ट न कर सका। उत्तरी बिहार मे वृज्जि सघ इतिहास मे प्रसिद्ध प्रजातंत्र था। अशोक के शासनकाल मे वही विचारधारा काम करती रही। उसने राजतत्र को ही बल दिया और उसके प्रभाव से राजतत्र को प्रतिष्ठा भी स्थिर हो गई। साम्राज्य की शक्ति के कारण सघ शासक सिर न उठा सके। अभिलेखो के अनुशीलन से पता चलता है कि राजतत्र के साथ संघशासन भी प्रचलित रहा। ईसा पूर्व सदियों मे प्रचलित भारतीय सिक्को का मुद्रालेख इस बात को प्रमाणित करते हैं। यौधेय, कुणिन्द, आर्जुनायन, तथा मालव सघ शासको के सिक्को पर निम्न लेखा खुदा है—यौधेय गणस्य जय, मालवाना गणस्य जय आर्जुनायनाना जय आदि। लेख ऊपर लिखे कथन की पुष्टि करते है। मालव गण का उल्लेख तथा

राजतत्र व प्रजातत्र प्रणाली

यौधेय गण का वर्णन शक नरेश नहपान के नासिक तथा रुद्रदामन के जूनागढ लेखो मे क्रमशः पाया जाता है। [ए० इ० भा० ८ वीर शब्द जातोत्सेका विधेयाना यौधेयाना] समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख मे विदित होता है कि गुप्त नरेशो ने "मालवार्जुनायन यौधेय माद्रकाभीर" सघो को परास्त किया था। इसके बाद सघ शासन का अस्तित्व मिट गया। तात्पर्य यह है कि ईसा पूर्व तीसरी सदी से चौथी शताब्दी यानी सात सौ वर्षो तक दो प्रकार के शासन (राजतंत्र तथा प्रजातत्र) भारत मे प्रचलित थे जिनका उल्लेख अभिलेखो मे पाया जाता है। इसके बाद प्रजातत्र राजतत्र मे विलीन हो गया। मध्ययुग से सघ शासको (सभापति) की कोई पदवी लेखो मे नही पाई जाती। साम्राज्य स्थापना के पश्चात् राजाओ की महान् पदवियो का विवरण मिलता है।

अशोक के लेखो मे उन महान पदवियो के नाम नही आते है जिनका उल्लेख मौर्य युग के पश्चात् लेखो मे सर्वत्र पाया जाता है। शक पह्लव राजाओ के सिक्का पर यूनानी पदवी 'वैसिलियम वैसिलयन' का प्राकृत अनुवाद 'महरजस रजरजस महतस' अकित मिलता है। उन्ही के लिए प्रयाग स्तम्भ लेख मे शाहानुशाई पदवी लिखी गयी है। पश्चिमी भारत के शक शासको के सिक्को पर महाक्षत्रप की उपाधि अकित है जो राजा के समान स्वतत्र पदवी थी। गुप्त काल मे राजकोय पदवियो का ढग ही बदल गया। सर्वप्रथम गुप्त राजा महाराज की पदवी से विभूपित था। प्रथम चन्द्रगुप्त ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण कर महान सम्राट् होने की घोषणा की। लेखो मे परमेश्वर चक्रवर्ती या सम्राट् भी उसी तरह प्रयुक्त किया जाता था। उसके उत्तराधिकारी द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने सम्राट् की पदवी के साथ परमभागवत की धार्मिक उपाधि ग्रहण की। इदौर के ताम्रपत्र मे सर्वप्रथम गुप्त सम्राट के लिए परमभट्टारक महाराजाधिराज की उपाधि मिलती है और उसी समय मे प्रचलित होकर पूर्व मध्यकाल की प्रशस्तियो मे प्रयुक्त है। हर्षवर्धन के तथा मौखरि वशी लेखो मे राजा के लिए महाराजाधिराज की पदवी ही मिली है। पिछले गुप्त तथा अन्य समकालीन राजाओ के लिए उससे भी महान पदवी "परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर" का उल्लेख कर और उनकी रानियो के लिए भी 'परमभट्टारिका' लिखकर महान राजा होने का व्यर्थ दावा किया गया है। पूर्व मध्यकाल मे सारा देश छोटे-छोटे राज्यो मे बटा था, अत. उन छोटे-छोटे शासको के लिये वही उपाधि अर्थहीन सिद्ध होती है। केवल पदवी धारण करने से महान् सम्राट नही बन सकते। इसी कारण लेखो मे उल्लिखित पदवियाँ निरर्थक है। उदाहरणार्थ 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' जीवित गुप्त ऐसे छोटे राजा के लिए प्रयुक्त है। बल्लभी दानपत्र मे साधारण शासक की पदवी परममाहेश्वर परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर चक्रवर्ती, उल्लिखित है (ए० इ० पृ० (७)। गुप्त राजाओ को वास्तविक सम्राट् होने पर भी इस महान उपाधि के धारण करने का अवसर न मिल सका जिसे कालान्तर मे छोटे-छोटे राजाओ ने ग्रहण किया था।

लेखो मे पता चलता है कि सारा राज्य कई प्रातो मे विभक्त था जिसको "भुक्ति" कहते थे। "भुक्ति" के छोटे जिलो की इकाई को प्रशस्तियो मे 'विषय' कहा गया है। शासन के सुप्रबंध के लिए इसे भी उपविभागों मे बाटा गया था। जो "ग्राम" के नाम से

प्रसिद्ध थे। केन्द्र में राजा स्वयं शासन करता था और उसके सलाह के लिए मंत्रिपरिषद नियुक्त था, उसे अशोक के प्रधान शिलालेखो मे परिषद कहा गया है।

अशोक ने कलिंग लेख मे कहा है "मेरी प्रजा मेरे बच्चो के समान है और मै चाहता हूं कि सबको इस लोक तथा परलोक में सुख तथा शांति मिले।" प्राचीन राजाओ का यह आदर्श था जिसके कारण राजा तथा प्रजा सुख शांतिमय जीवन व्यतीत करते थे।

धौली के पृथक शिलालेख मे अशोक ने कहा था—

"सवे मुनिमे पजा ममा। अथा पजाये इच्छामि हक
कित सवेन हित सुखेन हिदलोकिके पाललोकिके"

उसके पश्चात् भी राजा सदा प्रजा-चिन्तन में लगा रहता था। जूनागढ के लेख मे महाक्षत्रप रुद्रदामन ने उल्लेख किया है कि मंत्रियो के विरोध करने पर भी प्रजा के सुख तथा भलाई के लिए निजी धन से उसने बाध बधवाया था। (अपीडयित्वा करविष्टि प्रणय क्रियाभि पौरजानपद जन स्वस्मात्कोशा महता त्रिगुण दृढतर विस्तारायाम सेतु विधाय सर्वतटे सुदर्शन तर कारितमिति (ए० इ० ८ पृ० ४२) उसी स्थान पर उत्कीर्ण गुप्त लेख से पता चलता है कि स्कन्द गुप्त भी पश्चिमी प्रांत के योग्य शासक के लिए चिन्तित रहा करता था। (सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तृन सचिन्तया मास वहु प्रकारम्) इस प्रकार राजाओं के गुण के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी बढती है।

इतना ही नहीं, पाल नरेश धर्मपाल के खालीमपुर लेख से विदित होता है कि उसके पिता गोपाल ने 'मात्स्यन्याय' को समाप्त कर बगाल मे शांति की स्थापना की। इसीलिए जनता ने उसे पालवंश का शासक घोषित किया (ए० इ० ४)।

मात्स्यन्यायमुपोहितु प्रकृतिभि लक्ष्मा' कर ग्राहित
श्री गोपाल इति क्षितिश शिरशा चूडामणि तत्सुत।

इन सब विवरणो के आधार पर राजा के प्रजाहित चिन्तन तथा आदर्श राजशासन की बातो का परिज्ञान हो जाता है।

अभिलेखो मे उल्लिखित पदाधिकारी

इसको पुनरावृति की आवश्यकता नही है कि पूर्व मध्ययुग के ताम्रपत्रो मे पदाधिकारियो के अधिक नाम मिलते है। इसका एक मात्र कारण यह था कि दान करते समय अग्रहार पर भूमि को स्वामित्व दानग्राही को सौंप दिया जाता था। उस समय से दान-भूमि से प्रत्येक प्रकार का कर दानग्राही ग्रहण करता। इसलिए यह आवश्यक था कि सभी अधिकारियो को दान-भूमि के सम्बन्ध मे सूचना मिल जाय, ताकि कालान्तर मे उस क्षेत्र से भूमि-कर ग्रहण करने का प्रबध न किया जाय। इसी प्रसग मे दान कर्त्ता (शासक) की पदवियां उल्लिखित है। लेखो मे पदाधिकारियो की चर्चा आज्ञा प्रदान करते समय की गई है। गुप्त लेख वैशाली की मुहरे तथा मध्ययुगी प्रशस्तियो मे अधिक नाम मिलते है। कन्नौज के शासको के अभिलेख मे सभी नाम मिलते है (ए० इ० भा० १४ पृ० १९४)। वर्ण-क्रम से निम्नलिखित उपाधियो की जानकारी लाभकर होगी।

अन्तःपुरिक—महल का प्रबंधक। पहले इसके लिए प्रतिहार शब्द का प्रयोग किया जाता था।

(विजयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र) अशोक के लेख मे "स्त्रीध्यक्ष महामात्र" का भी यही कार्य था।

अन्तपाल—सीमा अधिकारी वह साम्राज्य की सीमा को निगरानी करता था।

अन्त महामात्र—सीमा सम्बन्धी राजनीति-विचारक। (अशोक का स्तम्भलेख ७वा)

अग्रहारिक—दान तथा अग्रहारभूमि का पदाधिकारी उसे 'दानाध्यक्ष' भी कहा गया है। अशोक के लेख मे धर्ममहामात्र के नाम से उल्लेख मिलता है।

आयुधगाराध्यक्ष—शस्त्रशाला का अध्यक्ष।

अक्षपटलिक—लेख-प्रमाण का सुरक्षित करने वाला। मध्ययुग के लेखो मे इसी को "महाक्ष-पटलिक" कहा गया है (विजयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र)

आकराध्यक्ष—खान का निरीक्षक।

अश्वाध्यक्ष—घुडसवारो का उच्च अधिकारी। पूर्व मध्ययुग के कमौली ताम्रपत्र अभिलेखो मे 'भटाश्वपति' का नाम मिलता है जो पैदल तथा अश्वारोही टुकडी का अधीक्षक होता था। (गहडवाल ताम्रपत्र)

आटविक—जगली जातियो का मुख्य।

आमात्य—सचिव, कुमारामात्य से तात्पर्य राजकुमार के सचिव से है जो राज्यपाल की सहायता करता था (कमौली ताम्रपत्र)

उपरिक— } प्रात का पति [वर्तमान राज्यपाल, गुप्त मुद्राओ के उपरिक महाराज]— वैशाली मुहर
उपारिक— } या जमीन नापने वाला

करणिक अथवा कारणिक—हिसाब देखने वाला (वर्तमान मुनिव)।

कार्यान्तिक—कारखाने का उच्च अधिकारी।

कुप्याध्यक्ष—जंगल की पैदावार का निरीक्षक।

करितुरगपत्तनाकर स्थान विषय गोकुल प्रमुखाधिकार पुरुषान्—जिला का एक अधिकारी जो शहर के हाथी, घोडे, गाय तथा कान का देख-रेख करता था (ए० इ० १४ पृ० १९४ भागलपुर ताम्रपत्र)

कुमारामात्य—प्रातपति का मत्री। प्रात पति के पद पर कुमार नियुक्त किया जाता था अतएव मंत्री को कुमारामात्य कहा गया। गुप्त युग से ही लेखो तथा मुद्राओ मे यह शब्द आता है। अतएव राजकुमार का मत्री इसे मानना चाहिए। कुछ विद्वान् कुमार के सदृश इसका अधिकार समझते है।

कोटपाल—दुर्ग का अधिकारी—मध्ययुग के लेखो मे यह शब्द अधिकतर पाया जाता है। नालदा एव भागलपुर ताम्रपत्र (इसका रूप मुसलिम युग मे कोतवाल हो गया)

खाद्यटपाकिक—खाद्यटपाकिक (प्रयाग प्रशस्ति) राजकीय पाकशाला का अध्यक्ष।

खोल—खालीमपुर ताम्रपत्र मे प्रयुक्त। वास्तविक तात्पर्य अज्ञात है।

गमागमिक—राजकीय आज्ञा को शीघ्र ले जाना तथा वापिस लेने वाला अधिकारी (खालीमपुर नालदा एवं भागलपुर ताम्रपत्र)।

ग्रामपति—ग्राम का मुखिया (इसे महत्तर भी कहते थे) दोनो शब्द लेखो मे एक ही अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। (भागलपुर लेख)

ग्रामिक– ग्राम के मुख्य पदाधिकारी—यह महत्तर से सर्वथा भिन्न कर्मचारी था। पाल लेखो में 'दश ग्रामिक' शब्द मिलता है। सम्भवत. वह राजकीय पदाधिकारी दस ग्रामो का प्रबंधक था। ग्रामपति से वह भिन्न व्यक्ति है।

ग्रामकूट—मध्य युग के लेखो मे अधिक प्रयुक्त है। यह ग्राम का कोई उच्च अधिकारी होगा।

गोऽध्यक्ष—गाय का निरीक्षण राजकीय कार्य समझा जाता था। पशुधन की ओर भी शासक का ध्यान था। पाल लेखो से दूसरा शब्द "गोकुल प्रमुखाधिकारी" मिलता है। जिसका तात्पर्य वही है। गो का निरीक्षक।

गोप—ग्राम का लेखा रखने वाला। यह ग्रामपति की सहायता किया करता था।

गोप्ता—प्रातपति (सर्वेषु देशेषु विघाय गोप्तृन्)। स्कन्द का जूनागढ लेख।

गोल्मिक या गुल्मिक—जंगल का अधिकारी, पाल ताम्रपत्रो मे उल्लिखित।

चाट—पुलिस का सिपाही (समस्त मध्ययुगो लेखो मे)

चौराद्धरणिक—चोर को पकडने वाला तथा उसकी परीक्षा करने वाला। (खालीमपुर तथा नालंदा ताम्रपत्र)

ज्येष्ठकायस्थ—ताम्रपत्रों का लेखक कायस्थ कहलाता था। गावो का प्रमाण-पत्र रखने वाला। प्रथम कायस्थ शब्द भी दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख मे मिलता है।

पलवाटक—मध्ययुग के लेख मे ग्राम के आय-व्यय का लेखक।

तारपति—नदियो के घाट का सस्कार करने वाला (नालदा ताम्रपत्र)

तारिक- घाट का निरीक्षक या कर ग्रहण करने वाला। नासिक लेख में नहपान के जामाता ऋषभदत्त ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि उसने नदियो के घाट पर टैक्स को माफ कर दिया था (नाना पुण्यतर-करेण एतासा च नदीना) (पाल वशी ताम्रपत्र मे भी)

दण्डनायक—न्याय के विभाग का अधिकारी पिछले लेखो मे 'महादण्ड नायक' शब्द आता है। गुप्त युग के भीठा लेख मे "दण्डनायक श्री शकरदत्तस्य" का उल्लेख है।

दण्डपाशिक या दण्डवाशिक — साधारण न्यायाधीश जो पुलिस कार्यों के सम्बन्ध मे कार्य करता था (खालीमपुर, नालंदा तथा भागलपुर ताम्रपत्र)

दण्ड शक्ति या दाण्डिक—न्याय तथा दण्ड सम्बन्धी पदाधिकारी (खालीमपुर)

दशग्रामिक—ग्रामो के कार्यो का निरीक्षक।

दशापराधिक—दश अपराधो के दण्ड (जुर्माना) को ग्रहण करने वाला। नालंदा तथा भागलपुर ताम्र पत्र।

द्रौगिक—शहर का मुख्य अधिकारी।

दूतक या दूत—राजदूत—पाल वशी नालदा ताम्रपत्र मे या हर्षवर्धन के ताम्रपत्रो मे दूतक का प्रयोग। वर्धन लेखो मे वह महासामंत तथा महाराज पदवी से विभूषित है। (कमौली ताम्रपत्र से भी प्राप्त)

दूत वणिक—पाल प्रशस्तियों मे दूतावास का प्रधान।

दौह्साधसाधनिक—शाब्दिक अर्थ से यह प्रकट होता है कि कठिन कार्यों का करने वाला।

वसाक ने इसे ग्राम का अधीक्षक माना है। (ए० इ० १३ पृ० ४३) वास्तविक अर्थ अज्ञात है। बंगाल के लेखो मे अधिक प्रयुक्त है। "दौहसाधिक, महादूह-साधनिक या महादौह साधनिक" शब्द भी लेखो मे आते हैं। पारजिटर साधनिक से जिलाधीश के बदले कार्य करने वाला कर्मचारी मानते थे। (इ० ए० १९१० पृ० २११) फरीदपुर ताम्रपत्र में जहाजरानी से सम्बन्धित शब्द हैं। सेन इसे पागल व्यक्तियो का निरीक्षक समझते है। (हिस्टारिकल इन्सक्रपृशनस आफ बंगाल) अंतिम निर्णय करना कठिन है। लेखक के मत मे यह नाम ग्राम के रक्षक को दिया जाता था। दुसाध जाति के लोग अधिकतर गावो मे चौकीदार होते है। सम्भवत इस पदवी के बिगडने से गाव का रक्षक दुसाध कहलाया और बाद मे एक जाति बन गई (खालीमपुर तथा भागलपुर ताम्रपत्र)

धर्ममहापात्र—अशोक के पाचवें शिलालेख मे इस पदाधिकारी का नाम है। वह राजकीय दान तथा धार्मिक कृत्यो का प्रबधक था। कन्नौज राजा विजयचन्द्र के कमौली ताम्रपत्र मे 'धर्माधिकारणिक' उसी अर्थ मे प्रयुक्त है।

ध्रुवाधिकरण—भूमिकर का ग्रहण कर्ता।

नगराध्यक्ष—शहर का निरीक्षक।

नगर श्रेष्ठिन—व्यवसायी सघ का अध्यक्ष (दामोदरपुर ताम्रपत्र)।

नौकाध्यक्ष—जहाजरानी का प्रधान अधिकारी (खालीमपुर ताम्रपत्र)।

नैमित्तिक—पूर्वमध्य युग मे राजदरबार का ज्योतिषी। वह यात्रा या भविष्य सम्बन्धी बातें (कहा करता था भविष्यवाणी) कमौली ताम्रपत्रो मे।

परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर—शासक की पदवी (देववरनाक लेख)।

प्रतिहार—राजकीय महल का प्रबधक। पिछले लेखों मे "महाप्रतिहार" से इसी का तात्पर्य समझना चाहिए।

प्रमातार—भूमि का मापक—(सर्वे करने वाला)

प्रमातृ—न्यायाधीश (नालदा ताम्रपत्र)।

प्रांतपाल—प्रदेश का राज्यपाल (स्कन्दगुप्त का जूनागढ लेख)।

पुरोहित—पूर्वमध्य युग के लेखो मे यह राजा के धार्मिक कृत्यो का करने वाला। यो तो वैदिक काल मे पुरोहित का नाम आता है परन्तु पाचवी सदी तक के लेखो में कम पयुक्त है (कमौली ताम्रपत्र)।

पुस्तपाल—प्रमाण पत्रो का संग्रह कर्ता। यह "अक्षपटलिक" का सहायक था (गुप्त लेख)।

बालाधिकृत—सेना का स्वामी। "महाबलाधिकृत" सेना का सर्वोच्च अधिकारी। इसकी समता 'सेनापति' से क्रमश किया जाता है:

बलध्यक्ष—सेना का छोटा अधिकारी (एक टुकडी का स्वामी) खालीमपुर ताम्रपत्र।

विनियुक्तक—विशेष कार्य के निमित्त नियुक्त अधिकारी। तदायुक्तक भी इसी से समता रखता है। सम्भवत वह जिला के प्रबध मे सहायक था। आयुक्तक से राज्य के साधारण कार्य का निरीक्षक समझना चाहिए। (भागलपुर ताम्रपत्र)

विषयपति—जिलाधीश (खालीमपुर ताम्रप)
विषय पुरुषान्—जिला के साधारण कर्मचारी
विषय व्यवहारिन—जिला का न्यायाधीश
भट—सेना का सिपाही (सैनिक) मध्ययुगी ताम्रपत्र
भोगपति—गुप्त तथा पाल लेखों मे प्रातपति के लिए प्रयुक्त । खालीमपुर ताम्रपत्र
भण्डागारिक—सेना को सामग्री पहुचाने वाला कर्मचारी इसे रण 'भण्डागारिक' भी कहते थे ।
भिषग—वैद्य-पाल लेखो मे प्रयुक्त (कमौली ताम्रपत्रो मे भी)
मत्री—आमात्य, केन्द्री सरकार से सम्बन्धित (वही)
महत्तर—गाव का मुखिया

महादण्डनायक या **महादौह् साधनिक** या **महामत्री** **महादण्डनायक** **महा महत्तर** **महाक्षपटलिक** **महा भाण्डागारिक** **महा प्रमातार** **महा प्रतिहार**	इन पदाधिकारियो का उल्लेख 'महा' शब्द को छोड कर ऊपर किया गया है । मध्ययुग के लेखो मे पदवियो को उच्च दिखलाने के लिए महा शब्द जोड दिया गया है परन्तु कार्य मे समता है । पालवशी नालंदा तथा भागलपुर ताम्रपत्र तथा गहडवाल नरेश विजयचन्द्र के कमौली ताम्रपत्र मे उल्लिखित ।

महासेनापति—सेनापति के सदृश पद (कमौली ताम्रपत्र) ।
महासामत—सामत (अधीनस्थ राजा या शासक) के समान ही पद ।
महामात्र—प्रधान मंत्री
युक्त—साधारण अर्थ में सहयोगी-अशोक के लेख मे धर्ममहामात्र के अधीनस्थ कर्मचारी कहा गया है। खालीमपुर ताम्रपत्र में युक्तक शब्द उसी अर्थ मे प्रयुक्त है ।

राजराजानक, **राणक या** **राज राजन्यक**	पालवशीलेखो (खालीमपुर ताम्रपत्र) मे यह पदविया अधीनस्थ सामत के लिए प्रयुक्त है। उसी वश के मुंगेर दान पत्र मे राणक शब्द उल्लिखित है । 'राज' भागलपुर ताम्रपत्र, तथा 'राज राजन्यक' बानगढ की प्रशस्ति मे मिलता है । मध्युगी कमौली ताम्रपत्र मे राजराज्ञी का उल्लेख है इन सभी शब्दो का प्रयोग (छोटे शासक) के लिए है । शूलपाणी को राणक की पदवी दी गई है । देवपारा के अभिलेख मे व्यापारिक सघ के मुख्य । सम्भवत आर्थिक क्षेत्र मे सभी सामतो ने संघ तैयार कर लिया था ।

राजपुत्र—राजा का पुत्र यानी राजकुमार । प्राचीन समय मे राजकुमार प्रान्त का स्वामी प्रान्तपति हुआ करता था । अशोक भी सम्राट् होने से पूर्व उज्जैन तथा तक्ष-शिला का राज्यपाल था । पूर्व मध्ययुग के लेखो मे केन्द्रीय सरकार के पदाधि-

कारियो की सूची मे राजपुत्र का उल्लेख मिलता है। सम्भवत. वह शासक की सहायता किया करता था। (पालवंशीखालीमपुर तथा नालंदा ताम्रपत्र मे भी प्रयुक्त)

राजामात्य—राजा का मत्री (केन्द्रीय प्रशासन से सम्बन्धित) पाल ताम्रपत्र

राजस्थानीय—वैदेशिक विभाग का मंत्री। (वही)

राजुक—प्रान्त का राज्यपाल। अशोक के शिलालेख मे यह नाम मिलता है पर वास्तविक तात्पर्य विवादास्पद है।

रानी—राजा की पत्नी। किस पत्नी को रानी कहा जाता था यह कहना कठिन है। पट्टमहिषी के अतिरिक्त अन्य स्त्री को रानी से सम्बोधित किया जाता होगा। पूर्व मध्ययुग के पदाधिकारियो की सूची मे रानी का उल्लेख मिलता है।

लक्षणाध्यक्ष—सिक्को का अध्यक्ष (अर्थशास्त्र)

विनय स्थिति स्थापक—मध्ययुग के लेखो मे यह पदवी धार्मिक कृत्य के प्रबधक मत्री के लिए प्रयुक्त मिलता है। अशोक के लेख मे इसे 'धर्म महामात्र कहा गया है।

सन्निधातृ—महल का देख-रेख करने वाला कर्मचारी। पिछले अभिलेखो मे इसके स्थान पर पर प्रतिहार शब्द का प्रयोग मिलता है।

सामत—राजा के अधीनस्थ शासक। पूर्व मध्ययुग मे इसे "महासामत" कहा गया है।

सार्थवाह—व्यापारिक सघ का अगुआ जो विदेश मे व्यापार करता था। दामोदरपुर ताम्रपत्र

सेनापति—सेना का प्रधान। "महा सेनापति" शब्द भी उसी के लिए प्रयुक्त मिलता है (कमौली ताम्रपत्र)

सन्धि विग्रहिक या महासन्धि विग्रहिक—युद्ध तथा सधि का निर्णय करनेवाला पदाधिकारी। समुद्र गुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख मे वर्णन आता है कि हरिषेण सधि बिग्रहिक के पश्चात् कुमारामात्य या महदण्डनायक के पदो पर कार्य करता रहा। चेदि नरेश कर्ण के बनारस ताम्रपत्र मे भी उल्लिखित है।

षष्टाधिकृत—इस शब्द का अर्थ है छठें भाग का स्वामी। यानी वह कर्मचारी राजकीय कर (छठे भाग) को वसूल करता था। यो तो साहित्य मे इस बात का अत्यधिक प्रमाण है कि राजा पैदावार के छठे भाग को ग्रहण करता था, परन्तु लेखो में ऐसे पदाधिकारी का नाम केवल पालयुगी खालीमपुर ताम्रपत्र मे मिलता है। अशोक के लुम्बिनी लेख मे 'अठभगिए च' (आठवें भाग) का उल्लेख आता है अशोक ने 'कर' को घटा कर आठवा भाग कर दिया। तात्पर्य यह है कि उससे अधिक राजकीय कर (छठा भाग) ग्रहण किया जाता था।

हस्तश्व गोमहिष्यवाविकाध्यक्ष—खालीमपुर तथा भागलपुर ताम्रपत्र मे पाल युग के एक पदाधिकारी का नाम है वह पशु धन की देख-रेख करता था। हाथी, घोडा गो, भैस, बकरी आदि का अध्यक्ष।

क्षत्रप—पश्चिम भारत (सौराष्ट्र, गुजरात मालवा) के शक राजा "क्षत्रप" पदवी से विभूषित किए गये थे। यह ईरानी पदवी क्षत्रपावन का विकृत रूप है। उसका संस्कृत रूप क्षत्रप है। प्राकृत में खतप मिलता है। क्षत्रप, महाक्षत्रप (स्वतत्र शासक)

के अधीन सहायक के रूप मे काम करता था। मुद्रा लेखो मे यह पदविया सर्वत्र पाई गई है। कार्ले, तथा नासिक के गुहा लेख मे नहपान क्षत्रप ही कहा गया है, परन्तु वह स्वतंत्र रूप मे शासन करता था। [वैशाख मासे रात्रो क्षहरातस क्षत्रपस नहपानस] (नासिक गुहा) तथा खहरातस खतपस नहपानस (कार्ले गुहा) मिलता है। जूनार गुहालेख मे "महाखतपस सामिनहपानस" उत्कीर्ण है। (ए० इ० भा० ८ पृ० ८२) अतएव यह कहा नही जा सकता कि क्षत्रप परतंत्र शासक शक-नरेश की पदवी थी। महाक्षत्रप या क्षत्रप उपाधियो के सम्बन्ध मे अंतिम निर्णय करना कठिन है। दोनो पदवियां स्वतंत्र शासक के लिए उपयुक्त है। पर क्षत्रप मुद्रा लेखो से पता चलता है कि महाक्षत्रप, क्षत्रप मे बडी उपाधि थी। किन्तु कनिष्क का अधीनस्थ राज्यपाल खरपल्लाना सारनाथ प्रतिमा लेख मे 'महाक्षत्रप' कहा गया है।

क्षेत्रप—पाल प्रशस्तियो मे क्षेत्र का मापक इस पदवी से पुकारा जाता था। (भागलपुर ताम्रपत्र)

क्षेत्रपाल—सम्भवत क्षेत्रप के सदृश भूमि सम्बन्धी कार्यकर्त्ता। निरीक्षक। (वही)

अभिलेखो मे कर सम्बन्धी चर्चा

प्राचीन साहित्य के अध्ययन से भागधुक (राजकीय कर को सग्रह करने वाला) तथा समाहर्ता (उपहार ग्रहण करने वाला) के नाम (रत्निन की सूची मे) मिलते है। कृषक तथा पशुपालक से कर ग्रहण किया जाता था। वैदिक साहित्य मे गाय तथा घोडो को कर स्वरूप मे देने का विवरण है। अर्थशास्त्र तथा यूनानी लेखको के वर्णन से पता लगता है कि पैदावार का पच्चीस फी सदी किसानो से 'कर' वसूल किया जाता था। जिसे अशोक ने रुम्मनदेई क्षेत्र के निवासियो के लिए कम कर दिया जाता था। स्मृतिकारो ने एक प्रकार के कर का उल्लेख किया है, जो वह आठ से तेतीस प्रतिशत कहा गया है (मनु ८, १३०; गौतम १०, २४–२७, अर्थशास्त्र ५, २)। सम्भवत भूमि के उर्वरा होने के अनुसार ही कर मे असमानता थी [धान्यानामष्टमो भाग षष्ठोद्वादश एव वा-मनुस्मृति ७, १३०) प्राचीन समय में ब्राह्मण तथा मदिर आदि सस्थाओ को दान देते समय भूमि का स्वामित्व भी राजा के पास न रह पाता था। ग्राम मे अन्य व्यक्तियो की भूमि उन्ही के पास रह जाती थी पर भूमि कर दान ग्राही को देना पडता था [यूय समुचित भाग भोग कर हिरण्यादि प्रत्यायोपनयन करिष्यथ आज्ञा श्रवणविधेयाश्च भविष्यथ—का० इ० इ० भा० ३ पृ० ११८, १२६, १३३; ए० इ० २ पृ ३०४, भा० १९ पृ० १५]

अभिलेखो का वर्गीकरण करते समय यह कहा जा चुका है कि अधिकतर लेख दान से सम्बन्ध रखते है और ईसवी सन् की छठी शताब्दी से ताम्रपत्रो मे ऐसा विवरण पाया जाता है। इससे पूर्व सदियो मे दान का वर्णन नही के बराबर है। जहाँ दान का उल्लेख है उस स्थान पर दानग्राही को कर से मुक्त करने का वर्णन है। अभिलेखों मे विभिन्न कर के नाम यथास्थान मिलते है परन्तु उसकी मात्रा का ज्ञान छठी सदी पूर्व के लेखो से नही होता। केवल कर शब्द से ही सतोष करना पडता है।

अर्थ शास्त्रियो ने पैदावार का छठा भाग भूमि कर के रूप मे ग्रहण का वर्णन किया

है। मौर्य काल मे भी यही अनुपात रहा होगा केवल रुम्मनदेई (नेपाल तराई) भूभाग मे अशोक ने राजकीय कर घटा आठवा भाग (अठभागिये च) कर दिया। ईसवी सन् की दूसरी सदी के लेख मे (जूनागढ शिला लेख) महाक्षत्रप रुद्रदामन ने स्पष्टतया उल्लेख किया है कि वह कर (भूमि-कर) तथा विष्टि (बेगार) से प्रजा का पीडन नही करना चाहता था (अपीडयित्वा कर-विष्टि-प्रणयक्रियाभि.—ए० इ० भा० ८ पृ० ४२)। अर्थात् सुदर्शन झील मे बाध को सुदृढ करने के लिए उसने अस्थायी कर नही लगाया और अपने कोश से ही उसका निर्माण किया था। सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के नासिक लेख मे सवक्षेत्र को कर मुक्त करने की बात कही गई है (एतस चस खेतस परिहार वितराम अथवा सवजात परिहारिक च) वासिष्ठी पुत्र पुलमावि के कार्ले प्रशस्ति मे "सकरोत् कर.सदेय मेय"—का उल्लेख किया गया है यानी उस भाग का राजकीय कर भी दान के साथ दानग्राही को सौंप दिया गया था (ए० इ० भा० ७ पृ० ६१)। उस नरेश ने अपने पिता को धर्मानुसार कर ग्रहण करने वाला शासक कहा है (धर्मोपजित-कर-विनियोग-करस, नासिक लेख (ए० इ० भा० ८ पृ० ६०)। गुप्त युग के लेखो मे भी केवल 'कर' शब्द का उल्लेख पाया जाता है। प्रयाग स्तम्भ लेख मे वर्णन है कि सम्राट् समुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत के सामंतो को पराजित किया और दक्षिण के विजित शासक 'कर' देने के पश्चात् मुक्त कर दिए गए। (सर्व कर दानाज्ञाकरण प्रणामागमन परि-तोषित-प्रचण्ड-शासनस्य—प्रयागस्तम्भ लेख)।

गुप्तो के समकालीन दक्षिण के वाकाटक नरेशो ने प्रशस्तियो मे किसी विशेष 'कर' का उल्लेख नही किया है। परन्तु द्वितीय प्रवरसेन का इदौर ताम्रपत्र तथा प्रभावती गुप्ता क वाका-टक लेखो मे ग्रहित 'कर' से मुक्त करने की चर्चा मिलती है। उस दान को अकरादायि (कर से रहित) अचरासन (उस भूमि मे चरागाह नही रह सकता) अपशुमेध्य (उस भूमि मे पशु यज्ञ नही हो सकता), अपुष्पक्षीर सदोह. (उस भूमि से पुष्प या दूध के रूप मे ग्रहित कर नही लिया जायगा) अलवण क्लिणव क्रणि खनक (उस भूमि के मे नमक खान नही निकाला जायगा या वहा शराव नही बनाया जा सकती) तथा अचटभट प्रावेश्य (जिस भूमि मे सैनिक या सिपाही प्रवेश नहीं कर सकता) कह कर वर्णित किया गया है। जो भूमि दान मे दी गई है उस क्षेत्र मे खान से निकली सभी अमूल्य वस्तु (सोपनिधि) दानग्राही को मिलती थी और गडे धन का मालिक (सनिधि) भी वही व्यक्ति समझा जाता था। (ए० इ० १५ पृ० ४१ तथा भा० २४ पृ० ५२ इ० हि० क्वा० भा० १६ पृ० १८२)

गुप्त युग के पश्चात् छठी सदी के वैग्राम, दामोदरपुर तथा फरीदपुर (बंगाल) के ताम्रपत्रो मे स्पष्टतया उल्लेख मिलता है कि छठा भाग ही राजकीय कर था। जिसे दानग्राही कर मुक्त था। जिन शब्दो मे यह तात्पर्य निकाला जाता है—(धर्म परतायासि धर्मफलषड्भाग लाभ) उसे पारजिटर या बसाक ने राजकीय कर (छठे भाग) का अर्थ व्यक्त किया है। धर्मषड् भाग से राजा के छठे भाग का तात्पर्य है और राजा कर की तरह प्रजा के धर्म (पुण्य) का छठा भाग भी ग्रहण करता था। पाल वशी खालीमपुर ताम्रपत्र मे इस कर को वसूल करने वाला पदाधिकारी "षष्ठाधिकृत" कहा गया है (सेन—बगाल के अभिलेख स० १)। यानी दसवी सदी तक पैदावार का छठा भाग ही राजकीय कर समझा जाता था।

ताम्रपत्रो मे दान की भूमि को सभी कर से मुक्त करने का वर्णन मिलता है। हर्षवर्धन

के समय से विभिन्न करों (स्थायी या अस्थायी) के नाम मिलते हैं। भूमि-कर नकद या अन्न के रूप मे दिया जाता था। कुछ अस्थायी कर थे और कुछ चुंगी या बेगार के रूप में ग्रहण किये जाते थे। संजान ताम्रपत्र मे निम्न लिखित करो के नाम उल्लिखित हैं।

भागकर—इससे राजकीय कर (छठे भाग) का बोध होता है। कई लेखो मे उद्रंग कह कर भी इसका अभिप्राय व्यक्त किया गया है। जातक मे इस भाग लेने वाले को द्रोणमापक कहा गया है।

भोगकर—यह कर 'भाग' से भिन्न था। सम्भवत. स्थायी रूप में 'कर' को 'भाग' कहते थे और समयानुकूल भूमि जोतने पर कृषक को कर देना पडता था जिसे 'भोग' कह सकते है। 'उपरि' शब्द भी इसी तरह के कर का बोधक है।

सामान्य हिरण—इससे तात्पर्य यह था कि भूमि कर का कुल अंश धान्य तथा कुछ नकद के रूप मे दिया जाता था। लेखो मे हिरण्य राजकीय कर के लिए ही प्रयुक्त है (जहाँ नकद कर दिया जाता था)। गुर्जर प्रतिहार लेख मे वर्णन आता है कि ग्राम के आय से ५०० द्रम मदिर मे दिए गए थे। (इ० ए० भा० १६ पृ० १७४) उडीसा के लेख (ए० इ० १२ पृ० २०) तथा दक्षिण की प्रशस्ति मे भी नकद सिक्का कर के निमित्त देने का विवरण है (सा० इ० इ० स० ४, ५) खेत की पैदावार मे राजा को कुछ सम्बन्ध न था। सभी लेखो मे 'हिरण्य' का अधिक प्रयोग मिलता है।

हाटक—पालवंशी दानपत्रो मे इस शब्द से चुंगी का तात्पर्य समझा जाता है। हाट (बाजार) से जो कर लिया जाय वह हाटक कहलाता था।

अचाटभट प्रावेश्य—इन शब्दो के प्रयोग से एक प्रकार के अस्थायी कर का बोध होता है जो ग्राम मे सैनिक तथा पुलिस सिपाही (चाट भट) के प्रवेश करने पर ग्रामवासियो का देना पडता था। इसमे उनके भोजन सम्बन्धी व्यय सम्मिलित हैं। यह यदा कदा देना पडता था।

दशापराध—वलभी लेखो मे इसका प्रयोग मिलता है। यह अस्थायी दण्ड था जो अपराधी से वसूल किया जाता था।

भूपवात प्रत्याय—बलभी तथा दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट लेखो मे इस अस्थायी कर का उल्लेख मिलता है। भूतवात से सुरक्षित (आयात) तथा निर्यात वस्तुओ पर आरोपित कर का बोध होता है। कुछ विद्वान् इसे भूतप्रेत को हटाने के लिए लगाए टैक्स (कर) से तात्पर्य समझते है। स्यात् ग्राम मे भूत तथा प्रेत की स्थिति से लोगो को भय बना हो जिसे हटाने के लिए पूजा-पाठ या तंत्रमंत्र का प्रबंध था। उसी कार्य के व्यय को भूतवात कहते थे।

विष्टि-बेगार—जिस कार्य मे मजदूरी न देना पडे। जो गरीब व्यक्ति अस्थायी कर नही दे सकता वह बेगार देता था।

इस प्रकार स्थायी तथा अस्थायी कर के नाम विभिन्न लेखों मे आता है। सभी कर एक लेख मे भी उल्लिखित हैं (ए० इ० १ पृ० ८८)

दानपत्रो मे 'निविधर्म' या 'भूमिछिद्रन्याय' शब्दो का प्रयोग स्थायी रूप में दान के लिए किया गया है। जो व्यक्ति बंजर भूमि को खोदकर उपजाऊ बना लेता, वह उसका स्थायी मालिक हो जाता था। भूमिछिद्रन्याय उसी अर्थ मे प्रयुक्त है, यानी स्थायी स्वामित्व। समस्त कर दानग्राही ही वसूल करता था। उस भूमि से राजा को (दान कर्त्ता को) सभी प्रकार की आय से वंचित होना पडता था। राजा अपना स्वामित्व दानकर्त्ता को अर्पित कर देता। सम्भवत कलिंग मे इस तरह की दानप्रणाली का अभाव पाया जाता है। एक लेख मे 'कर-शासन' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका तात्पर्य यह है कि दानग्राही को उस भूमि का 'कर' राजकोश मे जमा करना आवश्यक था। (ए० इ० २९ पृ० १६७)

•

अध्याय ६

प्राचीन भारतीय अभिलेखों में वर्णित समाज

भारतीय समाज की सर्व प्रमुख संस्था को "वर्णाश्रम" कहते हैं जिसके आधार पर हिन्दू समाज अवलम्बित है। भारत के उन्नयन तथा गौरवमय जीवन का बहुत कुछ श्रेय इसी सस्था को है। इसके उत्पत्ति तथा विकास के प्रसंग में दो मत व्यक्त किए गए हैं-जीवविद्या तथा दार्शनिक। किसी भी पक्ष के विषय में विचार करना हमारा उद्देश्य नही है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि वैदिक कालीन वर्ण कालान्तर मे जाति का बोधक हो गया। स्मृतियो मे चार वर्णों के नाम मिलते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जिसमें प्रथम तीन को 'द्विज' कहा गया है।

वर्णाश्रम सस्था

भारतीय अभिलेखो का उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म का वर्णन उपस्थित करना नही था। केवल शासन या दान के प्रसग मे दानग्राही की जाति आदि (वर्ण के नाम) उल्लिखित मिलते हैं। मौर्य सम्राट् अशोक ने लेखो मे यह विचार व्यक्त किया था कि समाज में ब्राह्मणो का दर्शन करना तथा दान देना श्रेयस्कर है [ब्राम्हण समणानं साधुदानं। ब्राम्हण समणानं संपटिपति, बाम्हण-समणानं दसणे च दाने। शिलालेख ३, ४, ८] दक्षिण भारत में मौर्य राजाओ के उत्तराधिकारी सातवाहन नरेश गर्व के साथ अपने को ब्राह्मण कहते थे। नासिक लेख मे क्षत्रियो (शत्रु) के मान मर्दन का विवरण भी उपस्थित किया गया है। गौतमी पुत्र शातकर्णि अपने पुत्र पुलमावि के लेख मे "एक बम्हण" कहा गया है तथा "खतिय-दपमान मदनस" का उल्लेख भी उसी से सम्बन्धित है (नासिक गुहा लेख) उसके समकालीन क्षत्रप राजा नहपान के लेखो मे दान के प्रसग मे ब्राह्मण का नाम मिलता है। (देवान ब्राह्मणाना च कर्षापण सहस्राणि सतरि-दिन। देवताम्य ब्राह्मणेम्य षोडश ग्राम देन (नासिक का लेख) इस प्रकार समाज मे तथा दानग्राही के नाते लेखो मे ब्राह्मणो का उल्लेख है। क्षत्रिय नाम भी युद्ध तथा अग्रहार देने के प्रसग मे उल्लिखित है। दूसरी सदी के महाक्षत्रप रुद्रदामन का जूनागढ लेख यह बतलाता है कि इसने क्षत्रियो मे वीर यौधेयगण को पराजित किया था। इसी तरह गुप्त युग के एक लेख मे तीनो वर्णो का उल्लेख मिलता है। इदौर (बुलदशहर, उत्तर प्रदेश) नामक स्थान से एक दान पात्र ब्राह्मण को भेंट किया गया जिसके दाता क्षत्रिय वशी अचल वर्म एवं भ्रकुण्ठ सिह थे। ये दोनो व्यक्ति वैश्य वृत्ति से जीवन यापन करते थे। अतएव उस इंदौर लेख मे दान के प्रसंग मे ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों के नाम मिलते हैं—

चातुर्विद्य सामान्य ब्राह्मण·····राणायणीयो वर्षगण-सगोत्र इन्द्रापुरक वाणिग्भ्या क्षत्रियाचल वर्म भ्रुकुण्ठसिहभ्याम्। (स्कन्द गुप्त का इदौर लेख)

गुप्तयुग के पश्चात् सम्भवतः वर्णाश्रम संस्था मे कमजोरियाँ आने लगी थी इसीलिए पूर्व मध्य युग (७००-१२०० ई०) के लेखो में शासक का कर्त्तव्य समझा गया है कि समाज को समुचित रूप मे स्थिर रखने के लिए वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करें। गुप्तो के सामन्त सक्षोभ के सम्बन्ध ये खोह ताम्रपत्र मे "वर्णाश्रम धर्म स्थापना निरतेन परम भागवतेन····संक्षोभेन"

वाक्य उल्लिखित है (का० इ० इ० ३ पृ० ११४) हर्षवर्धन के पिता प्रभाकर वर्धन के समक्ष यही समस्या थी अतएव वह इसकी रक्षा मे दत्त चित्त से लगा रहा। बाँसखेडा के ताम्रपत्र मे उसे "वर्णाश्रम व्यवस्थापन प्रवृत्त" कहा गया है (ए० इ० ४ पृ० २१०) मौखारि नरेश अवन्ति वर्मन के लिए भी इन शब्दो का प्रयोग मिलता है (ए० इ० २७ पृ० ६४) काम रूप के राजा भास्कर वर्मन के लेख मे वर्णन आता है कि वर्णाश्रम संस्था (जो पूर्व काल में अव्यवस्थित थी) को उसने सुव्यवस्थित किया—

अवकीर्ण वर्णाश्रमधर्म्म प्रविभागाय निर्म्मितो

(निधान पुर ताम्रपत्र ए० इ० १२ पृ० ७५)

११वी सदी के राजा इन्द्रपाल ने वर्णाश्रम की मर्यादा स्थिर करने का प्रयत्न किया था—

सम्यग् विभक्त चतुराश्रम वर्णधर्मा

(गोहाटी ताम्रपत्र—ज० ए० सो० व० १८९७ पृ० १२५)

स्यात् पूर्व मध्यकाल मे यह एक महत्व पूर्ण प्रश्न था और समाज को सुस्थिर (विघटन न होने देना) रखना शासक का परम कर्त्तव्य था। यही कारण था कि बगाल के बौद्ध-धर्मानुयायी पाल राजा भी वर्णाश्रम के व्यवस्था में प्रयत्नशील थे। वानगढ लेख मे (ए० इ० १४ पृ० ३२५) उन्हें 'मर्यादा परिपालनैक निरत' कहा गया है तथा निम्न वाक्य भी प्रयुक्त है—

वर्णानान् प्रतिष्टापयता स्वधर्मे

(इ० ए० २१ पृ० २५५)

पालवंशी आमागाछी लेख मे तृतीय विग्रहपाल चारो वर्णो का संरक्षक कहा गया है—चातुर्वर्ण्य समाश्रम (वही पृ० ९९)। इसी के सदृश उडीसा का राजा क्षेमनकर "वर्णाश्रम परमोपासक" पदवी से विभूषित है। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि समाज को विघटन से बचाने के लिए शासकों ने वर्णाश्रम धर्म (पालन करने के निमित्त) का समादर करने की आज्ञा प्रकाशित की। गुप्त युग से पूर्व विदेशी आक्रमणकारी भारतीय समाज में विलीन हो गए। ७वी सदी मे ईस्लाम का आगमन भारत मे हुआ और भारतीय समाज के सामने जटिल समस्या उपस्थित थी। वर्णाश्रम का पालन स्यात् उसके समाधान का एक मार्ग समझा गया और राजाओ ने उसके लिए आज्ञाए प्रसारित की (वे स्वय भी सतर्क थे)। चहमान राजा के सिवालिक स्तम्भ लेख मे म्लेच्छो से पृथक रहने का बात कही गई है। (ए० इ० १९ पृ० २१५) मेघातिथि ने भी (मनु २, २३) ऊपर लिखित विचार का समर्थन किया है। उसने मनुस्मृति की टीका मे लिखा है कि क्षत्रिय राजा को चातुवर्ण्य की स्थापना में सलग्न रहना चाहिए—

यदि कश्चित्क्षत्रियादि जातीयो राजा साध्वाचरणो मेल्छान् पराजयेत चातुर्वर्ण्य वासयेत्।

जैसा कहा गया है कि मध्य युग के प्रशस्तिकार चातुवर्ण्य का उल्लेख करते रहे परन्तु अभिलेखो मे एक पंचम वर्ण-चाण्डाल-का भी नाम मिलता है। दान पत्रो मे ग्राम सम्बन्धी वार्ता मे "ब्राह्मण चण्डाल पर्य्यन्त" शब्दो का उल्लेख है यानी चार वर्ण तथा चाण्डाल वही निवास करते थे। स्मृतियो में भी उस पचम वर्ण (अत्यन्ज) का वर्णन मिलता है जो अनुलोभ तथा प्रतिलोम विवाहि से उत्पन्न हुए थे। उस युग मे कार्य तथा स्थान के कारण भी जातियो

मे विभेद हो गया जिसके नाम लेख मे मिलते हैं। यो तो अलबेरूनी ने सोलह, इब्न खुर्दजबा सात तथा कल्हण ने चौसठ जातियो का वर्णन किया है जो यह प्रकट करता है कि पूर्वमध्य युग में (७००-१२०० ई०) पाच वर्णों से सम्बन्धित अनेक जातिया प्रसिद्ध हो गई थीं।

ब्राह्मण

ब्राह्मण अपनी विद्वत्ता, शुद्ध आचरण तथा व्यवहार कुशलता के लिए चारो वर्णों में श्रेष्ठ माने गए हैं। तीनो वर्ण इनके प्रदर्शित मार्ग पर चलते थे। त्रयो वर्णा ब्राह्मणस्य वशे वर्तेरन् तेषा ब्राह्मणो धर्मान् प्रब्रुयात् (वशिष्ठ १।१०।४१)। गुप्त युग से पूर्व ब्राह्मणो की स्थिति के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। गुप्तकाल में ब्राह्मणो का आदर तथा सम्मान था। छठी सदी के पश्चात् भी ब्राह्मण विद्या मे अग्रणी थे, इसीलिए पूर्व मध्यकाल की प्रशस्तियों मे उनके कुल के साथ विद्या की भी चर्चा की गई है। दान सम्बन्धी वर्णन तथा समाज मे उनका स्थिति मे कुछ अन्तर दोख पडता है। मध्ययुग मे ब्राह्मणो की इतना उप-जातिया तथा जीविका के साधन हो गए थे कि समाज मे प्राचीन श्रेष्ठता स्थायी न रह सकी। क्षत्रिय समाज मे अगुआ हो गए और उनके आदेशानुसार ब्राह्मण कार्य करने लगे। यद्यपि साहित्य मे पचगौड का उल्लेख है परन्तु अभिलेखो म कान्यकुब्ज, मैथिल तथा सरयूपारी के नाम उल्लिखित हैं। ब्राह्मणो के उपनाम स्थानीय आधार पर (Territorial Basis) स्थिर किया गया था। कन्नौज के कान्यकुब्ज, बंगाल के गौड (गौड स्थान का भी नाम था) मिथिला के मैथिल, सरस्वती घाटी के निवासी सारस्वत तथा उडीसा (उत्कल) के ब्राह्मण पाचवे स्थान पर थे। लेखो मे जहा ब्राह्मण के बहिर्गमन का वर्णन है वहा कान्यकुब्ज का नाम सर्व प्रथम आता है। आसाम मे मैथिलो के (ए० इ० ८ पृ० ९२) तथा गौड, ब्राह्मण (ए० इ० २६ पृ २६३) के आगमन का विवरण लेखो मे मिलता है। गहडवाल नरेशो के गोरखपुर के लेख मे सरयुपारी ब्राह्मण का उल्लेख है (गोविन्दचन्द्र देव का पाली ताम्रपत्र-ए० ई० ५ पृ० ११४) पचगौड के अतिरिक्त शाकद्वीपी (जिनका नाम मग भी था) ब्राह्मण का वर्णन गोविन्दपुर के लेख (ए० इ० २ पृ० ३३३) मे स्पष्ट रूप से किया गया है। शकद्वीप से आने के कारण वे शाकद्वीपी कहलाए तथा इनका सबध ईरान के मग (मजियन) से बतलाया जाता है। ये सूर्य के पुजारी तथा तान्त्रिक भी माने जाते हैं (मग स अग्रेजो का शब्द मैजिक बना है)—शाकद्वीपम्य दुग्धाम्बु निधि बलयितो यत्र त्रिप्रे मगाख्या (वही)। इस प्रकार उत्तरी भारत मे ब्राह्मण छ विभागो मे विभक्त थे और पृथक-पृथक नाम से विख्यात थे।

ब्राह्मणो का वर्गीकरण

भारत मे छठी सदी के पश्चात् गौत्र तथा वैदिक शाखा के आधार पर ब्राह्मणों का वर्गीकरण हुआ था। जिसकी चर्चा प्राय: प्रत्येक दानपत्र मे मिलती है। हर्ष के बासखेड़ा ताम्रपत्र (ई० स० ६२८) में दानग्राही के भारद्वाज गोत्र तथा वहवृच शाखा का उल्लेख है। शशाक के ताम्रपत्र मे भी भारद्वाज गोत्र का नाम है। वाकाटक द्वितीय प्रवरसेन के लेख मे पराशर गोत्र तथा तैतरीय शाखा के ब्राह्मण को दान का उल्लेख है। चमक प्रशस्ति में "नान्त गोत्र चरणोम्य. ब्राह्मणोम्य' सहस्राय दत्त." वाक्य इस बात को पुष्ट करता है कि शाखा के अनुसार ब्राह्मणो का वर्गीकरण किया गया था। इस लेख के अन्त मे पराशर, काश्यप, कौण्डिण्य, भारद्वाज, (दस ब्राह्मण) तथा गौतम गोत्रवाले ब्राह्मणो के नाम उल्लिखित है। दक्षिण भारत के संजान अभिलेख

में भारद्वाज तथा वाजसनेय शाखा के ब्राह्मण का वर्णन मिलता है। १२ वी सदी के चन्द्रावती ताम्रपत्र मे जो क्रम है (यानी गोत्र तथा शाखा का नाम) उसी को लेकर उपजातिया बनती गई। उस लेख मे पाचसौ ब्राह्मणों के नाम आते हैं और "नाना गोत्रेभ्यश्चतुश्चरणचतुः श्रुति पाठकेभ्य पच शत सख्येभ्य ब्राह्मणेभ्यो" (ए० इ० १४ पृ० २०२) वाक्य द्वारा उन्हें पृथक पृथक बतलाया गया है। चन्देल राजा परमर्दि के सेमरा लेखमे पैतीस गोत्र के नाम मिलते है (ए० इ० ४ पृ० ११५-६) अत्रि वाभ्रव्य, वन्धुलवशिष्ठ, वत्स, विष्णुवृद्ध आदि के परीक्षण से पता लगता है कि काश्यप तथा भारद्वाज गोत्र अधिक लोक प्रिय थे। चन्द्रावती तथा कलहा दानपत्रो मे अधिक गोत्रो का उल्लेख है (ए० इ० १४ पृ०८७) कात्यायन, काश्यप — सावर्ण तथा शान्डिल्य। कन्व, गालव, पीपलाद, दर्भ आत्रेय (ए० इ० १४ पृ० २०२) वर्तमान समय मे भी यही गोत्र समाज मे प्रचलित हैं। इसी प्रकार शाखा के सम्बन्ध मे भी विवरण मिलता है। पूर्व मध्यकाल मे (७००-१२०० ई०) जो ब्राह्मण जिस वैदिक शाखा का अध्ययन करता था उसी से वह प्रसिद्ध था और अन्य ब्राह्मणो से पृथक हो जाता था। दानग्राही के साथ वैदिक शाखा का उल्लेख परमावश्यक था। फरीदपुर ताम्रपत्र (बगाल) मे वाजसनेय शाखा तथा षडङ्गाध्यायिन ब्राह्मण का उल्लेख है। कलहा ताम्रपत्र (गोरखपुर, उत्तर प्रदेश) मे छादोग्य, वाजसनेय तथा माध्यन्दिन शाखाध्यायी ब्राह्मणो को दान देने का वर्णन मिलता है (ए० इ० ७ पृ० ८७) दूसरे लेखो मे आश्वलायन, शाखायन (ऋग्वेद) कौथुम, राणायनीय (सामवेद) तथा कठ (कृष्ण यजुर्वेद) शाखाओं के नामोल्लेख के साथ वर्णन मिलता है कि दानग्राही इन वैदिक शाखाओ का पण्डित था (ए० इ० ९ पृ० ११६)। मालवा की प्रशस्ति मे तीन ब्राह्मणो को दान देने का उल्लेख है जिनका निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया (ए० इ० ९ पृ० ११५) था।

(१) माध्यन्दिन (शु० यजुर्वेद)	शाखा का	ब्राह्मण
(२) आश्वलायन (ऋग्वेद)	,,	,,
(३) कौथुम (सामवेद)	,,	,,

कन्नोज शासक भोज के दौलतपुर दानपत्र मे ऋग्वेद के आश्वलायन शाखा तथा गहड़वाल नरेश गोविन्द चन्द्रदेव के लेख मे वाजसनेय (यजुर्वेद) तथा शाखायन (ऋग्वेद) शाखाओ के नाम मिलते है (ए० इ० ३ पृ० २१२ तथा वही ८ पृ० १५४–६)। पाल नरेश देवपाल के शासन मे आश्वलायन तथा कौथुमी शाखाओ के पण्डित ब्राह्मणो को दान दिया गया था (ए० इ० २१ पृ० २५५, ए० इ० १५ पृ० २९५) सेनवशी शासक वल्लालसेन की समस्त प्रशस्तियो मे तथा लक्ष्मणसेन की दो प्रशस्तियो मे वैदिक शाखा के आधार पर ब्राह्मण पृथक-पृथक वर्णित है-(नईहटी, गोविन्दपुर, तरपन्डीहो, मधैनगर और दीनाजपुर लेख) निधानपुर के ताम्रपत्र मे एक सौ उनईस ब्राह्मणो को शाखाओ के आधार पर अनेक वर्ग मे विभाजित किया गया है। ११९ मे ५६ वाजसेनेय शाखा, ११ छान्दोग्य शाखा, ३८ वह्वृच शाखा और शेष तैतरीय शाखा के ब्राह्मण कहे गए है (ए० इ० १९ पृ० ११८) अतएव सक्षेप मे यह कहना पर्याप्त होगा कि गोत्र तथा वैदिक शाखा के आधार पर उचित रीति से ब्राह्मणो का वर्गीकरण किया गया था। कालान्तर मे इससे उपजातिया बनती गई।

यो तो धर्मग्रथो मे ब्राह्मणो के लिए षट्कर्म (यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान

एवं प्रतिग्रह) का वर्णन मिलता है तथा पूर्व मध्यकालीन लेख मे (ए० इ० १ पृ १४६–षट्-कर्मभिरता ब्राह्मणा , ए० इ० १ पृ० १२८–पट्कर्माभिरताय ब्राह्मणाय आदि) भी उन्ही छ कर्मोका उल्लेख है परन्तु ब्राह्मणो को इन कार्यो के अतिरिक्त अन्य साधन भी ढूँढने पडे । विशेषकर मंदिरों मे पुजारी का काम करने लगे जिसका अत्यधिक विवरण गहडवाल,

ब्राह्मणो का जोविका साधन

प्रतिहार, परमार, कलचुरि, पाल तथा सेनवंश की प्रशस्तियो मे मिलता है । पूजा के अतिरिक्त पुरोहित मदिर के प्रबन्ध की देख-रेख करता था । मदिरो मे वह कथावाचक (चहमान लेख–ए० इ० ११ पृ० ४५) का भी कार्य करता था । राजघराने मे ज्योतिषी के कार्य निमित्त ब्राह्मणो को ही बुलाया जाता था । इन सभी कार्यो को सम्पन्न कर ब्राह्मण मत्री तथा सेनापति के ऊंचे पद को भी सुशोभित करता था । (ए० इ० १ पृ० २२२, भा० १५ पृ० २०५, भा० ४ पृ० १५८—'ब्राह्मण सेनापति मदनपाल शर्मन' का उल्लेख पाया जाता है । सेना मे मृत्यु हो जाने पर ब्राह्मण के परिवार को राजा "मृत्युक वृत्ति" दिया जाता था (ए० इ० १६ पृ० २७२) । इस तरह क्षत्रिय वर्ग के कार्य को अपना कर वह जोविकोपार्जन करने लगा ।

पाल प्रशस्तियो मे नारायणपाल के ब्राह्मण मंत्री गुरव मिश्र तथा गर्ग मिश्र के नाम मिलते है जिन्होने विद्या तथा कार्यकुशलता के कारण ही मंत्री पद को सुशोभित किया था (ए. इ. २ पृ १६०) इसी तरह दर्भपाणि तथा केदार मिश्र के नाम वर्णित हैं जो क्रमश देवपाल तथा सूरपाल के मत्री थे । गहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र के प्रधान मंत्री भट्ट लक्ष्मीधर का नाम गर्व के साथ लिया जा सकता है जिसने 'क्रिया-कल्प-तरू' नामक निबन्ध की रचना की थी (गा० ओ० सी० न १०० पृ १०) इसकी समता विजयनगर के राजा बुक्क के मत्री सायण तथा माधव से की जा सकती है । पूर्व मध्यकालीन लेखो मे वर्णन है कि ब्राह्मण कृषि कर्म भी करते थे । स्यात् वह आपतधर्म था । परन्तु दानपत्रो मे "भुञ्जमामनस्य कर्षतात कर्षयतो" ऐसा उल्लेख मिलता है (ए इ २० पृ. २०८) धरसेन के बलभी ताम्रपत्र में देवविहार स्थित्या भुजत कृषत कर्षयत ' वाक्य प्रयुक्त है । कर्षयत शब्द से हल जोतने का तात्पर्य है । राजपुताना के एक लेख मे ऐसा वर्णन आया है कि राजा ने ब्राह्मणो से कृषि-कर्म त्यागने की प्रार्थना की और वेदाध्ययन मे समय व्यतीत करने का आग्रह किया ।

यो विप्रान मितान् हलि कलयत कार्श्येन वृतेरल वेद सागम पाठयत् कलिगल ग्रस्ते धात्रीतले (ए० इ० २१ पृ० २७८–८२) इसका कारण यह हो सकता है कि स्मृतिकार पराशर ने आपतधर्म मे कृषि के लिए आदेश दिया है–पट्कर्म भिरतो विप्र कृषिकर्म च कारयेत् । स्यात् मध्य युग मे ब्राह्मणो को षट्कर्म के अतिरिक्त अन्य साधन का अवलम्बन करना आवश्यक हो गया था ।

ईसवी सन् की सातवी सदी के पश्चात् उत्तर पश्चिम से इस्लाम आक्रमण के कारण मध्यदेश (गंगा यमुना घाटी) मे ब्राह्मणों का निवास कष्टकर हो गया और अनेक विभिन्न स्थानो को चले गए । ब्राह्मणो का देशान्तर गमन मध्ययुग की विशेष घटना है जिसका वर्णन केवल प्रशस्तियों मे ही पाया जाता है । स्मृतियो मे इसका वर्णन नही है । मध्यदेश के ब्राह्मणो को सर्वत्र समादर मिला और राजाओ ने दान देकर उन्हें निवास के लिए आग्रह किया । बंगाल के पाल राजाओ ने आगुन्तक

ब्राह्मणो का देशान्तर गमन

ब्राह्मणों को दान दिया जिसका उल्लेख बदल स्तम्भ तथा आमागछी लेखों में है (ए० इ० २ पृ० १८०, इ० ए० १४ पृ० १६६, २१ पृ० ९७) लक्ष्मणसेन के सात लेखो मे देशान्तर गमन करने वाले ब्राह्मणो को दान देने का विवरण उपलब्ध है (बैरकपुर नईहटी, गोविन्दपुर, तरपंडीही, अनुलिया, मधैनगर, सुन्दरवन आदि) अधिकतर बगाल के लेखो मे "मध्यदेश विनिर्गत" (मध्यप्रदेश से देशान्तर गमन) वाक्य का उल्लेख है। वनगाँव (सहरसा, बिहार) के लेख मे छादोग्य शाखा ब्रह्मचारी को दान देने का वर्णन है जो कान्यकुब्ज से आया था। विग्रहपाल के लेख मे तो कोलञ्च (कन्नौज) से बगाल मे जाने वाले (देशान्तर गामी) ब्राह्मणों का वर्णन है (ए इ. २९ पृ ५६) तथा महीपाल के लेख मे हस्तिपाद (मध्यदेश) ग्राम का नामोल्लेख है जहाँ से ब्राह्मण बगाल गए। परमार राजा द्वितीय वाक्पति के प्रशस्ति मे छबीस ब्राह्मण के नाम मिलते है जो विभिन्न स्थानो से आकर मालवा मे बस गए थे। उन स्थानो मे मध्यदश (सम्भवत कन्नौज) तथा मझबली (देवरिया, उत्तर प्रदेश) के नाम प्रमुख हैं। कान्यकुब्ज तथा सरयूपार मे ब्राह्मणो ने मालवा मे शरण ली, वहा बस गए और दानग्राही के रूप मे प्रतिष्ठित रहे। १० वी सदी मे बगाल के अतिरिक्त मालवा मे ब्राह्मणो का गमन जीविका के लिए हुआ। छठी सदा के पश्चात् उत्तरी भारत मे कन्नौज प्राचीन पाटलिपुत्र का स्थान ग्रहण कर चुका था जिसके विजय निमित्त शासकगण युद्ध करते रहे। वहा के निवासी ब्राह्मणो को भी उस स्थान का गर्व था और जहा भी देशान्तर गमन किया, वहाँ के लेख में "मध्यदेश विनिर्गत ब्राह्मण" के नाम से विख्यात रहे। विद्वानो का विश्वास है कि कान्यकुब्ज ब्राह्मणो ने ही बगाल मे 'कुलीन प्रथा' का आरम्भ किया।

दक्षिण भारत मे आर्य देश या मध्यदेश से ब्राह्मणो के जाने की वार्ता वर्णित है (सा० इ० इ० भा० २ स० २०) प्रथमराजेन्द्र चोल ने इस प्रकार देशान्तर से गमन करने वाले तंजौर मदिर के पुजारियो को पर्याप्त दान दिया था।

गुप्त युग मे पूर्व अभिलेखों में विभिन्न जातियो के नाम प्राय नही मिलते। स्कन्द गुप्त के इन्दौर वाले लेख मे दो क्षत्रिय व्यक्तियो के नाम-अचलवर्म तथा भ्रकुण्ठसिंह दान के प्रसंग मे मिलते हैं। सातवी सदी से शासन सम्बन्धी अभिलेखो मे क्षत्रिय का नाम

क्षत्रिय

आता है जो राजनीतिक परिस्थिति के कारण समाज मे अग्रणी हो गए थे और ब्राह्मणो को भी उनके आदेशानुसार कार्य करना पडता था। अलबेरूनी के कथानुसार क्षत्रियो को भी ब्राह्मण के सदृश मृत्युदण्ड नही दिया जाता था। पूर्व मध्य युग मे क्षत्रियो के लिए 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग मिलता है और उनके निवास भूमि को राजपुताना कहा गया। बंगाल के लेखो मे वर्णन मिलता है कि शासक राजपुत्र (राजपूत) वंश में उत्पन्न हुए थे (ए० इ० १८ पृ० १५९, इ० ए० भा० १५ पृ० ३०८) ऐसा वर्णन प्राय उत्तरी भारत के सभी राजवंशों के लेखो मे पाया जाता है। प्रशस्तियो मे वर्णित पदाधिकारियों की सूची मे युवराज राजपुत्र कहा गया है यानी वह क्षत्रिय जाति का वंशज था (सोढदेव का कलहा ताम्रपत्र–ए० इ० ७ पृ० ८५) राजपूत का उत्पत्ति के विषय मे विद्वानो मे मतभेद रहा और कुछ विद्वानो ने यह विचार प्रस्तुत किया कि राजपूत प्राचीन क्षत्रिय के वंशज नही है। राजपूतो को अग्निकुल से उत्पन्न बतलाया जाता है। राजपूत नरेशों के अभिलेखो का अध्ययन सिद्ध करता है कि वे सभी प्राचीन क्षत्रिय वर्ण के वंशज हैं।

इस युग मे राजपूत दो उपविभाग मे विभक्त हो गए। (१) शासक (२) साधारण क्षत्रिय वर्ग। शासको की श्रेणी मे कुछ विदेशी भी सम्मिलित हो गए थे। जिनका वैवाहिक सम्बन्ध राजघराने में होने लगा था। कलचुरी लेख (ए० इ० २ पृ० ४) मे वर्णन आता है कि हूण राजकुमारी अवल्लदेवी का विवाह चेदि राजा कर्ण से हुआ। इन्ही कारणो से समाज मे विदेशी हूण का आदर होने लगा। मेवाड के (९५३ ई०) एक लेख मे मंदिर प्रबन्ध समिति का हूण सरदार भी सदस्य था और ऊँचे वर्ग में समादार पाता था (इ० ए० ५८ पृ० १६१) साधारण श्रेणी के राजपूत सैनिक का कार्य करते थे। चदेल शासक की ओर से युद्ध मे मारे जाने पर सैनिक के परिवार को वृत्ति (मृत्युक-वृत्ति) दी गई थी। वर्णन निम्न प्रकार है—तुरुष्क युद्धमृत पाये पुत्राय सामन्त नाम्ने प्रसादेन मृत्युक वृत्तौ शासन कृत्वा प्रदत्त इति (ए० इ० १६ पृ० २७५) दक्षिण भारत मे इस वृत्ति को नेत्तर गोडगे (खून का दान) कहा गया है। चन्देल तथा गहडवाल लेखो मे इस प्रकार की अनेक वृत्ति का विवरण पाया जाता है। (इ० ए० १८ पृ० १३५) चन्देल नरेश परमर्दि ने सैनिको को बहादुरी के लिए 'वीरमुख्य' की उपाधि दी थी और तगमा (राजपट्ट) भी दिया गया (ए० इ० ४ पृ० १३१, भा० २ पृ० ३४४ भा० १ पृ० ३३३)।

राजकीय अभिलेखो के अध्ययन से प्रकट होता है कि उस समय (७००-१२०० ई० तक) राजकुमार को कुशल शासक बनने के निमित्त समुचित ढग से शिक्षा दी जाती थी जिसका आभास राजाओ के शास्त्रीय गुणो से होता है। मालवा के चहमान लेख मे निम्न प्रकार का वर्णन आता है—

> वक्तृत्वो च कवित्व तर्क कलन प्रज्ञात शास्त्रागमः
> श्री मद्वाक्पति राजदेव इति यः सद्भि सदा कीर्त्यते।
> (ए० इ० १ पृ० २३५)

प्रतिहार लेख मे भी ऐसा ही वर्णन मिलता है —

> व्याकरणं तर्कों ज्योतिशास्त्रं कलाचित
> सर्व भाषा कवित्वं च विज्ञान सुविलक्षणम्।
> (ए० इ० १८ पृ० ९६)

इस प्रकार के उल्लेख कई स्थानो मे मिलते है। तात्पर्य यह है कि समाज मे क्षत्रिय वर्ग को शिक्षा तथा शासन के कारण आदर था। वही शासक तथा समाज के रक्षक थे।

स्मृतिकारो के कथनानुसार वैश्य का द्विज में तीसरा स्थान था जिनका कार्य कृषि तथा पशु पालन बतलाया गया है (वाणिज्य कर्षणं चैव गवा च परिपालनम्-अत्रि) गुप्त युग के पश्चात् भारतीय लेखो मे दान के प्रसग मे कृषि, कर, पशु, व्यापारिक चुगी आदि का वर्णन आया है। अग्रहार भूमि मे बाजार आदि की चुगी दानग्राही को ही मिलती थी। 'वणिक' शब्द का ही प्रयोग वैश्य वर्ग के लिए प्रायः सर्वत्र लेखो मे किया गया है। कुम्भकार, ताम्बूलिक, स्वर्णकार (हैमकार) माली आदि के नाम मिलते है। सुनार लेख अंकित करता तथा माली पुष्प माला देवगृह मे अर्पित करता था। तमोली तथा तेली (तेलिक श्रेणी) कर देते समय क्रमश पूजा की सामग्री-पान या दीप के लिए तेल दिया करते थे। सियादोनी लेख मे इन सभी प्रकार के वणिक लोगो

वैश्यजाति

के नाम मिलते है। (ए० इ० १ पृ० १७५, भा० १९ पृ० ५७, भा० १८ पृ० ९७, भा० १ पृ० १६०) व्यापार के अनुसार वणिक श्रेणियो मे विभाजित थे। स्थानीय व्यापारी (वणिक) घोडे या बैल के पीठ पर समान बाजार मे ले जाता। किराना के व्यापारी का भी उल्लेख मिलता है (ए० इ० ११ पृ० ४३) विदेश जाने वाले वणिक को 'सार्थवाह, कहा गया है वही कारवा ले चला करते थे (उभयमार्गीव समायात सार्थ उष्ट्र १० वृष २० उभयादपि उर्द्ध सार्थ प्रति-ए० इ० ११ पृ० ६०)

अभिलेखो मे तेल के कारखाना (मिल) चलाने वाले वणिक वर्ग का उल्लेख है। उनका उद्योग बडे पैमाने पर चलता था। दान के प्रसंग मे वर्णन आता है कि रथयात्रा के समय कारखाने से पूजा निमित्त द्रव्य दिया जाता और प्रत्येक मिल (घाणक) से दीपार्थ तेल अर्पित किया जाता था (ए० इ० १ पृ० १७७, भा० ११ पृ० ४२)

वैश्य वर्ग को व्यापार तथा व्यवसाय सम्बन्धी 'कर' देना पड़ता था। 'कर' की सीमा सामग्री या तौल पर निश्चित की जाती थी। सिक्का, दो सिक्का या अधिक द्रव्य विभिन्न सामग्री तथा उनकी तौल पर वसूल किया जाता। उनका वर्णन परमार चामुण्ड राय के लेख (ए० इ० २१ पृ० ४८) तथा चहमान अभिलेख (ए० इ० भा० ११ पृ० ४३) मे मिलता है। इस प्रकार वणिक जाति व्यापार से जीविकोपार्जन करती थी। लेखो मे आवागमन के साधनो मे बैलगाडी, ऊँट, घोड़ा तथा नाव के नाम उल्लिखित है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारतीय अभिलेखो के परिशीलन मे वणिक, व्यापार-सामग्री, टैक्स, आवागमन के साधन आदि सम्बन्धित विषयो पर प्रकाश पड़ता है। सबसे विचित्र बात यह है कि वणिक वर्ग का समूह (जिसे श्रेणी कहते थे) बैंक का भी कार्य करता था (नासिक के लेख)। समाज मे दान देने के कारण वणिक वर्ग का आदर था। वे मदिर-प्रबध-समिति या जिला शासन-समिति के सदस्य चुन लिए जाते थे जो उनके आदर का द्योतक है। उनके समूह (श्रेणी) पर जनता का इतना अधिक विश्वास था कि सर्व साधारण धन श्रेणी-बैंक मे जमा करते रहे अथवा दान का धन बैंक मे जमा रहता जिसकी सूद से पूजा का कार्य सम्पन्न किया जाता था।

पूर्वमध्यकालीन अभिलेखो के अध्ययन से भारतीय समाज मे 'कायस्थ' नामक जाति की स्थिति का परिज्ञान होता है जिसका नाम चारो वर्णो मे नही मिलता (चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रिय विट्शूद्रा) धर्मशास्त्र तथा पूर्व के लेखो मे कायस्थ

कायस्थ

एक लेखक के रूप मे वर्णित है (कायस्थगणका लेखकाश्च-मिताक्षरा याज्ञ० १।३३५)। प्राय प्रशस्ति के अन्त मे 'कायस्थेन लिखितं' वाक्य का प्रयोग मिलता है। गुप्तकालीन दामोदर पुर ताम्रपत्रो मे प्रथम कायस्थ अथवा ज्येष्ठ कायस्थ का नाम आता है (ए० इ० १५) जिसे श्री राखाल दास बेनर्जी लेखक समझते है (दि एज आफ इम्पीरियल गुप्त पृ० ८०)। तात्पर्य यह है कि गुप्त पूर्व लेखो मे कायस्थ से किसी जाति विशेष का बोध नही होता पर लखको के समूह को कायस्थ वर्ग मानते रहे। कालान्तर मे वह जाति के रूप मे परिणित हो गया। राजपूत लेखो मे भी 'कायस्थ' लेखक के लिए प्रयुक्त है। गहड़वाल प्रशस्ति मे निम्न उल्लेख है—श्रीमद् गोविन्द चन्द्रस्य भूपते-राज्ञयार्लिखित ताम्रमेतत सुरादित्य. कायस्थ सर्वशास्त्रवित (सहेतमहेत लेख—ए० इ० ११ पृ० २५) परन्तु मध्यकालीन (चन्देल, चेदि तथा चहमान) प्रशस्तियो मे "कायस्थ जातीय"

(ए० इ० ११ पृ० ५३) का भी उल्लेख है। बंगाल से गौड कायस्थ का अधिक वर्णन मिलता है जो प्रशस्ति लिखने में दक्ष थे और सुन्दर अक्षर लिखने के कारण मध्यप्रदेश तथा राजपूताना मे निमंत्रित किए जाते थे। (लिखिता रुचिराक्षरा गौडेन ए० इ० भा १ पृ० १४७) चेदि लेख (ए० इ० १ पृ० ३६) तथा चहमान अभिलेखो मे (ए० इ० ११ पृ० ३२, इ० ए० ५९ पृ० १६२) *'गौड कायस्थ'* का उल्लेख है [*लिखितं श्री गौडान्वय कायस्थ*] चन्देल राजा परमर्दि के लेख का रोचक वर्णन सुनिए—

विरचित शुभकर्माग्राम कायस्थवंश
सकल गुण गुणाना वेश्म पृथ्वीधराख्य
अलखदवनि पालस्याज्ञया धर्मलेखी
स्फुट ललित निवेशैरक्षरैस्ताम्रपट्टम् (ए० इ० १४पृ० १४)

खजुराहो की प्रशस्ति मे प्रकट होता है कि कायस्थ 'करण' या करणिक नाम से भी पुकारे जाते थे।

सस्कृतभाषाविदुषा जयगुण पुत्रेण
कौतुका लिखिता रुचिराक्षरा
प्रशस्ति करणिक जद्देन गौडेन (ए० इ० १ पृ० १२९)

सातवी सदी से समाज मे कायस्थ समूह को एक जाति के रूप मे स्थित पाते है। प्रशस्तियो मे कायस्थ जातीय, गौड कायस्थ वश या गौडान्वय कायस्थ आदि उल्लेखो मे उपर्युक्त कथन को पुष्टि होती है। कायस्थ जाति की शाखाए स्थान विशेष से प्रसिद्ध हुई। मथुरा के कायस्थ माथुर कहलाए (मथुरा पुरी विनिर्गत कायस्थ या माथुरान्वय कायस्थ (ए० इ० १९ प० ५०, भा० ११ पृ० ५७) गौडकायस्थ के विषय मे ऊपर कहा जा चुका है। तीसरा उपविभाग श्रीवास्तव का है जो सम्भवत श्रावस्ती (गौडा जिला, उत्तर प्रदेश) के निवासी थे। यो तो उसका भाव लक्ष्मी (श्री) का निवास हो सकता है पर इसमे स्थान का तात्पर्य नही निकलता और शाखाएं स्थान के नाम से ही विख्यात थी (ए० इ० ४ पृ० च १०४ व १५३, भा० १९ पृ० २१०)

शूद्र तथा चाण्डाल

वर्ण व्यवस्था मे शूद्र को अंतिम स्थान दिया गया है। शूद्र का धर्म द्विजाति मात्र की सेवा थी। (शूद्र धर्मो द्विजाते शुश्रुषामिता) महाभारत (शा० प० १९४, ४) के वर्णन में शूद्र की उन्नत परिस्थिति का आभास मिलता है और सेवावृत्ति न मिलने पर वैश्य के सदृश व्यापार से जीविकोपार्जन की आज्ञा उन्हे दी गई है।

वाणिज्य पशुपाल्य च तथा शिल्पोपजीवनम्
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यथा वृत्तिर्न जायते।

धर्मशास्त्र तथा स्मृतियो मे जिस विस्तार के साथ शूद्र (जाति के विषय मे) की चर्चा की गई है, वह ढंग अभिलेखो मे नही मिलता। अशोक के लेखो मे शूद्र (दास) के साथ समुचित व्यवहार (दस भटकसि सम्य परिपरि-९ वा लेख) करने का आदेश दिया गया है। कालान्तर मे स्थान विशेष पर शूद्र का उल्लेख है परन्तु किसी विशेष बात का वर्णन नही है। दान-पत्रो मे पदाधिकारियो के साथ "ब्राह्मण चाण्डाल पर्यन्तान" वाक्य का अधिकतर उल्लेख है जिससे

प्रकट होता है कि शूद्र चाण्डाल से पृथक जाति थी। चारो वर्णों के लोग एक साथ नही रहते थे। उस समय शूद्र अस्पृश्य नही थे और वर्तमान काल की तरह उनकी हीन अवस्था नही थी।

पूर्वमध्यकाल (७००-१२०० ई०) की प्रशस्तियो मे चाण्डाल का बहुधा उल्लेख आता है। पालवशी पत्र मे निम्न वर्णन आया है—

(१) प्रनिवासिनो ब्राह्मणोत्तरान् चाण्डाल पर्यन्तान (भागलपुर लेख-इ० ए० १५ पृ० ३०९)

(२) भेद चाण्डाल पर्यन्ता (महीपाल का बानगढ लेख–ए० इ० १४ पृ० ३२७)

(३) महत्तर कुटुम्बी प्ररोग मेदान्धक चाण्डाल पर्यन्तान् समाज्ञापयति (मुंगेर लेख-इ० ए० २१ पृ० २५६)

स्मृति ग्रन्थो के आधार पर चाण्डाल, प्रतिलोम विवाह की संतान कहा गया है और अस्पृश्य समझा जाता था [ब्राह्मण्या शूद्र जनित चाण्डालो धर्म वर्जित) मुसलमान लेखक अलबेरुनी ने कार्य के अनुसार कई प्रकार के अन्त्यज (अस्पृश्य) का नाम दिया है। चाण्डाल सबसे नीच समझा गया और अगिरस (४, ५) के कथनानुसार शूद्र को भी चाण्डाल के पात्र मे जल पीने पर प्रायश्चित करना पडता था।

चाण्डाल (अन्त्यज) के अतिरिक्त कई लेखो में जगली जाति का भी वर्णन मिलता है जिससे शासक का भी भय था। कलचुरि लेख मे 'धीरु' नामक जाति (ए० इ० १९ पृ० २१०) महाग्राह कही गई है। वल्लाल सेन के लेख मे भिल्ल, शवर पुलिद के नाम आते है (ए० इ० भा० १ पृ० ३३४)। ये जातिया जंगल मे निवास करती थी। राजाज्ञा के विरोध करने पर कुचल दी जाती थी ताकि समाज मे शाति बनी रहे। ७ वी सदी के पश्चात भारतीय लेखो मे मुसलमानो के लिए 'म्लेच्छ' शब्द प्रयुक्त है। चहमान लेखो मे इस शब्द का अधिक उल्लेख है। गहडवाल वश के अभिलेख हम्मीर शब्द का प्रयोग करते है जो मुसलमान राजकुमार के लिए प्रयुक्त होता रहा। विजयचन्द्र के कमौली ताम्रपत्र मे 'भुवन-दलन-हेला हर्म्य-हम्मीरनारी' वाक्य उल्लिखित है। यह मुसलमान के संदर्भ मे प्रयुक्त है।

जब उत्तरी भारत मे ईस्लाम आक्रमण तीव्र था उस समय (१०-१२ वी सदी) के लेखो मे हिन्दू नरेश के साथ उनके युद्ध का विवरण मिलता है। उसी प्रसग मे म्लेच्छ या हम्मीर शब्दो का प्रयोग किया गया है। [ग्वालियर प्रशस्ति ए० इ० भा० १८ पृ० १०७, इ० ए० १८ पृ० १६ ए० इ० भा० ४ पृ० ११०, इ० ए० ४१ पृ० १९] सिक्को के मुद्रालेख भी इसकी पुष्टि करते हैं। कई सिक्को पर 'श्री हम्म वीर' खुदा है। अमीर शब्द हम्मीर का अपभ्रश है जो अफगान सुल्तान के लिए प्रयुक्त होता है। तीसरा शब्द-तुरुष्क भी लेखो मे उल्लिखित है जो मुसलमान जाति के लिए प्रयुक्त किया गया था। गहडवाल लेख इस शब्द से भरे पडे है (ए० इ० ९ पृ० ३२९; इ० हि० क्वा० २३ पृ० ४-६, ए० इ० ८ पृ० २९५, भा० १३ पृ० २९७) इस तरह अभिलेखो के सहारे चारो वर्णों के अतिरिक्त अन्त्यज, जगली जाति तथा मुसलमानो के उत्तरी प्रदेशों मे निवास करने की बातें ज्ञात हो जाती है।

भारतीय आश्रम सस्था के अनुसार मनुष्य का जीवन चार भागा मे विभक्त है–ब्रह्मचर्य,

गार्हस्थ, बानप्रस्थ तथा सन्यास। अत्यन्त प्राचीन समय मे इन चार आश्रमो का क्रम लोगो को ज्ञात न था। यति तथा साधु समाज मे वर्तमान थे परन्तु उन्हें सन्यासी कहना उचित न होगा। तपस्या की भावना सम्भवत. लोगो को अज्ञात थी। ब्राह्मण ग्रन्थो मे भस्म लगाए साधु का वर्णन मिलता है। उपनिषद (वृहदारण्यक) मे मोक्ष प्राप्ति के लिए गृह त्यागने की चर्चा की गई है। छादोग्य मे ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा सन्यासी की बातें मिलती है। सर्वप्रथम सूत्रग्रंथो मे चार आश्रमो का नामोल्लेख है तथा मनुस्मृति मे (अध्याय ६) वही क्रम पाया जाता है।

आश्रम सस्था

अशोक ने लेखो मे—"ब्राह्मण श्रमणाना दसण" ब्राह्मण तथा साधु के दर्शन करने की बातें कही हैं। बुद्धधर्म में वर्णाश्रम सस्था के लिए कोई स्थान न था। छोटा बालक भी सीधे भिक्षु हो जाता था। इस प्रथा को रोकने के लिए भारतीय समाज ने प्रयत्न किया और प्रत्येक आश्रम के पालन करने के महत्व को बतलाया। गुप्तयुग तक समाज मे द्वद था कि कौनसा आदर्श माना जाय। परन्तु गुप्तकाल के पश्चात् आश्रम ने समाज मे घर बना लिया तथा लेखो मे अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा मिलती है। कर्णदेव चेदि के गोरहा ताम्रपत्र मे चारो आश्रम का उल्लेख निम्न पंक्तियो मे किया गया है—

नीतेषु प्रमदा वियोद विधिना, प्रागु ब्रह्मचारि व्रत
साद्धं बन्धुतया गृहस्थ पदवी कारागृहस्थापनात्
बानप्रस्थ पद वनाश्रमवशात् भैक्षाच्चनिक्षो स्थिति:

(ए० इ० ११ पृ० १४४)

कन्नौज के राजा भोजदेव (आठवी सदी) के लेख मे आश्वलायन शाखा के विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) का नाम मिलता है (ए० इ० ५ पृ० २१२)। उसी तरह रतलाम ताम्रपत्र मे वाजसनेय शाखा के ब्रह्मचारी को ग्राम-दान का उल्लेख है (आ० सा० रि० १९०२-३ पृ० २३७) चहमान लेख मे आजन्म ब्रह्मचारी का वर्णन सुनिए:—

आजन्म ब्रह्मचारी दिगमल वसन. सयतात्मा तपस्वी

(ए० इ० २ पृ० १२३)

देवपाल की प्रशस्ति में सामवेद के अध्ययन करने वाला ब्रह्मचारी हरिश्वर नाम से उल्लिखित है (हरिश्वर ब्रह्मचारी सामवेदिन—ए० इ० १५ पृ० २९८)।

ब्रह्मचारी विद्या समाप्त कर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता था—इस प्रकार का वर्णन लेखो मे आया है (गृहाश्रामा वासि परो गृहिण्या —ज० ए० सो० ब० १८९७ पृ० २९२, गृहाश्रम वेस्मु —ए० इ० २ पृ० १६२)। गहडवाल वंशी लेखो मे होम तथा तर्पण का अधिक वर्णन आया है जिसे गृहस्थ सम्पन्न किया करते थे (ए० इ० ४ पृ० १५८, भा० १९ पृ० २९१) दूसरे शब्दो मे यह भी उल्लेख है कि परिपक्व अवस्था मे राजा घर छोड कर जगल चला जाता था। यानी गृहस्थाश्रम के पश्चात् बानप्रस्थ मे प्रवेश करता था, ताकि तपस्या कर मोक्ष की प्राप्ति कर सके।

वर्णन है कि गुर्जर प्रतिहार नरेश तात संसार को चचल तथा नाशवान समझकर छोटे भ्राता भोज को राज्य सौंप कर जगल चला गया और धार्मिक जीवन व्यतीत किया (ए० इ० १८ पृ० ९६—मण्डव्यस्य आश्रमे पुण्ये नदी निर्भर शोभिते) उसी प्रशस्ति मे शिलादित्य

नामक नरेश का उल्लेख है जिसने पुत्र को गद्दी देकर गंगा के किनारे तपस्या आरम्भ की और अंत में सद्गति प्राप्त की।

भिलादित्य तपोमति । येना राज्य कृतयेन
पुन पुत्राय दत्तवान् । गंगाद्वारे ततोगत्वा
वर्षाण्यष्टादशस्थित । अन्ते च अनशन कृत्वा
स्वर्गलोक समागतः (ए० इ० १८ पृ० ९८)

पाल नरेश विग्रहपाल ने भी ऐसा ही किया था और अपने पुत्र नारायणपाल को सिंहासन का भार देकर स्वयं तपस्वी बन गया (भागलपुर ताम्रपत्र इ० ए० १५) सेन-शासक सामन्तसेन (१०५०-१०५७ ई०) ने वृद्ध होकर वानप्रस्थ आश्रम को अपनाया था तथा गंगा के किनारे जंगल में रहने लगा (ए० इ० १ पृ० ३०८) जयपालदेव की प्रशस्ति में व्यक्ति के आयु का भी उल्लेख मिलता है कि पचास की आयु के पश्चात् राजा तपस्या करने जंगल में चला गया। इस प्रकार आश्रमों के अवधि का परिज्ञान होता है कि ब्रह्मचर्य २५ वर्ष, गृहस्थ २१ वर्ष (जिसके पश्चात् वानप्रस्थ) तथा वानप्रस्थ में भी २५ वर्ष व्यतीत करना पड़ता था। अतएव प्रशस्तियों द्वारा स्मृति ग्रन्थों में वर्णित आश्रमों की सम्पुष्टि होती है।

सन्यासी एवं मठाधीश

अभिलेखों का अध्ययन यह बतलाता है कि साधु बौद्ध भिक्षुओं की तरह जीवन व्यतीत करते थे। सन्यासी के लिए "कौपिनमात्र वसन तथा मितभिक्षा भोजी" की बातें उल्लिखित हैं तथा उनके योग तप की भी चर्चा मिलती है –

योग तप कर्म रतो नित्य कर्म सन्यासि (ए० इ० १८ पृ० २१०)

आठवीं सदी के पश्चात् उत्तरी भारत में बौद्ध विहारों के सदृश सन्यासी के लिए मठ पर्वतों को खोदकर बनने लगे। इलोरा तथा एलेफेन्टा की गुफाएं उन्हीं विहारों के अनुकरण पर तैयार की गई थी। हिन्दू सन्यासी परिव्राजक भी कहे जाते थे तथा अधिकतर शिव के पुजारी होते थे। शिव को आदर्श योगी मानते हैं इसलिए उनसे प्रेरणा मिलती थी। दानपत्रों में शिव मन्दिर तथा मठ के लिए दान का वर्णन मिलता है जहां सन्यासी रहा करते थे। कलचुरी रत्नदेव (१२ वीं सदी) ने इस प्रकार का मठ तैयार किया था (ए० इ० ११ पृ० २६५, २१ पृ० १४८) अभिलेखों में मठ तैयार कर साधु को समर्पित करने का भी विवरण पाया जाता है (ए० इ० १ पृ० २५९, राजपुताना संग्रहालय लेख—१९२२-२३ पृ० २) उत्तरी भारत के लेखों में अनेक स्थलों पर मठ निर्माण तथा परिव्राजक का दान देने का वर्णन मिलता है। कालान्तर में साधु मठाधीश बन गए, यही कारण है कि मध्यकालीन लेखों में परिव्राजक नृपति का उल्लेख किया गया है। (ए० इ० २१ पृ० १२६)। मठाधीश के पास अधिक सम्पत्ति हो जाती थी पर दान की सम्पत्ति बेचने का अधिकार न था। कलचुरी लेख से शैव-साधु को सम्पत्ति का बन्धक रखने का पता चलता है (आ० स० इ० ए० रि० १९३५-३६ पृ० ८१) ७वीं सदी के पश्चात् व्यक्ति से अधिक सामाजिक संस्थाओं (जैसे मन्दिर, मठ, विद्यालय) को दान देने का विवरण लेखों में मिलता है। वह दान विशेष कार्य के लिए दिया जाता था। कालान्तर में मठ का मुख्य साधु, अधिकारी के रूप में कार्य करते हुए मठाधीश हो गया और सारी सम्पत्ति का स्वामी बन बैठा। इसी रूप से सन्यासी मठाधीश बनकर शासक की तरह प्रबंधक हो गए।

अभिलेखो के विश्लेषणात्मक अध्ययन मे एक विचित्र घटना का परिज्ञान होता है जिसका उल्लेख केवल पूर्वमध्ययुग के लेखो में ही पाया गया है। यो तो जीवन दर्शन मोक्ष-प्राप्ति मे परिलक्षित है परन्तु इसकी उपलब्धि के निमित्त मृत्यु की प्रतीक्षा करनी पडती है। ७००-१२०० ई० के लेखो मे स्वर्ग प्राप्ति के लिए अनेक उपायो का वर्णन मिलता है। पुराणो मे अग्नि मे जलना, विष पी लेना, जल में डूब जाना तथा अनशन करना आदि उपायो से धार्मिक हत्या करने का आदेश दिया गया है (इस आत्म हत्या से पाप नही होता था) उन बलिदान के मार्गों का इस युग मे अक्षरश पालन किया गया। मध्यप्रदेश के खैरा ताम्रपत्र मे उल्लेख आता है कि कलचुरि नरेश गागेयदेव अपनी सौ पत्नियों के साथ अग्नि मे जल मरा। उल्लेख निम्न प्रकार है—

बलिदान करने के उपाय

प्राप्ते प्रयाग वट्मल निवेश बन्धौ
सार्द्ध शतेन गृहिणाभिरमुच मुक्तिम् (ए० इ० २ पृ० ४)

ऐसा उदाहरण तृतीय कुमारगुप्त के सम्बन्ध मे मिलता है—अम्भसीव करीषाग्नौमग्न स पुष्प पाजित —(का० इ० इ० ३ पृ० ८२) मध्ययुग के चन्देल राजा धग ने भी प्रयाग जाकर अग्नि म जलकर बलिदान किया था (ए० इ० १ पृ० १८०)। अभिलेखो मे अनशन करने की भी चर्चा है। प्रतिहार राजा भिलादित्य ने अनशन से शरीर त्यागा था (अन्ते च अनशन कृत्वा स्वर्ग लाक समागत ए० इ० १८ पृ० ९६-८) चेदिवश के लेख मे ऐसा ही विवरण पाया जाता है (ए०इ० २२ पृ० १६५) आसाम के एक लेख मे निम्न पंक्ति मिलती है—

अनशन विधिना वीरस्तेजसि माहेश्वरे लीन
(नौगग ताम्रपत्र - ज० ए० सो० ब० १८९७ पृ० २९०)

हिन्दुओ के अतिरिक्त जैन साधु भी अनशन मे बलिदान दिया करते थे (ए० इ० २० पृ० ९८)। इस तरह धार्मिक ढग से आत्म बलिदान करने की क्रिया उत्तरी भारत मे प्रचलित थी। काश्मीर मे तो अनशन का प्रबन्धक पदाधिकारी नियुक्त था जो 'प्रायोपवेश' कहलाता था। इस ढग से तपस्या कर वह व्यक्ति मुक्ति प्राप्त करता था।

राजपुताने के लेख मे एक नए उपाय का सकेत मिलता है जिसे 'कायव्रत' कहते है। इस कार्य से यानी उपवास करता हुआ ब्राह्मण राजा को अपनी इच्छा पूर्ति के लिए बाध्य करता था। चहमान लेख मे इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विचार के अतिरिक्त सासारिक लाभ (अर्थ) के लिए किया गया है। अतएव 'कायव्रत' को बलिदान के आदर्श श्रेणी मे नही रख सकते।

अस्माक मध्यान् कोपि ब्राह्मणो निगमते पेट पृष्ट
दर्शयति गृह्यमाणस्तु 'कायव्रत' कृत्वा मृयते
(ए० इ० ११ पृ० ४०)

दक्षिण भारत मे इस युग मे राजा के चिता पर दरबारो के बलिदान का भी उल्लेख है। उसे 'मामखाम' कहते थे। जितने उच्च पदाधिकारी राजा के साथ भोजन (पका चावल) करते थे उन सभी को राजा के चिता पर जलना पड़ता था (दक्षिण भारत के शिलालेख १९२९-

३० न० २६७, १९३४-३५ न० १२२५) इसलिए सक्षेप मे यह कहना उचित होगा कि धार्मिक भावना से बलिदान (आत्म-हत्या) करने का प्रचलन सर्वत्र था ।

प्राचीन भारतीय अभिलेखो के स्वरूप को जानते हुए उनके अध्ययन से संस्कार सम्बन्धी चर्चा की आशा नही की जा सकती किन्तु दान के प्रकरण मे कुछ सस्कार के नाम मिलते है । मनुष्य जीवन मे षोडश सस्कार सम्पन्न किए जाते हैं ।

सामाजिक सस्कार

गुप्त पूर्व लेखो में तो कोई प्रसग ही नही आता जब संस्कार के सम्बन्ध मे दो चार बातें कही जाय । सातवी सदी के पश्चात जात-कर्म, नामकर्म, विवाह तथा श्राद्ध का उल्लेख मिलता है । गहडवाल राजा जयचन्द्र ने अपने पुत्र हरिश्चन्द्र के जन्म (जात कर्म) तथा नामकरण के अवसर पर दान दिया था (ए० इ० ४ पृ० १२६, इ० ए० १८ पृ० १२९) जो कमौली ताम्रपत्रो मे उल्लिखित है । विवाह तथा श्राद्ध के विषय मे सीधा वर्णन नही मिलता । कलचुरी प्रशस्तियो मे कर्णदेव द्वारा गागेयदेव के श्राद्ध करने का विवरण पाया जाता है—

(१) समग्र श्रद्धया श्राद्ध विधाय (ए० इ० २ पृ० ३१०)

(२) सम्वत्सरिकपार्वणि श्राद्धे (ए० इ० ४ पृ १०५)

विवाह के विषय में अभिलेखो को चर्चा नही के बराबर है । उत्तर भारत के लेखा मे विवाहिता स्त्री के लिए तीन नामो का उल्लेख आता है—भार्या, गृहिणो तथा पत्नी ।

(अ) द्वे भार्ये (ए० इ० २९ पृ० ५४)

(ब) सार्धशतेन गृहिणा (ए० इ० १२ पृ० २०५)

(स) विप्र श्री हरिश्चन्द्राख्य पत्नी भद्रा च क्षत्रिया (ए० इ० १८ पृ० ९५) इसके अतिरिक्त निपेरा लेख मे पाराशव पुत्र का नाम आता है जिससे पता चलता है ब्रह्म विवाह के अतिरिक्त अनुलोम प्रथा भी प्रचलित थी [ए० इ० १५ पृ० ३०५] अनुलोम प्रथा (ब्राह्मण वर तथा अन्य वर्ण को कन्या) का प्रचलन के कारण ही ब्राह्मण हरिश्चन्द्र ने क्षत्रिय कन्या से विवाह किया था (तेन श्री हरिश्चन्द्रेण परिणीता द्विज आत्मजा, द्वितिया क्षत्रिया ए० इ० १८ पृ० ६५) चेदिराजा यश कर्ण ने हूणराजकुमारी से विवाह किया (ए० इ० २ पृ० ८) । इस तरह के अर्न्तजातीय विवाह के उदाहरण लेखो मे भरे पड़े है । मुसलमान लेखको- इब्न खुरदवा तथा अलबेरूनी ने भी अन्तर्जातीय विवाह की चर्चा की है ।

अभिलेखो के परिशीलन से यह प्रकट होता है कि साधारण जनता मे एक साथ अनेक विवाह करने का प्रचलन न था । केवल राजघराने मे बहु पत्नी व्रत का उल्लेख पाया जाता है । प्रतिहार वश के जोधपुर प्रशस्ति मे उल्लेख है कि आदि पुरुष हरिश्चन्द्र की दो पत्नियाँ थी । (ए० इ० १८ पृ० ६५) उसी के वंशज महेन्द्र पाल ने एक साथ दो स्त्रियो से विवाह किया था । (ए० इ० १४ पृ० १७६) परमार प्रशस्ति मे जयदेव उदया दित्य के सम्बन्ध मे उल्लेख है कि राजा ने सोलकी तथा बघेल वशी राज कुमारियो से शादी की थी (ए० इ० २२ पृ० ५६ द्वे भार्यो) चन्देल लेख मे मदन बर्मन तथा देवगण के लिए ऐसा ही विवरण पाया जाता है (ए० इ० १ पृ० २००, भा० १ पृ० ४८) पामल्ल देवी तथा मौला देवी चहमान राजा राज्यपाल की पत्नी कही गई हैं। रामा तथा पद्मा गंगाधर की भार्या थीं (ए० इ० ११ पृ० ६१ भा० २१ पृ० १६०

बहु पत्नी व्रत

पृ० १६०) गहडवाल नरेश गोविन्द चन्द्र देव ने पाच राजकुमारियो से विवाह किया था जब कि उसके पिता मदन पाल को दो धर्म पत्निया थी (ए० इ० ९ पृ० ३२४) । सबसे विचित्र बात तो यह है कि चेदि राजा गागेय देव की सौ रानिया थी जो उसके साथ अग्नि मे जलकर स्वर्ग लोक सिधारी (ए० इ० २ पृ० ४, भा० १२ पृ० २११—सार्ध शतेन गृहिणी) सक्षेप में कहा जा सकता है कि राजाओ की एक साथ कई रानियाँ महल मे रहती थी जो बहुपत्नी व्रत का द्योतक है ।

सती प्रथा

प्राचीन प्रशस्तियो मे विधवा के आत्म-बलिदान का उतना विवरण नही मिलता जितना स्मृतिकारो ने वर्णन किया है । गुप्त युग से पूर्व इस सम्बन्ध मे कुछ कहना कठिन है परन्तु गुप्त कालीन स्मृतियो मे विधवा के जीवन के दो मार्ग बतलाए गए है । ब्रह्मचारिणी अथवा सती । विष्णु (३५।१४) तथा वृहस्पति (२५।११) ने इन दो मार्गों का वर्णन किया है । उस समय सती प्रथा का प्रचलन अज्ञात न था और छठी सदा के एरण (मध्य प्रदेश) लेख मे भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की पत्नी के सती होने का उल्लेख मिलता है ।

भक्ता नुरक्ता च प्रिया च कान्ता भार्यावलग्नानुगताग्निराशिम् ।

बाण ने लिखा है कि राज्यश्री स्वेच्छा मे सती होने को तैयार थी । मध्ययुग के मुसलमान लेखक सुलेमान तथा अलबेरूनी ने रानियो के सती होने की बातें लिखी है । कलचुरी नरेश गागेय-देव की सौ स्त्रिया आग मे जल मरी थी परन्तु इसे सती न कह सहमरण की सज्ञा दी गई है । राजतरंगिणि मे कल्हण ने रानियो के सती होने का उल्लेख किया है (तरं० ७, ७२४, ८५९) जोधपुर के एक लेख म राजपूत रानी के सती होने की चर्चा है (ए० इ० २० पृ० ५८) इस प्रकार मध्य प्रदेश तथा राजपूताने मे सती होने या सहमरण का उदाहरण मिलता है । राज-पुताने के इतिहास म हजारो स्त्रियो के अग्नि में जलने की बातें उल्लिखित हैं लेकिन उसे 'जौहर' का नाम दिया जाता है । सती के सीमित अर्थ से वह भिन्न है ।

गणिका

भारत मे सगीत का प्रेम सदा से एक-सा रहा तथा ऊँचे श्रेणी के लोग सगीत तथा गणिका से सम्बद्ध रहते थे । प्राचीन लेखो मे भी सगीत का किसी न किसी रूप से उल्लेख पाया जाता है । अशोक ने अपने धर्म-शासन मे उस 'समाज' की निन्दा की है जहा सगीतमय और वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत किया जाता हो । विद्वानो के समाज (एक चा समाजा साधुमता) को श्रेष्ठ बतलाया है । मोर्य युग के पश्चात् कलात्मक उदाहरणो से इस बात का परिज्ञान होता है कि समाज की जनता संगीत मे रुचि रखती थी (जिसे राजा के भय से लोगो ने दबा रक्खा था) और इसलिए भरहुत के स्तम्भ पर संगात का प्रदर्शन पाया जाता है । वहा अप्सराएँ नृत्य कर रही है तथा अनेक बाद्य बज रहे हैं । दक्षिण भारत के अमरावती कला मे भी ऐसा ही प्रदर्शन है । बोधि-सत्व के सम्मुख तुषितस्वर्ग मे अप्सराएं नृत्य कर रही है और उन्हे संसार मे अवतरित होने का आग्रह किया जा रहा है वही बोधिसत्व हाथी के रूप मे मायादेवी के गर्भ मे आए । लेखो मे गणिका द्वारा शासक की प्रशंसा करने का भाव उल्लिखित है । सामन्तसेन के यश को गाती हुई अप्सराओ का विवरण देवपारा प्रशस्ति मे मिलता है—(ए० इ० १ पृ० ३१० पद्य ५)

उद्गीयन्ते यदीयासबल दुद्धि जलो
लोल शीतेगु सेतो
कच्छान्तेपु अप्सरोभिर्दशरथ तनय
स्पर्द्धया युद्ध गाथा

अभिलेखो का अध्ययन यह बतलाता है कि गणिका समाज मे फैली थी। असम के लेख मे ग्रामदान का ऐसा विवरण है कि भूमिदान के साथ ग्राम की गणिका भी दानग्राही को सौप दी जाती रही। (तेजपुर ताम्रपत्र ज० रा० सो० वं९ पृ० ९६६) बाघ की गुफाओ मे सुन्दर वस्त्र पहने नर्तकी का समूह चित्रित है। पूर्व मध्ययुग मे भगवान् को प्रसन्न करने के लिए मन्दिरो मे गणिका रक्खी जाती थी, इसी कारण नट-मण्डप नामक मन्दिर का प्राकार तैयार किया गया। देवपारा लेख मे इस तरह की मन्दिर-गणिकाओ का वर्णन है (ए० इ० १ पृ० ३१०)। खजुराहो तथा भुवनेश्वर मन्दिरो की दीवालो पर गणिकाओ के चित्र खुदे है जो नाना प्रकार के वाद्यो का प्रयोग कर रही है। १२ वी सदी के चहमान लेख मे वेश्याओ पर लगाए गए 'कर' का उल्लेख है। जिसे शासक ने कारणवश माफ कर दिया था (आ० स० रि० ए० रि० १९०८-९ पृ० ११९) खेद है कि इस तरह के शुल्क का वर्णन अन्यत्र नही मिलता, परन्तु कला तथा लेखा का अध्ययन यह प्रकट करता है कि सासारिक तथा देवकार्यो मे गणिका की सहायता ली जाती थी। प्राचीन भारतीय समाज मे उन्हे तिरस्कृत करने की भावना न थी।

प्रत्येक समाज मे वस्त्र तथा आभूषण सर्वप्रिय वस्तु तथा आवश्यक सामग्री समझी गई है। लेखो मे इसका विस्तृत विवरण नही मिलता, केवल गौणरूप से कुछ उल्लेख पाया जाता है।

वस्त्राभूषण तथा शृंगार के साधन

अशोक के धर्मशासन मे (सारनाथ, कौशाम्बी तथा साची स्तम्भ) वर्णन मिलता है कि सघ मे भेद पैदा करने वाले (पीत वस्त्र-धारी) भिक्षु या भिक्षुणी को सफेद वस्त्र पहनाकर बहिष्कृत कर दिया जायगा। गृहस्थ लोग सफेद वस्त्र तथा भिक्षु रगीन (अवदातपीला) वस्त्र धारण करते थे। अत. भिक्षु के लिए सफेद वस्त्र निन्दनीय समझा जाता था। अशोक ने उसकी ओर संकेत किया था। उसके पश्चात् दान के प्रसग मे भिक्षुओ को चीवर (अधावस्त्र तथा सघाटी) देने का वर्णन नासिक लेख मे पाया जाता है। (भविसति चिवरिक कुशाणमूले च—ए० इ० ८ पृ० ८२) गुणैधर ताम्रपत्र मे (गु० स० १८८) 'भिक्षुसंघस्य च चीवर ' परिभोगाय विहारे' वाक्य द्वारा वस्त्र दान की चर्चा की गई है। नालंदा ताम्रपत्र मे भी दान के विभिन्न कार्यो मे चीवर दान का उल्लेख मिलता है (चिवरिका प्रदाय —ए० इ० १७)। सम्भवत प्रशस्तियो मे वस्त्राभूषण के उल्लेख का अवसर न था, इसलिए उनमें संतोषप्रद उल्लेख नही मिलता। प्रतिमाओ के परीक्षण से अधिक बातो का पता चलता है।

शृंगार के प्रसाधनो मे बाल संवारने सिंदूर लगाने तथा अंजन देने का वर्णन पाया जाता है। बालो के नाना प्रकार की ग्रथियो की जानकारी खुदे चित्रो से हो जाती है। महेन्द्रपाल की पहेवा प्रशस्ति मे शत्रुओ के स्त्रियो के सीधे बालो (घुंघराले या ग्रंथियुक्त नही) का वर्णन है जो पति के मरने मर विधवा हो गई थी (ए० इ० १ पृ० २४६)।

करतलस्थगिताधर पल्लवा प्रतनुकान्ति कपोल तलोदरम्
सिषिचुरसु जलैर्यदरिस्त्रियस्सरलित प्रचुरालक जालका ।

सिन्दूर ललनाओ के सौभाग्य का चिन्ह था। (युद्ध मे) पति की मृत्यु के कारण विधवाएँ उसे प्रयुक्त नही करती। चन्देल नरेश के खजुराहो लेख मे वैसा ही वर्णन है कि वह सौभाग्य चिन्ह नष्ट हो गया था और कुकुंम का भी प्रयोग समाप्त कर दिया गया था (ए०इ०१पृ०९२९)

सिन्दूर भूषणविवर्जितमास्य पद्मं उत्सृष्ट हार वलयं कुचमण्डलञ्च।
आखो मे अञ्जन लगाने का वर्णन अभिलेखो मे कम मिलता है। उस सम्बन्ध मे धनिक के नगर-लेख की निम्न पंक्ति सुनिए —

भ्रूभङ्गया रहितैरनन्यगतिभि सन्त्यक्त कालाञ्जनै.
(भारत कौमुदी भा० १ पृ० २७४)

ऐसा ही वर्णन अन्य स्थानो पर आता है (ए० इ० २६ पृ० २५४) इस प्रकार चित्रो के अतिरिक्त अभिलेखों मे भी यदा कदा उल्लेख आया है जो समाज मे शृंगारिक प्रसाधन के प्रयोग का द्यातक है।

भोजन तथा पेय

छठी सदी स पूर्व के लेखो म भोजन के प्रसंग मे विभिन्न वस्तुओ का नाम नही मिलता केवल दान द्रव्य से भोजन-वस्त्र के व्यय का उल्लेख पाया जाता है। नासिक लेख मे ब्राह्मणो के लिए भोजन निमित्त ग्रामदान का उद्देश्य व्यक्त किया गया है–षोडश ग्रामदेन अनुवर्ष ब्राह्मण शतसाहस्रो भोजापयित्रा (ए० इ० ८ नृ०७८)। गुप्त लेख मे भी इसी तरह का वर्णन आता है कि पचीस दीनार भिक्षु के भोजन निमित्त दिया गया—तावत्पचभिक्षवो भुजता रत्नगृहे (का० इ० इ० ३ पृ० ३१) छठी शताब्दी के अभिलेखो मे सत्र (= छत्र) शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ भोजन वितरण के स्थान से है, बिना मूल्य के भोजन जहाँ विभक्त किया जाता था। यह अवस्था प्राचीन कालीन समाज मे सर्वत्र वर्तमान थी और गृहहीन, भूखे एव साधुओ को भोजन दिया जाता था। प्रथम कुमार गुप्त के भिलसद लेख मे धर्म सत्र, पालवशी नालदा एव भागलपुर ताम्रपत्रो मे सत्र तथा चहमान प्रशस्तियो मे अन्न-सत्र शब्दो का प्रयोग उसी अर्थ मे हुआ है। आठवी सदी के नालदा ताम्रपत्र मे "सम्यग् बहुघृत दधिभि व्यजनैः युक्त-मन्नत्" (ए० इ० ६० पृ० ४४) का उल्लेख है। यानो घी, दूध, दही आदि अन्य व्यजन के साथ भोजन विभक्त किया जाता। गेहूँ तथा चावल के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। भगवान् के लिए नैवेद्य भी अन्न से तैयार किया जाता था। राजपुताने के एक लेख मे आटा चावल को घी मे पकाने का विवरण आता है। नैवेद्य के लिए दो सेर आटे के लिए आठ कलस (एक माप) घी की आवश्यकता पडती थी (ए० इ० २० पृ० ५७) गन्ना की खेती का वर्णन चीनी के प्रयोग की बात़े सिद्ध करता हैं (इ० ए० १६ पृ० २०९) तेल एव घी का प्रयोग तो अत्यधिक मात्रा मे होता था क्योकि भोजन के अतिरिक्त, मन्दिर मे दीपक जलाने के भी काम आता था। यह भोजन सम्भवत ऊँचे श्रेणी के लोगो के लिए था। स्मृतियो मे भोजन सम्बन्धी चर्चा विशेष रूप से मिलती है और स्मृतिकारो ने वैज्ञानिक ढग से भोजन सामग्रियो पर विचार किया है। दानपत्रो मे 'समत्स्याकार' (मछली तालाब सहित) शब्द से यही तात्पर्य समझा जा सकता है कि समाज के कुछ व्यक्ति मछली तथा मास का भी प्रयोग करते थे। गहडवाल लेखो मे 'सजल समत्स्य.' शब्दो का प्रयोग अधिक मिलता है (ए० इ० भा० ४, ८, १६ पृ० १५४, ७३)। इसके अतिरिक्त व्यापार के सिलसिले मे 'किराना'

शब्द का (किराउउजा) उल्लेख प्रकट करता है कि भोजन मे मसाले का भी प्रयोग समाज मे अवश्य होता था (ए० इ० ११ पृ० ४३)।

भोजन सामग्री के मूल्य सम्बन्धी वार्त्ता का सीधा उल्लेख अभिलेखो के अध्ययन द्वारा नही मिलता तौभी कुछ उद्धरण ऐसे हैं जिनसे तत्सम्बन्धी अर्थ निकला जा सकता है। ईसवी पूर्व के लेखो मे ऐसा कोई सदर्भ नही है परन्तु दूसरी सदी के नहपान कालीन नासिक लेख मे पर्याप्त वर्णन है। वह पंक्तिया निम्न रूप से अकित है—कहापणा महस्राणि त्रीणि ३००० सघस चातुदिसस ये इमस्मि लोणे वसातान भवसन्ति चिवरिक कुशाणमूले च। एते कहापणा प्रयुक्ता गोवधन वाथवासु श्रेणिसु। कोलिक निकाये २००० वधि पडिक शत। अपर कोलिक ये १००० बधि पाउन पडिक शत। ऐते च कहापणा अपडिदातवा वृधि भोजा (ए० इ० ८ पृ० ८२) एतो चिवरिक सहस्राणि वे २००० ये पडिक शते। एतो मम लेणे वसवुथान भिखुन वीसाय एकाकस चिवरिक वारसक। ये सहस्र प्रयुक्त पायुन पडिक शते अतो कुशन मूले।

भोजन का मूल्य

तीन हजार कार्षापण भिक्षुओ के वस्त्र तथा भोजन के निमित्त तन्तुवाय संघ के पास जमा किया। उसमे दो हजार एक पण प्रति शत सूद के दर से तथा एक हजार तीन चौथाई पण प्रति शत के दर से। दो हजार के सूद से बीस भिक्षुओ का वस्त्र व्यय तथा एक हजार की सूद से भोजन व्यय चलेगा। मूल धन व्यय नही होगा। केवल सूद का प्रयोग हो होगा। इसका तात्पर्य यह है कि की बीस भिक्षुओ के लिए बीस पण (सिक्का) वस्त्र मे तथा साढे सात रुपया भोजन मे प्रति वर्ष (?) व्यय किया जाता था। इस तरह प्रति भिक्षु छ आने प्रतिमास भोजन व्यय निश्चित हो जाता है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भोजन सामग्री अत्यन्त सस्ते दाम पर बिकती थी।

चौथी शताब्दी के गुप्त लेख मे भी अन्य प्रकार का वर्णन आता है। द्वितीय चन्द्रगुप्त के गढवा लेख मे ब्राह्मण के भोजन निमित्त दस दीनार (स्वर्णमुद्रा) देने का उल्लेख मिलता है। इसमे सूद के दर का उल्लेख नही है। दूसरे लेख मे बारह दीनार को सूद पर देने का वर्णन है जिसकी आय से एक भिक्षु का भोजन व्यय चलता था। यानी चारसौ बीस (१ दीनार = ३५ रजत मुद्रा) रुपया का सूद भोजन के लिए पर्याप्त था। यदि सूद का दर एक कार्षापण प्रतिशत मान लिया जाय तो वर्ष मे एक व्यक्ति के भोजन के लिए चार रुपया तीन आने की आय होगी। यानी छ आने प्रति मास के हिसाब से प्रति व्यक्ति भोजन व्यय होता है। चातुर्दिशायर्भ संघायाक्षनो विदत्ता दीनारा द्वादश। एतेपा दीनाराणा या वृद्धि रूपजायत तथा दिवसे दिवसे संघ मध्य प्रविष्ट भिक्षोरेको भोजयितव्या (का० इ० इ० ३ न० ६३) सारांश यह है कि गुप्त युग तक भोजन व्यय नाममात्र का था। सामग्रियां अत्यन्त सस्ती थी। ईसवी सन् की पहली सदी से पाचवी सदी तक भोजन सामग्री का मूल्य प्राय समान था।

जहां तक पेय का प्रश्न है लेखो मे तीन प्रकार की नशीली चीजो के नाम मिलते है।

(१) सुरापान या मधुपान

(२) सोमरस

(३) रसवती या ताडी

प्रथम पेय—शराब का प्रयोग ब्राह्मण से भिन्न जातिया करती रही। जोधपुर की प्रशस्ति से पता चलता है कि ८ वी सदी मे राजपुताने के क्षत्रिय सुरापान स प्रेम रखते थे। गुर्जर प्रतिहार राजा हरिश्चन्द्र की दो रानिया थी। ब्राह्मण कन्या तथा राजपूत कन्या से उसने विवाह किया था। लेख मे वर्णन है कि राजपूत कन्या की सन्तान सुरापान म अभ्यस्त थी।

राज्ञी भद्रा च यास्सूते ते भूता मधुपायिनः

(ए० इ० १८ पृ० ९५)

उसी वश की ग्वालियर प्रशस्ति से स्त्रियो के शराब पीने की चर्चा मिलती है (ए० इ० १८ पृ० १०८ पद्य ६) अलबेरूनी ने भी ऐसा ही लिखा है कि क्षत्रिय वर्ग के लोग शराब पीते थे। पूर्व मध्ययुग (७००–१२०० ई०) मे क्षत्रिय वर्ग के लिए सम्भवत शराब लोक प्रिय हो गया था। मध्यभारत के अनेक दानपत्रो मे आम्र तथा मधूक (महुआ) वृक्ष के साथ ग्रामदान का विवरण है (ए० इ० भा० ४ पृ० ११९, भा० ८ पृ० १५४, भा० २१ पृ० ९५) इस मधूक पुष्प से एक तरह का रस (शराब) तैयार किया जाता है पर यह कहना कठिन है कि दानग्राही ब्राह्मण प्रयोग करते थे या नही। अग्रहार दान लेने के कारण ग्राम मे मधूक से तैयार रस को ब्राह्मणो द्वारा विक्रय करने की भी बात सोची जा सकती है। लेखो के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि उस रस (सोमरस ?) का प्रयोग जनता करती हो।

तीसरा पेय ताडी है जिसे कलचुरी लेख मे रसवती कहा गया है (ए० इ० २१ पृ० १५) वर्तमान समय मे भी ताडी निम्न श्रेणी के लोगो का पेय है। औशनस ने पुल्कसा नामक जाति का उल्लेख किया है जो शराब का काम करती थी। आजकल पासी जाति से इसकी समता की जा सकती है। शराब-व्यापारी वणिक वर्ग के कलवार उपशाखा का नाम (कल्लपाल) लेखो मे मिलता है। प्रशस्ति मे वर्णन है कि इस वर्ग को मद्यभाण्ड की सख्या पर 'कर' चुकाना पडता था। निम्नलिखित वर्णन सुनिए—

समस्त कल्लपालाना मध्ये यस्य यस्य सत्कमद्यभाण्ड नि पद्यते विक्रयं याति स च स चन्द्रार्क यावत् विग्रहपाल सत्कद्रमार्द्धिका दातव्या (ए० इ० १ पृ० १७४) आधा सिक्का—आठ आना (विग्रहपालीय द्रम) एक मद्यभाण्ड पर टैक्स के रूप मे देना पडता था। परमार प्रशस्ति (१०७८ ई०) मे भी 'कर' देने की बात लिखी है (ए० इ० १४ पृ० २९८) इस प्रकार शराब तथा रसवती पर 'कर' के प्रसंग मे पेय के नामो की जानकारी होती है।

प्राचीन स्मृतियो मे वर्णन है कि साधु तथा ब्रह्मचारी भिक्षा माग कर अपना जीवन निर्वाह करते थे। बौद्ध सघ के भिक्षु तथा भिक्षुणी ग्रामो मे भिक्षा माग कर विहारो मे लौट जाते। समाज मे गृहस्थ भी इनको भोजन देना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसलिए वर्णाश्रम धर्म तथा सघकी स्थिति से भिक्षा मागने का कार्य बढता ही गया। ब्राह्मण साधु तथा भिक्षुओ की सख्या भी बढती गई। यद्यपि प्रशस्तियो मे भिक्षा मागने के सम्बन्ध मे कुछ कहा नही गया है तथापि उनके अध्ययन से इस विषय पर प्रकाश पडता है। मौर्ययुग म ग्रामो से कुछ मील दूर विहार बनवाए गए थे। जिसका मुख्य उद्देश्य यही था कि भिक्षु भिक्षा माग कर सरलता से गुफा मे लौट जाए। पश्चिमी भारत की सह्याद्रि गुहाए उसके साक्षात् उदाहरण है।

समाज मे भिक्षा मागने की प्रथा

गुप्त युग तक अजता की गुफाएं, सारनाथ, श्रावस्ती तथा नालंदा के विहार तथा मध्ययुगी इलौरा गुहा से उपरियुक्त कथन की पुष्टि होती हैं।

७००-१२०० ई० के अभिलेखो मे पर्याप्त रूपसे दान का वर्णन मिलता है प्रशस्तियो के विवरण से पता चलता है कि ग्रामदान या धनदान विद्वान ब्राह्मणो को दिया जाता था जो प्राय. अध्यापन के कार्य मे लगे रहते थे ! शिक्षा सस्थाओ, मंदिर या विद्यालयो को भी दान दिया जाता था।

समाज मे व्यक्ति से अधिक संस्थाओ का महत्व था। शिक्षालयो मे भूमि या धन दान देकर ब्रह्मचारी या भिक्षु को भिक्षाटन से मुक्त कर दिया जाता था। सस्थाओ मे ही भोजन वस्त्र का प्रबन्ध रहता जो भिक्षा-वृत्ति को अन्त करने का प्रयास था। भूमिदान मे भिक्षावृत्ति समाप्त प्राय हो गई और भिक्षाटन की बुराई जाती रही।

शिक्षा सस्थाओ के दान का वर्णन मध्य देश तथा बगाल के लेखो मे अधिक मिलता है। जयसिंह के मान्धाता ताम्रपत्र मे अमरेश्वर पाठशाला को अग्रहार देने की चर्चा की गई है —

सर्वादाय समेतश्च श्री अमरेश्वर पट्टशाला
ब्राह्मणेभ्यो भोजनादि निमित्तम्

(ए० इ० ३ पृ० ४९)

नालदा ताम्रपत्रो मे शासक द्वारा भिक्षु सघ को ग्रामदान का वर्णन मिलता है जिसकी आय से स्वादिष्ट भोजन, आसन, औषधि आदि का प्रबन्ध किया गया था—घृत दधिभि व्यजनै भिक्षुम्य चतुर्भ्यो नित्यतोम सत्रे विभक्त विमलभिक्षुसंघाय दत्तम् (ए० इ० भा० १७ पृ० ३१०, भा० २० ४४) इस उद्धरण मे सत्र शब्द विशेष अर्थ मे प्रयुक्त है। उसका अर्थ भोजन बाँटने का स्थान (भिक्षा गृह) था। छत्र (सदावर्त) माना गया है। मध्यकालीन लेखो मे सत्र शब्द भरा पडा है। गुप्त युग मे इसे धर्म-सत्र कहते थे (कुमारगुप्त प्रथम का भिलसद लेख—(ए० इ० १४ पृ० ६३६) इस स्थान पर साधु, भिक्षु या अनाथ व्यक्तियो को नि शुल्क भोजन दिया जाता था। अधिकतर सत्र (भिक्षा गृह) मदिर से सम्बन्धित रहते थे और मंदिर प्रबध समिति उसकी देखभाल करती थी। प्रतिहार लेख (ए० इ० १४ पृ० १७७) में सत्र के सचालन के निमित्त ग्रामदान का उल्लेख है। चहमान लेख मे इसे अन्नसत्र कहा गया है (ए० इ० १३ पृ० २९०) कलचुरी मत्री गगधर के दान पत्र मे इस भिक्षा गृह को सर्वसत्री (ए० इ० २१ पृ० १६६) का नाम दिया गया था जहाँ स्वादिष्ट भोजन वितरित किया जाता था (मिष्ठान पान सम्पन्न सर्व सत्री व्याधादसौ)। ११ वी सदी के असम शासक जयपाल देव तथा वल्लभ देव ने शिवमंदिर से सम्बद्ध एक भिक्षागृह निर्मित किया था जिसे भक्तशाला कहते थे। लेख मे 'भक्तशाला क्षुधार्थाना महादेवस्य संन्निधौ' वाक्य उल्लिखित है। (ए० इ० ५ पृ० १८१) यह परम्परा आज भी प्रचलित है तथा वाराणसी मे छत्र अनेक मंदिरो मे स्थित है। छत्र सत्र शब्द का विकृत रूप ही मालूम पड़ता है। लेखो के विशद् विवेचन से ज्ञात होता है कि समाज मे भिक्षावृति को रोकने की कामना थी परन्तु भिक्षा देने का भावना विद्यमान थी। भिक्षा माँगने की प्रथा का अन्त आवश्यक था। शासक तथा धनी-

मानी व्यक्तियों ने इस बुराई को हटाने का सफल प्रयत्न किया और सत्र की स्थापना से यक्तिगत भिक्षा-वृत्ति प्रायः समाप्त हो गयी।

अन्धविश्वास सातवीं सदी से पूर्व के लेखों में अन्धविश्वास की चर्चा नहीं मिलती, जिसके सहारे प्राचीन समय में भूत-प्रेत या तंत्र-मंत्र के सम्बन्ध की जानकारी हो सके। अशोक के लेखों में स्वर्ग प्राप्ति के उपाय तथा परलोक में सुख मिलने की बात कही गई है। शासक भी ऐसा ही कार्य करता था कि जनता सुख, यश, पुण्य तथा निर्वाण (स्वर्ग प्राप्ति) पा सके।

तथा कलत हिदलोकिक्ये च क आलधे होति पलत
च अनत पुना पशवति तेना धंम दानेन।
(शिलालेख नं० ११)

हिद च से अथे परत्र च अनत पुण प्रसवति नेन ध्रम मंगलेन
(शिलालेख नं० ९)

यों तो अन्धविश्वास किसी न किसी रूप में समाज में प्रचलित रहा और वैदिक तथा सस्कृत साहित्य में सम्मोहन, वशीकरण तथा मारण आदि का वर्णन पाया जाता है परन्तु प्रशस्तियों में यह विवरण नहीं के बराबर है। गुप्त लेखों में उल्लिखित 'आवाताय' की समता 'भूतवात प्रत्याय' से की जाती है। यह एक प्रकार का कर (टैक्स) था जो भूत व वात के हटाने के लिए आरोपित था। पूर्व मध्य काल तंत्र-मंत्र का युग था और बौद्धों के भूत अथवा मंत्रयान ने अन्धविश्वासों पर आस्था स्थिर की। तंत्र-मंत्र समाज में घर कर गये। धरणी तथा मंत्रों का प्रयोग प्रशस्तियों के आरम्भ में होने लगा। बीजमंत्र तथा भूत-प्रेत में अत्यधिक विश्वास उत्पन्न हो गया। ह्वेनसांग ने ज्योतिषी, तान्त्रिक, भविष्य कथन करने वाले बौद्ध तथा जैन व्यक्तियों का विवरण दिया है। यदि समस्त अभिलेखों का विवेचन किया जाय तो पता चलता है कि—

(१) स्वर्ग व नरक
(२) राहु द्वारा सूर्य तथा चन्द्र को ग्रसना
(३) भूत-प्रेत
(४) ज्योतिष तथा भविष्य वक्ता

सम्बन्धित कार्यों में जन साधारण का पूर्ण विश्वास हो गया था। दान के उद्देश्य (स्वर्ग की प्राप्ति) में निम्नलिखित वाक्य मिलते हैं :

(अ) ससारार्णव तरणार्थ स्वर्ग मार्ग अर्गलोद्घाटन हेतो (ए० इ० ३ पृ० २६६)
(ब) स्वर्ग द्वार कपाट अर्गलोदघाटताय (वही भा० ५ पृ० ११४)
(स) प्राणास्तृणाग्र जलबिन्दु समानराणाम् धर्मस्सखा परमहो परलोक याने (वही भा० ११ पृ० ८)
(द) स्वर्ग लोक समागत. (ए० इ० भा० १८ पृ० ९६)
(य) षष्टिवर्ष सहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद. आच्छेता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्। (ए० इ० ४ पृ० १३३)

सूर्य चन्द्र को राहु ग्रस लेता है (जिसे ग्रहण कहते है) इस अन्धविश्वास पर आधारित कुसमय पर दान का उल्लेख प्रशस्तियो मे किया गया है (राहु ग्रस्ते दिवाकर–ए० इ० ४ व ११ पृ० १५८, २१९) चन्देल तथा गहडवाल प्रशस्तियो मे भूत-प्रेत की चर्चा अधिक मिलती है। निम्न पक्ति दानपत्रो मे पाई जाती है—गगाया विधिवत् स्नात्वा मंत्र देव मनुज मुनि भूत पितृगणा तर्पयित्वा (ए० इ० भा० ४) सम्भवतः पौराणिक विचारधारा के कारण जनसाधारण मे बलि देने की प्रथा चली। गोविन्दचन्द्र के मन्त्री लक्ष्मीधर ने राज धर्मकाण्ड मे —"पिशाचेभ्यो बलिदघात्सध्याकाले च नित्यश" का वर्णन किया है (गा० ओ० सि० १०० पृ० १७६)

इसके अतिरिक्त प्रशस्तियो मे एक नैमित्तिक (= ज्योतिषी) का नाम पदाधिकारियो की सूची मे मिलती है। गहडवाल नरेश गोविद चन्द्रदेव के दरबार मे भविष्यवाणी करने वाला पुरुष था जो अशगुन का अर्थ बतलाया करता था। (ए० इ० ४ पृ० ९७, भा० ७ पृ० ९९, भा० १८ पृ० २२२) रामपाल के लेख से पता चलता है कि एक व्यक्ति ने बालकपन म चिह्न देखकर भविष्यवाणी की थी कि वह बालक राजा होगा (ए० इ० १२ पृ० १३७) बगाल के लेखो मे घर से भूत हटाने के लिए पुरोहित जैसे व्यक्ति की नियुक्ति का उल्लेख है (बेलवा ताम्रपत्र, सुन्दरवन ताम्रपत्र)। इस तरह के अन्धविश्वास के कारण ही मध्ययुग म सहस्रो पूजा निमित्त स्तूप (Votive Stupa) बनाए गए थे।

वज्रयान मे शक्ति के सम्बन्ध मे चाण्डाली, योगिनी तथा सहज सुन्दरी की कल्पना पाई जाती है। नालदा के लेख मे तारा को ऐसी ही शक्तिशालिनी देवी कहा गया है जो आठो प्रकार के भय को दूर करती है (ए० इ० २१ पृ० ९७) वज्रयान देव समूह की कल्पना तंत्र-मत्र के आधार पर हुई जो पहले के दोनो यान (हीनयान तथा महायान) मे नही था। सक्षेप मे यह व्यक्त करना उचित है कि ७००–१२०० ई० का काल अन्धविश्वास का प्रधान युग था जिसका प्रभाव आज तक हिन्दू समाज मे दिखाई पडता है।

यद्यपि लेखो मे मनोरजन तथा खेल सम्बन्धी चर्चा की बहुलता नही है परन्तु जो कुछ उल्लेख मिलता है उससे लोगो के मनोविनोद के साधनो का परिज्ञान हो जाता है। अशोक के आठवें धर्म लेख मे विहार यात्रा (मृगया) की बात कही गई है जिसे मौर्य सम्राट् ने बन्द कर दिया—

मनोरजन के साधन

अतिकात अंतर राजानो विहार याता जयासु। एत मगव्या अञानि च एता रिसानि अभीरमकानि अहुसु सो देवान पियो पियदसि राजा दसवसभिसितो संतो अयाय सम्बोधि तेनेसा धम याता-(आठवा लेख-गिरनार पाठ)। इससे प्रकट होता है कि मृगया शासको के मनोरजन का प्रधान साधन था। ईसवी सन् के चौथी सदी से गुप्त लेखो मे कई प्रकार के मनोरजन के साधन का उल्लेख आता है। प्रयाग के स्तम्भ लेख मे समुद्रगुप्त के शरीर पर अनेक घाव के चिह्न थे। धनुर्धारी प्रकार के सिक्को पर "समरशत वितत विजयी जित रिपुरजितो दिव जयति' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि धनुष बाण, परशु के व्रण वीरता के प्रतीक थे। गुप्त नरेश चीता, शेर, गैडा आदि जानवरो का आखेट करते दिखलाए गए हैं तथा मुद्रा लेख भी अंकित है। व्याघ्रपराक्रम (समुद्रगुप्त) भुविसिंह विक्रमः (द्वितीय चन्द्रगुप्त) महेन्द्रसिंह (प्रथम कुमार गुप्त) या सिंह महेन्द्र तथा भर्ता खड्ग त्राता (प्रथम कुमार गुप्त)

आदि पदवियां गुप्त नरेशों के लिए खुदी है। उनसे आखेट का आभास मिलता है। पर्याप्त प्रमाण न मिलने पर भी इसे प्रधान मनोरंजन समझा जा सकता है।

समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख में राजा के संगीत प्रेम का वर्णन आता है और वह नारद से भी वीणा-वादन में दक्ष कहा गया है—

गान्धर्व ललितै व्रीडित त्रिदशपति गुरु तुम्बरू नारदादे ।

इसका समर्थन वीणा प्रकार के सिक्के से होता है जिस पर राजा का नाम—महाराजा श्री समुद्रगुप्त अंकित है। उसके पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर बैठा नाटक देखते हुए प्रदर्शित किया गया है तथा मुद्रालेख 'रूपाकृति' उत्कीर्ण है।

समाज में संगीत लोगों के मनोविनोद का प्रधान साधन था। चहमान लेखों मे वाद्य, नृत्य तथा गान सहित समारोह का वर्णन आता है। उस समय रथयात्रा या देवयात्रा के जूलूस में संगीत का आयोजन होता था। इस युग के चित्रो मे भी विभिन्न प्रकार के वाद्य (मृदग, जल-तरंग, तबला, झाल, नगाड़े बासुरी) के साथ नृत्य का प्रदर्शन पाया जाता है। पूर्व मध्ययुग के लेखो मे जुआ तथा शतरंज के नाम आते हैं। परमार राजा चामुण्डराय ने जुआघर पर 'कर' बैठाया था (ए० इ० १४ पृ० ३०८)। शतरंज शब्द चतुरंग (सेना) का विकृत रूप है जिसमे पैदल, हाथी, रथ तथा घोड़े की स्थिति आवश्यक समझी जाती है (चतुरंग-चमू प्रचार-ए० इ० २ पृ० ३) यह भारतीय खेल था जिसे अरब वालों ने सीखा तथा पुनः वहाँ से भारत-वासियों ने अनुकरण किया।

ऊँचे परिवार की स्त्रियो के लिए शुक (सुग्गा) पक्षी मनोविनोद का साधन था। पाल नरेश धर्मपाल की खालीमपुर प्रशस्ति में भी ललनाए शुक को सम्बोधित करती वर्णित की गई है।

(१) सौधे सोच्छसित स्थितं सकरुणं लीलाशुको व्याहृतो (ए० इ० १ पृ० २०९)

(२) लीला वेश्मनि पंजरोदर शुकैर्उद्गीतमात्मस्तवम् (ए० इ० ४ पृ० २४८)

मध्ययुगी दानपत्रो मे मछली युक्त ग्रामदान का उल्लेख मिलता है जिसका तात्पर्य यह था कि उस भू-भाग मे जो तालाब स्थित थे, उन से मछली निकालने का अधिकार दानग्राही को था। अतएव यह स्पष्ट है कि मछली मारने से भी लोगो में एक आनन्द का अनुभव होता होगा। इन सभी बातो से राजा तथा प्रजा के मनोविनोद के साधनों का परिज्ञान हो जाता है।

मनोविनोद के लिए सामाजिक उत्सव भी सुअवसर प्रदान करते है। अशोक के लेख मे समाज शब्द विशेष अर्थ मे व्यवहृत किया गया है। साधारण समाज (उत्सव, मनोविनोद पूर्ण) की निन्दा की गई है तथा विद्वानों के समाज को हो उत्तम माना गया है। [न च समाजो कर्तव्यो बहुकं हि दोसं समाजम्हि पसति देवानं प्रियो प्रियदसि राजा। अस्ति पितु एक वा समाजा साधुमता]

सामाजिक उत्सव

(पहला शिलालेख)

अशोक के विचार से पिछले शासक सहमत न थे अत उत्सव का शुभारम्भ दिया। संगीत मय समाज का उल्लेख खारवेल की हाथी गुम्फा प्रशस्ति मे पाया जाता है तथा भरहुत की

वेदिका (प्रसेनजीत स्तम्भ) पर सगीत प्रदर्शित है। खारवेल ने राज्य तिलक के तीसरे वर्ष मे जनता के मनोविनोद के लिए उत्सव किया था।

ततिय वसे गंधव वेद बुधो दप नत गीत वादित सदसनाहि उत्सव-समाज कारापनाहि च क्रीडापयति (ए० इ० २० पृ० ७२ जे० वि० ओ० रि० सो० १३ पृ० ३२)। उसी प्रकार वेदिका पर नृत्य करती अप्सराओ की आकृति खुदी है। चौथी सदी से गुप्त नरेश सगीत तथा नाटक के प्रेम थे। कालिदास के नाटक के प्रदर्शन से सामाजिक समारोह का अनुमान भी लगाया जा सकता है। छठी सदी से धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवो के वर्णन अभिलेखो मे मिलते है। दीपोत्सव तथा वसन्तोत्सव का उल्लेख है (ए० इ० ११ पृ० ५५, भा० ८ पृ० १०१) उस विवरण से पता चलता है कि शासक धार्मिक उत्सव (जैसे रथ यात्रा देवयात्रा) के लिए व्यापारियो पर 'कर' भी लगाता था। (ए० इ० १४ पृ० २९८) सामाजिक उत्सव के विशाल भवन निर्माण का वर्णन समरसिंह देव के लेख मे मिलता है (ए० इ० ११ पृ० ५५)

अभिलेखो मे पशु मेला काभी वर्णन उपलब्ध है। पूर्वी पजाब के एक लेख मे पशु मेला मे घोडो की बहुलता का उल्लेख है (ए० इ० १ पृ० १८६) प्रतिहार राजा भोज की प्रशस्ति मे उत्सव के प्रसग मे 'घोटक यात्रा' का नाम उल्लिखित है जिसमे दूर-दूर के व्यापारी घोडा खरीदने आया करते थे—घोटक यात्रामा समायाता . .घोडा विक्रय-दा १-प्रदत (ए० इ० १ पृ० १८४) उसी वश के दूसरे लेख मे घोडा क्रय-विक्रय करने वाले व्यक्तियो के द्वारा 'कर' देने का वर्णन है (वही पृ० २९, ३३) इससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि पजाब तथा राजपुताने मे पशु मेला का आयोजन किया जाता था। इस तरह के कार्य समाज को प्रगतिशील बनाते है। उत्सव तथा मेले मे एकत्रित होकर जनता विचार विनमय करती तथा आवश्यक कार्यो की भी पूर्ति करती है।

सामाजिक कार्यो के लिए तथा आवागमन निमित्त जनता रथ, घोडे, हाथी, ऊँट तथा बैलगाडी का अधिकतर प्रयोग करती थी। लेखो मे बैलगाडी का ही अधिक उल्लेख मिलता है। क्योकि साधारण व्यक्ति उसी का प्रयोग करता था। (ए० इ० ११ पृ० ३५, ३९) सातवाहन लेख मे शकट तथा घोडे दान का वर्णन है (नानाघाट का लेख) प्रतिहार, गहडवाल तथा पालवशी लेखो मे हाथी-घोडा की निगरानी के लिए एक पदाधिकारी का का नाम मिलता है। (ए० इ० १९ पृ० १७, भा० ७ पृ० ९९, भा० ४ भा० २८ पृ० ३२५ भा० १२ पृ० ८)। इस प्रकार के स्थल-यान के अतिरिक्त नावो का भी प्रयोग आवागमन निमित्त होता था जिसका विवरण कई लेखो मे आया है।

समाज की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त तत्कालीन मनुष्यो के चरित्र का अध्ययन करना आवश्यक है। भारतवासियो का चरित्र सदा से उज्ज्वल तथा पवित्र रहा है जिसका विस्तृत वर्णन विदेशियो (मेगस्थनीज, फाहियान, ह्वेनसाग, इत्सिग) ने किया है। सत्य-भाषण तथा वीरता के लिए सर्व प्रसिद्ध रहे है। गुप्त काल मे कोई भी व्यक्ति अधार्मिक, व्यसनी, आर्त, दरिद्र तथा पीडित न था ऐसा वर्णन जूनागढ के लेख मे पाया जाता है-आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्डयो न वा यो भृश पीडितः स्यात् (का० इ० इ० ३ पृ० ५८) इस तरह के वर्णन अधिक नही मिलते तो भी यत्र-तत्र उल्लेख आते है।

समाजमे व्यक्ति का चरित्र

भारतवासियो का आदर्श सासारिक वैभव न था किन्तु संसार को वह तृण व बुलबुले के सदृश समझते थे (नालदा ताम्रपत्र ए० इ० १८) ब्राह्मण दानग्राही होने पर भी आदर्श के लिए धन का त्याग कर देता था । (ए० इ० १३ पृ० २९२) यद्यपि राजाओ के बहुपत्नी व्रत का विवरण लेखो मे आता है किन्तु वह अपनी रानियो से ही प्रेम करता तथा अन्य स्त्रियों से पृथक रहना उसकी भावना थी । ऐसा वर्णन शासक के आदर्श चरित्र का द्योतक है—

संत्यक्त पर कलत्रो धर्म्मकरतोप्पि सर्वदावश्यं
निज वनिता परितुष्टोप्यभिलषित सुसज्जन प्रमद: (ए० इ० १ पृ० १५६)

अयहोल प्रशस्ति में कीर्तिवर्मा का आदर्श चरित्र निम्नपंक्ति में उल्लिखित है—

परदार निवृनचित्त वृतेरपि धीर्यस्य रिपुक्रियानुकृष्टा

पाल नरेश धर्मपाल तथा वाक्पाल राम-लक्ष्मण के सदृश आदर्श जीवन व्यतीत करते थे ।

रामस्येव गृहीत सत्यतपसस्तस्यानु पो गुणै
सौमित्रेरुदपादि तुल्य महिमा वाकपाल नामानुज
(ए० इ० १५ पृ० १९३)

सर्वसाधारण जनता भी पवित्र जीवन व्यतीत करती थी तथा दान व्रत तीर्थ और यज्ञ मे विश्वास रखती थी । पूर्व मध्ययुग के सहस्रो दानपत्र जनता के धार्मिक भावना के द्योतक है । व्रत पालन करना तत्कालीन समाज मे एक आवश्यक कार्य हो गया था । देवोत्थान एकादसी, हरिशयिनी वामन या गोविन्द द्वादसी (ए० इ० १३ पृ० २११ या ४ कमौली ताम्रपत्र) रामनवमी (ए० इ० १४ पृ० १८८) तथा सावित्री पर्व (ए० इ० ११ पृ० ३९) आदि के नाम मध्यकालीन अभिलेखो मे प्रचुरता से उल्लिखित हैं। देवयात्रा तथा पर्व्वयात्रा का नाम भी चहमान लेखो मे आता है (ए० इ० ११ पृ० २८) । तीर्थ स्थानो मे जाकर शासक या जनता दान दिया करती थी ताकि वे पुण्य के भागी हो। गहडवाल राजा के कमौली ताम्रपत्रो मे वाराणसी तीर्थ का नाम अनेक बार (ए० इ० भा० ४ पृ० १२२) तथा कलचुरी प्रशस्तियो मे प्रयाग का नाम (वेणी = प्रयाग) (ए० इ० भा० ८ पृ० १२२ पृ० १५४) अधिकतर आए है । चेदिवशी लेखो मे प्रयाग के साथ गया का नाम भी मिलता है (ए० इ० २५ पृ० ३१७) । पाल अभिलेखो मे केदार तथा गंगासागर तीर्थों का उल्लेख है । (खालीमपुर लेख ए० इ० ४ पृ० २४३) । अयोध्या तीर्थ स्वर्ग का द्वार कहा गया है—

सरयू धर्घराघमर्षण स्वर्ग द्वार नाम्नि तीर्थ
(गहडवाल लेख—ए० इ० १४ पृ० १९३ भा० १५ पृ० ६)

इन समस्त उल्लेखो से प्रकट होता है कि समाज मे धर्म की भावना काम कर रही थी । व्रत के प्रति अनुराग तथा तीर्थयात्रा में लोगों की आस्था उनके पवित्र जीवन को प्रमाणित करते है।

अध्याय ७

भारतीय प्रशस्तियों में धार्मिक चर्चा

भारत की प्रशस्तिया इतनी बडी निधि है कि उनसे सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्त किए जा सकते है। यह सर्व विदित है कि प्राचीन समय मे शासक के जीवन तथा वश का इतिहास अभिलेखो म भली भाँति वर्णित है। उनका वर्गीकरण यह बतलाता

बौद्ध धर्म

कि अधिकतर लेख धार्मिक भावना से प्रेरित होकर लिखे जाते थे। इस दिशा मे सर्व प्रथम अशोक के लेखो को गणना उचित है। अशोक के शिलालेख तथा स्तम्भ लेखो के गम्भीर अध्ययन से सदाचार तथा धर्म सम्बन्धी बातो का परिज्ञान हो जाता है। मौर्य सम्राट् ने तो धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के निमित्त लेख खुदवाया था। उसके धार्मिक भावना के सम्बन्ध मे विभिन्न मत उपस्थित किए गए है। कुछ विद्वान् मानते है कि अशोक बौद्ध नही था, उसने जो कुछ कहा है वह वास्तव मे सभी धर्मों का सार है। सदाचार की बातें सर्वत्र कही गई है। उपासक लोगो के लिए ही लेख मे सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। उदाहरण के लिए ग्यारहवें शिलालेख मे उसने अंकित कराया था—देवानं पिये पियदशी लाजा एव आह नथि हेपिये दान अदिप घम दान। तत ऐषे दाषा भटकपि सम्या पटियति माता पितुपु पुपुषा। मित पयुत नादिक्यान समन। वभ नाना दाने पानानं अनातंभे—इयं साधु से तथा कलत हिद लोकिवये चक आलधे होति पलत च अनत पुना पशवति तेना धंम दानेना। तात्पर्य यह है कि अशोक ने आदेश दिया कि सभी लोगो से उचित व्यवहार किया जाय। गुलाम से समुचित व्यवहार करे। माता-पिता की सेवा करे। साधु ब्राह्मण का दर्शन कर दान दे। प्राणियो की हिंसा न करे। ऐसा करने से इस संसार मे सुख मिलेगा और अन्यत्र पुण्य होगा। ऐसा विचार अशोक ने कई लेखो मे दुहराया है जिससे बुद्ध धर्म की ओर विशेष सुझाव का अनुमान नही किया जा सकता। ऐसी सार बातें तो प्राय सभी मतो मे प्रतिपादित की गई है। डा० भन्डारकर ने लेखा के अन्य प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि अशोक बौद्ध-धर्मानुयायी था। कलिङ्ग युद्ध (तेरहवा शिलालेख) के पश्चात् उसका विचार परिवर्तित हा गया और उसने धर्म-द्वारा संसार-विजय का सकल्प किया। अहिंसा के सिद्धान्त पर अटल रह कर उसने बौद्धधर्म के प्रसार तथा प्रचार के लिए अनेक उपाय किए। स्वय महाबोधि तथा रुम्मनदेई की धर्मयात्रा की। उपासको को बौद्ध साहित्य के पाठ करने का (भाब्रू का लेख) अनुरोध किया तथा अनेक दूतो को धर्म-प्रचार के लिए विभिन्न देशो मे भेजा। पुत्र तथा पुत्री सिंहल द्वीप गए। स्तूप पूजा का आरम्भ अशोक ने ही किया और इस कारण कई हजार स्तूपो का निर्माण किया। उसके धर्म-महामात्र अहिंसा का पाठ सुनाया करते थे। अशोक का सारनाथ का स्तम्भ लेख घोषित करता है कि वह सघ मे एकता का पक्षपाती था और विभेद डालने वाले भिक्षु को संघ बहिष्कृत करना अभीष्ट था। मौर्य सम्राट् ने स्वयं बिहार मे प्रवेश कर (रूपनाथ का

लेख–सातिलेके च छवछर य सुनि हक सघ उपेते) प्रजा के सम्मुख आदर्श उपस्थित किया। इस प्रकार अशोक के धर्मलेख यह बतलाते है कि उसने बौद्धमत को राजधर्म बनाया।

यद्यपि मौर्य युग के पश्चात् बौद्धमत को राजाश्रय मिल न सका तथापि जनता मे बौद्ध-धर्म के अनुयायी तथा उपासको को सख्या कम न थी। भारत मे स्तूप पूजा का प्रसार हो गया था, इसलिए शुंग काल मे स्तूप के चारो तरफ वेदिका तथा तारण तैयार किए गए और उन पर लेख भी खोदा गया। भरहुत वेदिका के लेख में यह वर्णन आता है कि—

सुगनं रजे रजो गागीपुतस विसदेवस
वाछि पुतेन धनभूतिन कारित तोरना

शुंग काल मे धनभूति ने तोरण बनवाया था। इसी तरह साची के दक्षिणी तोरण पर सात-वाहन नरेश शातकर्णी (ई० पू० दूसरी सदी) के समय का एक लेख मिलता है। साची वेदिका के हिस्सो पर दान कर्त्ता के नाम अकित है। इससे प्रकट होता है कि शुग काल मे भी बौद्धमत (हीनयान मत) का प्रसार था।

ईसवी सन् के पूर्व गीता तथा मनुस्मृति की रचना हुई जिससे ब्राह्मणधर्म का प्रसार हुआ गीता के ज्ञान तथा भक्ति का प्रभाव बौद्ध धर्म पर पडा जिससे महायान की उत्पत्ति हुई। उस समय मे कुषाण राजा कनिष्क ने बौद्धमत को प्रोत्साहित किया और चौथी सगीति बुलाई थी। मथुरा के बौद्ध प्रतिमाओ के आधार-शिला पर कनिष्क के शासन काल मे लेख उत्कीर्ण कराए गए थे। कनिष्क के काशी तक राज्य विस्तार का परिज्ञान एक बुद्ध प्रतिमा के लेख से होता है। सारनाथ में एक विशाल बुद्ध मूर्ति मिली है जिसके लेख मे महाक्षत्रप खरपल्लाना का नाम मिलता है जो कनिष्क का प्रांतपति था। इसकी तिथि 'महारजस्य कणिष्कस्य सं० ३ (श० का० ३ = ई स० ८१) लिखा है। कनिष्क के एक सिक्का पर बुद्ध की मूर्ति तथा वोडो (यूनानी अक्षरो मे) मुद्रालेख उसके धार्मिक भावना पर प्रकाश डालते हैं। उसी के कुर्रम ताम्रपत्र में प्रती त्यसमुत्पाद की चर्चा की चर्चा की गई है (ए इ भा. १८ पृ० १६६) ईसवी सन् की दूसरी सदी मे नहपान के जामाता उषवदत्त ने बौद्ध सघ को दान किया था (नासिक का लेख)। सातवाहन नरेश पुलमावि के समय मे (ई० स० १५८) भद्रावनीय शाखा (भिक्षु सघ) को गुप्त दान का वर्णन मिलता है (ददाति निकायस भदावनीयान भिक्षु सघस–नासिक लेख) इसी प्रकार महासघिक शाखा के दान देने का वर्णन कार्ला गुहा लेख मे है।

गुप्तकाल मे बौद्धमत के प्रसार का आभास सारनाथ की बौद्ध प्रतिमाओ से मिल जाता है। सारनाथ शैली मे अनगिनत बुद्ध की मूर्तिया बनने लगी। प्रथम कुमारगुप्त का एक लेख मनकुवार (इलाहाबाद उ० प्र०) की बुद्ध प्रतिमा के आधार शिला पर खुदा है। वह लेख 'नमो बुधान' की प्रार्थना से आरम्भ होता है। उसमें निम्न प्रकार का वर्णन है—इमं प्रतिमा प्रतिष्ठा पिता भिक्षु बुद्धिमित्रेण। कुमार गुप्त के राज्य मे (१२९ + ३१९ = ४४८ ई० के समीप) यह प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। द्वितीय कुमार गुप्त तथा बुद्धगुप्त के लेख भी उसी ढग से उत्कीर्ण है। जिनकी तिथि क्रमश. गु. स १५४ तथा १५७ मिलती हैं।

गुप्तकाल के पश्चात् सातवी सदी से बुद्धधर्म के तीसरे यान–वज्रयान का प्रसार उत्तरी

भारत में हो गया था। विभिन्न राजाओ ने सहिष्णुता के कारण तथा पालवंशी नरेशो ने बौद्ध होने के कारण उसे आश्रय दिया जिसके प्रमाण उत्कीर्ण लेखो से मिलता है। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बगाल मे वज्रयान के अनुयायी अधिक थे। उन प्रदेशो के लेखो मे 'ओ नमो बुद्धाय' की प्रार्थना तथा "भगवन्त बुद्ध भट्टारकम्" के पक्ष मे दान का वर्णन मिलता है। सारनाथ से उस प्रकार के अनेक लेख उपलब्ध हुए है। गहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी ने बौद्ध मतानुयायी होने के कारण विहार को दान दिया जिसका उल्लेख इसी विहार से प्राप्त एक शिलालेख मे किया गया है। बंगाल के राजा महीपाल के सारनाथ लेख मे बुद्ध प्रतिमा दान का वर्णन है। बिहार प्रान्त के मगध या बगाल से जितनी पालशैली की बौद्ध प्रतिमाए मिली है उनके सिरे भाग पर निम्न लेख खुदा रहता है—

यो धम्मा हेतु प्रभवा, हेतुं तेसं तथागतो अवोच
तेस च यो निरोधो एवं वादी महाश्रमण।

(ए० इ० भा० ९० २९१)

पटना के समीप कुर्कीहार नामक स्थान से कास्य-प्रतिमाओ का ढेर मिला है जिन पर देवपाल के समय के लेख खुदे है। इतना ही नही पाल नरेशो की प्रशस्तिया (खालीमपुर, नालन्दा, मुंगेर, भागलपुर, बोधगया, बानगढ आदि) बुद्ध की प्रार्थना से प्रारम्भ (नमो बुद्धाय) होती है जो राजाओ के धार्मिक भावना के द्योतक है। यो तो खालीमपुर ताम्रपत्र तथा भागपुर ताम्रपत्रो मे क्रमश विष्णु और शिव मन्दिर के दान का विवरण मिलता है लेकिन उन लेखो में दान का विवरण राजाओ के सहिष्णु होने की वार्त्ता उपस्थित करता है। यह तो निर्विवाद है कि धर्मपाल, देवपाल, नारायणपाल सूरजपाल आदि पाल नरेश बौद्ध मतानुयायी थे तथा परमसौगत की पदवी एव बुद्ध-प्रार्थना इसके सबल प्रमाण है।

ईसा पूर्व छठी सदी से ही महावीर ने जैन मत का प्रचार किया था जिसको उन्नति कालान्तर मे होती रही। अशोक लेखो मे 'निग्रंथ' शब्द का प्रयोग जैन धर्म के लिए किया गया है। उडीसा मे जैनमत का प्रचार उदयगिरि (भुबनेश्वर के पास) जैन तथा आजीविक मत के गुहालेखो से ज्ञात होता है। हाथी गुम्फा लेख राजा खारवेल के जैनमत मे विश्वास का वर्णन करता है। उसकी रानी द्वारा उत्कीर्ण मंचपुरी गुहा लेख मे "अरहत पसादाय कलिगान समनान लेन कारित" का वर्णन यह बतलाता है कि उदयगिरि के भाग मे जैन साधु निवास करते थे। जिन के लिए अग्रमहिषी ने गुहा दान किया था। ईसवी सन् के आरम्भ से मथुरा के समीप इस मत का अधिक प्रसार हुआ। यही कारण है कि ककाली टीले की खुदाई से अनेक तीर्थंकर प्रतिमाए प्राप्त हुई है जिन पर दान कर्त्ता का नाम भी उल्लिखित है। वहा के आयाग पट्ट पर भी अभिलेख उत्कीर्ण है जिसमे वर्णन है कि अमोहिनी ने पूजा निमित्त इसे दान मे दिया था—

अमोहिनिये सहा पुत्रेहि पालघोषेन पोठघोषेन
धनघोषेन आर्यवती (आयागपट्ट) प्रतिथापिता

वह लेख 'नमो अरहतो वर्धमानस' मंत्र द्वारा जैनमत से उसका सम्बन्ध घोषित करता है [सोडास कालीन लेख]। दूसरी सदी के जूनागढ शिलालेख मे उस व्यक्ति का वर्णन है जो

जरा मरण से मुक्त होकर कैवल ज्ञान (जैनमत मे पूर्ण ज्ञान) प्राप्त कर चुका है। अतएव काठियावाड मे जैनमत के प्रचार का अनुमान किया जा सकता है (जयदामन के पौत्र का जूनागढ लेख)।

ईसवी सन् के आरम्भ से जैन प्रतिमा के आधार-शिला पर (बौद्ध प्रतिमा की तरह) लेख उत्कीर्ण मिलते हैं। लखनऊ के संग्रहालय मे ऐसी अनेक तीर्थंकर की मूर्तियाँ सुरक्षित हैं जिन के प्रस्तर पर कनिष्क के ७९ या ८४ वें वर्ष का लेख उत्तीर्ण है। गुप्तयुग मे भी इस तरह की प्रतिमाओ का अभाव न था जिनके आधार शिला पर लेख उत्कीर्ण हो। घ्यानमुद्रा मे बैठी महावीर की ऐसी मूर्ति मथुरा से प्राप्त हुई हैं। गु० स० ११३ (ई० स० ४२३) के मथुरा वाले लेख मे हरिस्वामिनी द्वारा जैन प्रतिमा दान का वर्णन है। स्कन्द गुप्त के शासन काल मे मद्र नामक व्यक्ति द्वारा आदिकर्तृन की प्रतिमा के साथ एक स्तम्भ स्थापना का वर्णन कहौम (गोरखपुर, उत्तर प्रदेश) लेख मे है—

श्रेयोर्थ्य मूतभूत्यै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तृन् ।

पहाडपुर के लेख (गु० स० १५५) मे जैन विहार मे तीर्थंकर की पूजा निमित्त भूमि दान का विवरण है, जिसकी आय गध धूप दीप नैवेद्य के लिए व्यय की जाती थी।

विहारे भगवता अर्हता गध धूप सुमन दीपाद्यर्थभ्।

(पहाडपुर का ताम्रपत्र)

पूर्व मध्ययुग मे राजपुताना के विस्तृत क्षेत्र मे भी जैन मत का पर्याप्त प्रचार था जिसका परिज्ञान अनेक प्रशस्तियो के अध्ययन से हो जाता है। चहमान लेख मे राजा को जैनधर्म परायण कहा गया है तथा तीर्थंकर शाति नाथ की पूजा निमित्त आठ द्रम (सिक्के) के दान का वर्णन है। तैलप नामक राजा के पितामह द्वारा जैन मदिर के निर्माण का भी उल्लेख मिलता है—

पितामहेन + तग्येद शमीयाट्या जिनालये
कारित शातिनाथस्य बिम्बं जन मनोहरम्।

बिझोली शिलालेख (ए० इ० २६ पृ० ८९) का आरम्भ 'ओ नमो वीतरागाय' से किया गया है जिसके पश्चात् पार्श्वनाथ की प्रार्थना मिलती है। जलौर के लेख मे पार्श्वनाथ के 'ध्वज उत्सव' के लिए दान का वर्णन निम्न प्रकार है—

श्री पार्श्वनाथ देवे तोरणादीना प्रतिष्ठाकार्यो कृते।
ध्वजारोपण प्रतिष्ठाया कृताया (ए० इ० ११ पृ० ५५)

मारवाड के शासक राजदेव के अभिलेख में महावीर-मदिर तथा विहार के निवासी जैन साधु के लिए दान देने का विवरण मिलता है।

(श्री महावीर चैत्ये साधु तपोधन निष्ठार्थे)

लेखो के आधार पर कहना उचित होगा कि राजपुताना मे महावीर, पार्श्वनाथ तथा शांतिनाथ की पूजा प्रचलित थी। परमार लेख मे ऋषभनाथ के पूजा का उल्लेख है और उसके मदिर को अतीव सुन्दर तथा पृथ्वी का भूषण कहा गया है।

श्री वृषभनाथ नाम्न प्रतिष्ठित भूषणेन विम्वमिदं)
(तेनाकारि मनोहर जिन गृह भूमेरिदभूषणम्)

चन्देल राज्य के प्रधान खजुराहो नगर मे लेख तथा प्रतिमाओ के अध्ययन से जैनमत के प्रचार का ज्ञान होता है। प्रतिमाओ के आधार शिला पर खुदा लेख यह प्रमाणित करता है कि राजाओ के अतिरिक्त साधारण जनता भी जैनमत मे विश्वास रखती थी। (ए० इ० २० पृ० ४९-८)

जहा तक आजीविक मत का प्रश्न है, मखली पुत्र गोसाल (बुद्ध के समकालीन) ने अपने मत का प्रचार अवश्य किया और उसके अनुयायी ससार त्याग भी कर चुके थे। अशोक तथा दशरथ के बराबर एव नागार्जुनी पहाडो के गुहा लेखो से आजीविका सघ की स्थिति मालूम पडती है। उस सघ को गुहाए दान मे दी गई थी। (इमं निगोह कुभा दिना आजीवि-केहि–बराबर गुहा लेख)। सम्भवत ईसवी सन् के आरम्भ से आजीविक मत का उल्लेख प्रशस्तियो मे नही मिलता। वराहमिहिर तथा बाण ने आजीविक का उल्लेख किया है। कालान्तर मे इन्होने सम्भवत ब्राह्मण मत (वासुदेव पूजा) को स्वीकार कर लिया जिस कारण आजीविक मत का पृथक अस्तित्व न रह सका।

प्राचीन भारत मे अशोक से पूर्व किसी शासक के लेख प्राप्त नही हुए है अतएव अभि-लेखो का अध्ययन मौर्य काल से ही प्रारम्भ होता है। बुद्ध के समय मे भी ब्राह्मण धर्म का प्रचार था जिसका वर्णन अशोक के धर्म लेखो मे 'ब्रह्मण' शब्द से व्यक्त किया गया है।

मौर्य युग के पश्चात् भारतीय लेख यह बतलाते है कि अशोक के सिद्धान्त का जनता ने स्वागत नही किया। उसके मरते ही ब्राह्मण धर्म का जागरण हो गया और उत्तर तथा दक्षिण भारत मे यज्ञादि होने लगे जिसे अशोक ने अपने धर्म लेखो मे निन्दित बतलाया था (इधन किंचि जीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं) मौर्य शासन के पश्चात् शुग राजा पुष्यमित्र ने ब्राह्मण धर्म का संदेश सुनाया और दो अश्वमेध द्वारा वैदिक यज्ञ को पुन प्रतिष्ठापित किया (द्वि अश्वमेध याजिन सेनापते पुष्यमित्र-अयोध्या का लेख) दक्षिण के सातवाहन राजा शातकर्णि द्वारा कई यज्ञ करने का वर्णन नानाघाट के लेख मे है जिसमे नायनिका ने अपने पति के कार्यो (मेधो) का उल्लेख किया है। यज्ञ के अतिरिक्त ईसा पूर्व सदियो (दूसरी व पहली) में भागवत धर्म का विशेष प्रचार हुआ जिसकी पुष्टि लेखो से होती है। नानाघाट लेख (महाराष्ट्र) के आरम्भ मे ही सकर्षण तथा वासुदेव की प्रार्थना की गई है। घोपुण्डी शिलालेख (चित्तौरगढ) में राजा भागवत की पदवी से विभूषित होकर अश्वमध का कर्त्ता कहा गया है। उसीमे सकर्षण एवं वासुदेव के पूजा निमित्त शिला-प्रकार का उल्लेख है।

भागवत धर्म

राज्ञा भागवतेन, अश्वमेधयाजिना
भगवम्या संकर्षण वासुदेवाम्या।

इस तरह पाटलिपुत्र, राजपुताना तथा महाराष्ट्र के भूभाग मे अश्वमेध का पुन. आरम्भ तथा भागवत धर्म का प्रसार ब्राह्मण धर्म की जागृति का सूचक है। भारतीय नरेशों को छोड़कर विदेशी यूनानी राजदूत हेलियोडोरस भी भागवत धर्म का अनुयायी हो गया था। उसने एक

गरुणस्तम्भ-लेख खुदवाया जो भिलसा (मध्यप्रदेश) के समीप खम्बा बाबा के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। उसने भगवान् विष्णु के मन्दिर के सम्मुख गरुड स्तम्भ स्थापित किया जिसमे विष्णु महान् देवता (देव देवम वासुदेवस) कहे गए है तथा वह स्वयं अपने को भागवत (विष्णु का पुजारी) कहता है। इससे भागवत मत के प्रभाव का अनुमान हो जाता है

ईसवी सन् की चौथी शताब्दी से गुप्त सम्राटो ने अपने विजय के उपलक्ष्य मे कई लेख उत्कीर्ण करवाया जिनसे ऐतिहासिक विवरण के अतिरिक्त धार्मिक विषय पर भी प्रकाश पडता है। गुप्त नरेश परम वैष्णव थे जिसका वृत्तान्त लेखो मे निहित है।

विष्णु पूजा विष्णु के वाहन गरुड का ध्वज उस वंश का राजचिह्न था जिसका उल्लेख प्रयाग के स्तम्भ लेख मे मिलता है (गरुत्मदङ्क स्वविषय युक्ति शासन याचना) इसके अतिरिक्त गुप्त लेखो तथा मुद्रालेखो मे राजाओ के लिए 'परम भागवत' की पदवी खुदी है। द्वितीय चन्द्रगुप्त के रजतमुद्रा मे "परम भागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य" लिखा हे। प्रथम कुमार गुप्त तथा स्कन्द गुप्त के लेखो मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा प्रथम कुमार गुप्त 'परम भागवत' की पदवी से विभूषित हैं (भिलसद, भितरी स्तम्भ लेख तथा भितरी राजमुद्रा का लेख) साहित्यिक प्रमाणो से पुष्टि होती है कि अवतारवाद की कल्पना गुप्तकाल मे पूर्ण हो गई थी। गुप्त लेखो का अध्ययन भी यह प्रमाणित करता है कि उस युग मे विष्णु के अवतारो की पूजा होती थी। एरण नामक स्थान पर वराह विष्णु की स्तुति सुन्दर शब्दो मे की गई। इसी तरह दामोदरपुर ताम्रपत्र मे 'श्वेत वराह स्वामिन' के लिए दान का वर्णन है। छठी सदी के तोरमाण के एरण लेख मे 'देवो वराह-मूर्ति' की प्रार्थना पाई जाती है।

छठी सदी से बारहवी शताब्दी तक के लेखो के आधार पर वैष्णव मत के प्रसार का परिज्ञान होता है। जो अभिलेख वैष्णव मंत्र "नमो नारायणाय" या "ओ नमो भगवते वासुदेवाय" अथवा "वासुदेव भट्टारक" से प्रारम्भ होते है, उन्हे वैष्णव मानने मे कठिनाई नही है। मध्ययुग मे वैष्णवमत ने मत्रयान को प्रभावित किया (जो सहजिया के नाम से प्रसिद्ध था) जिसके फलस्वरूप बंगाल में "वैष्णव-सहजिया" मत का प्रचार हुआ। तत्कालीन लेखो मे विष्णु मन्दिर तथा प्रतिमापूजा के निमित्त दान का विवरण भरा पडा है। प्रतिहार तथा कलचुरी प्रशस्तियो (जबलपुर तथा गोहरवा) मे विष्णु की प्रार्थना निर्गुण तथा सगुण भाव से की गई है।

> यस्मिनि विशन्ति भूतानि यत्स्सर्गं स्थिती मते
> स व पयाद् धृषीकेशो निर्गुणस्सगुणश्चय
>
> (भोज का जोधपुर की प्रशस्ति—ए० इ० १८ पृ० ९५)
>
> निर्गुण व्यापक नित्यं शिवं परमकारणम्
> भावग्राह्यं परं ज्योतिस्तमै सद्ब्रह्मणे नम
>
> (सरखो ताम्रपत्र—ए० इ० २२ पृ० १६०)

प्रशस्तियो मे विष्णु की स्तुति विभिन्न नामो से की गई है। नारायण, मुरारी, हरि, माधव "ओ नमो माधवाय" "ओम् नमो विष्णवे" मंत्र लेखो के आरम्भ मे उल्लिखित हैं।

गहड़वाल नरेश के कमौली दान पत्रो में विष्णु के लिए 'आदि केशव' नाम प्रयुक्त है। आज भी वाराणसी के पूर्वी भाग वरुणा-गंगा के सगम समीप आदि केशव मदिर स्थित है। इस तरह विष्णु पूजा की लोकप्रियता ज्ञात होती है। उत्तरी भारत के लेखो मे वैष्णवमत का प्रचार अधिकतर मदिर निर्माण के कार्य से विदित होता है [प्रासादो वैष्णवस्तेन निर्म्मितोन्तर्वहन्हरिम्] चन्देल राजा परमर्दि के वटेश्वर-लेख मे विष्णु-मदिर को कैलाश के सदृश ऊंचा बतलाया गया है। खजुराहो नामक स्थान से जो चन्देल लेख मिले है उन का वर्णन उपर्युक्त बातो की पुष्टि करता है। परमार राजा भोज देव के लेख-बेतमा ताम्रपत्र (ए० इ० १८ पृ० ३२३) मे विष्णु मदिर के समुख 'गरुड ध्वज' स्थापित करने का उल्लेख है। इसी के सदृश धर्मपाल के खालीमपुर लेख मे (ए० इ० भा० ४) 'नर-नारायण' के मदिर निर्माण तथा नारायण पाल की प्रशस्ति मे 'गरुड ध्वज' की स्थापना सुन्दर शब्दो मे की गई है।

ईसवी पूर्व सदियो मे ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी मुद्रा-लेख नही मिलते परन्तु शैवमत से सम्बन्धित मुद्रा-लेख वीमकदफिस के सिक्के पर अंकित मिला है।

शैव मत सम्भवत: वह कुषाण नरेश शैवमतानुयायी था इसलिए वह 'महीश्वर' की पदवी से विभूषित किया गया था—

महरजस राजाधिराजस सर्वलोग ईश्वरस महीश्वरस वीमकदफिसस।

कनिष्क ने भी शिव (ओइशो) का नाम अंकित करा कर शैवमत के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया था। उसके उत्तराधिकारी हुविष्क तथा वासुदेव के सिक्को पर शिव की प्रतिमा तथा नाम खुदा है जिससे उत्तर पश्चिम भारत मे शैवमत का प्रचार प्रकट होता है।

कुषाणो के राजनीतिक परदे से हटते ही वाकाटक तथा भारशिव नरेशो का प्रभुत्व स्थापित हो गया। नागवशी राजा शिवलिङ्ग को अपने कन्धो पर वहन करते थे इसलिए उन्हें भारशिव कहा गया है। उसके सम्बन्ध मे वाकाटक प्रशस्ति मे निम्नलिखित वर्णन पाया जाता है--

शिवलिङ्गोद्वहन शिव-सुपरितुष्ट समुत्पादित
राजवश— भारशिवाना महाराज
श्री भव नाग (द्वितीय प्रवरसेन का चमक लेख)

गुप्त युग के अभिलेखो का अध्ययन भी शैवमत के प्रचार की पुष्टि करता है। द्वितीय चन्द्रगुप्त के उदयगिरी लेख मे शिव पूजा का उल्लेख मिलता है। राजा के मंत्री वीरसेन ने वहाँ शैव-गुहा (शिव-मदिर) का निर्माण किया था—

भक्तया भगवत शम्भोर्गुहामेतामकारयत् (उदयगिरि का लेख)

उसी समय [गु. स ९६] ध्रुवशर्मा ने भिलसद [एटा, उत्तर प्रदेश] मे स्वामी महासेन का मदिर तैयार किया था। प्रथम कुमार गुप्त का करमदण्डा लेख शिवलिंग के अधोभाग पर उत्कीर्ण है। दामोदरपुर ताम्रपत्र ने कोकमुख स्वामिन (बैनर्जी इसे पार्वती का द्योतक समझते है) के निमित्त अग्रहार का वर्णन है। गुणैघर ताम्रपत्र (बगाल) मे वैन्यगुप्त शिव भक्त (भगवन्महादेव पादानुध्यातो) कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि गुप्तयुग के अनेक

शिव प्रतिमाओ को छोडकर अभिलेखों का अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि शैवमत का प्रचुर प्रचार था। इतना ही नही गुप्तो के सामंत महाराज हस्तिन के कई लेख मध्यभारत (मध्य प्रदेश) से प्राप्त हुए है जिन पर 'नमो महादेवाय' मंत्र से प्रशस्ति का आरम्भ किया गया है।

गुप्तकाल के पश्चात् भी इस धर्म के प्रचार मे उन्नति ही होती गई। बर्धन नरेश हर्ष मधुवन ताम्रपत्र में परमाहेश्वर की पदवी से विभूषित है। सम्भवत प्रारम्भिक जीवन मे वह शिव का पुजारी था। छठी सदी के शासक विष्णुवर्धन के मंदसोर (मालवा) लेखो में तथा हूण राजा मिहिर के ग्वालियर प्रशस्ति में शिव की प्रार्थना रोचक शब्दो में की गई है (का० इ० इ० भा० ३ पृ० ७४ व १५२) मिहिरगुल के सिक्के पर जयतुवृष का लेख अंकित है। यह विवरण हूण शासक मिहिरगुल द्वारा की गई शिव-पूजा उसकी गाढी भक्ति का परिचायक है।

सातवी शदी से बगाल में भी शैवमत का प्रचार था जो शशाक, पाल नरेश नारायण पाल और सेनवशी शासको की प्रशस्तियो से प्रकट होता है। शिव प्रतिमा के लेख मे "महा-वृषभ पर्याङ्क बालचन्द्र ज्योतिजटा भगवत स्थित्युत्पत्ति प्रलय सृष्टि संहार कारणस्थ" का उल्लेख मिलता है। इस काल मे शिवपूजा लोकप्रिय रही इसीलिए शिवके विभिन्न नाम, अग्रहार तथा मदिर निर्माण की बाते उल्लिखित है। शैवमत की उपशाखाए भी इस युग मे प्रचलित थी। लेख के प्रारम्भ मे 'ओ नमो शिवाय' का मंत्र स्पष्ट प्रकट करता है कि शासक का झुकाव शैवमत की ओर अवश्य था। कलचुरी लेखो मे केदारेश्वर, सोमनाथ तथा रुद्र के नाम उल्लिखित है। (ए० इ० भा० १ व १६ पृ० २३८; १३) परमार प्रशस्ति मे भवानीपति, व्योमकेश, महादेव या उमापति के नाम से शिव की प्रार्थना की गई है (ए० इ० भा० ११ पृ० १८१)। पशुपति, योगस्वामी, लोलार्क तथा बिन्ध्येश्वर (ए० इ० भा० ६, ५ पृ० १७४, ११६) के नाम विभिन्न लेखो से ज्ञात होते है। सेन तथा प्रतिहार लेखो मे "अर्द्ध-नारीश्वर" शम्भु तथा नीलकठ का उल्लेख पाया जाता है (ए० इ० भा० १९ पृ० १७५, भा० १४ पृ० १५९) सेनवश के आराध्यदेव 'सदाशिव' कहे गए है जिनकी प्रतिमा लेखो के ऊपरी भाग पर खुदी है। शिव पूजा मे आस्था करने के कारण ही परमार, चेदि, चन्देल, प्रतिहार गहडवाल तथा सेनवशी शासक 'परम माहेश्वर' की पदवी से विभूषित थे। यह पदवी स्वय बतलाती है कि महेश्वर के नए नाम से भी शिव की पूजा होती रही।

राजकीय लेखो मे शिव की प्रार्थना ललित शब्दो मे की गई है। प्रशस्तियो से उद्धरण सुनिए.—

(१) जयति जगत्रय मडप मूलस्तम्भो महादेव

(परमार लेख, ए० इ० २१ पृ० ४४)

(२) वदेमहि महादेवं देव देव जगद्गुरुम्।

(कलचरि लेख, ए० इ० २ पृ० १८)

(३) गङ्गावुस सिक्त माल भाले

कलेन्दोरमला कुरामा

यन्मूर्द्धिन् नम्रेहित कल्प वल्या

भातीव भूत्यै स तवास्तु शभु

(उदयपुर प्रशस्ति—ए इ. १ पृ २३३)

(४) कल्याणिताम् विकला भवता तनोतु
भाले कलानिधि शशि शेखरस्य
(भेराघाट लेख,—ए. इ. २ पृ. १०)

बगाल के पाल तथा सेन नरेशो के शिव मन्दिर के निर्माण का उल्लेख कई स्थानो पर मिलता है। पाल राजा नारायणपाल ने बौद्ध मतानुयायी होकर भी शिव (शिव भट्टारक) के सैकडो मन्दिर तैयार कराया जिसका वर्णन भागलपुर की प्रशस्ति में मिलता है—महाराजाधिराज श्री नारायणपाल देवेन स्वयं कारित सहस्रायतनस्य । तत्र प्रतिष्ठापितस्य । भगवत शिव भट्टारकस्य (इ० ए० भा० १५ पृ० ३०६) यदि इस सख्या को अत्युक्तिपूर्ण माने तो भी उसके शैवमत के आदर तथा उस धर्म के प्रति सहिष्णुता का भाव प्रदर्शित करता है। विग्रहपाल तीसरे ने भी शिव मन्दिर तैयार कराया। विजयसेन के देवपारा प्रशस्ति मे प्रद्युम्नेश्वर (शिव) के विशाल देवालय निर्माण का वर्णन है—(स प्रद्युम्नेश्वरस्य व्यधित वसुमतो वासव सौर्धमुच्चै) बंगाल के बाहर उडीसा में दसवी सदी में शिवमन्दिर निर्मित किए गए जिसमे लिङ्गराज सर्व प्रसिद्ध है। मध्य भारत मे चन्देल नरेशों की शक्ति और भक्ति के प्रमाण उनके मन्दिरो तथा लेखो से मिलते है। कन्दरिया महादेव का मन्दिर अत्यन्त सुन्दर ढग से बनाया गया है। खजुराहो की प्रशस्तियो मे शिवमन्दिर का वर्णन सुन्दर शब्दो मे है। परमर्दि द्वारा निर्मित शिव मन्दिर भी उल्लेखनीय है (भारत कौमुदी भा० १ पृ० ४३५)। परमार शासन मे नीलकण्ठ, महाकाल तथा मण्डलेश्वर शिव के देवालय बनाए गए थे (प्रासादामय माणेयं शिव एव करोति य —ए० इ० २१ पृ० ४२, ४८) कलचुरी लेखो के परिशीलन से उसी तरह का ज्ञान होता है कि शासक शिव-भक्त होने के कारण शिव-मन्दिर का निर्माण करते रहे। रतनपुर के लेख में उल्लेख आता है कि कुमराकोट नामक स्थान पर शिव मन्दिर तैयार कराया गया था।

सुधासु धवलं तत्र धूर्ज्जटे धाम निर्म्मितम्
निर्मित मन्दिरं रम्या कुमराकोट पत्तने।
(ए० इ० २६ पृ० २६२)

प्रतिहार लेखो का वर्णन इससे घटकर नही है। वाउक के ग्वालियर प्रशस्ति मे निम्न वर्णन पठनीय है—

पुष्करणी कारिता येन त्रेता तीर्थे च पत्तनं
सिद्धेश्वरो महादेव कारितस्तुग मन्दिर.।
(ए० इ० १८ पृ० ९६)

इस प्रकार के अभिलेखो का अध्ययन स्पष्ट रूप से प्रकट करता है कि मध्य-प्रदेश, राजपुताना, उत्तर प्रदेश, बिहार, बगाल तथा उडीसा मे शैवमत लोकप्रिय था। जिसके पूजा या मन्दिर निर्माण का विशद् वर्णन प्रशस्तियो मे निहित है। लेखो का परिशीलन तथा प्रतिमाओ का परीक्षण यह बतलाता है कि भारतीय दर्शन के प्रकृति पुरुष या एक ब्रह्म की कल्पना को पूर्व मध्यकालीन प्रतिमाओ मे स्थान मिल चुका था। वैवाहिक प्रतिमा से प्रकृति पुरुष का बोध होता है तो अर्द्धनारीश्वर मूर्ति से 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' का परिज्ञान हो जाता है। सेन लेख मे अर्द्धनारीश्वर के सम्बन्ध में निम्न पंक्ति मिलती है—

सध्या ताण्डव समविधान विलसन् नान्दा निनादोम्मभि
निर्म्मर्यादासार्ण्णवो दिशतु वः श्रेयोद्धनारीश्वर
(नईहटी का ताम्रपत्र—ए० इ० १४ पृ० १५९)

७०० ई० के पश्चात् शैवमत का इतिहास विशेष महत्व रखता है। भारतवर्ष में सर्वत्र ही इस मत का प्रचार रहा। लेखों में शैवमत की प्रधान दो उप-शाखाओ—पाशुपत तथा कापालिक—के नाम मिलते है। पाशुपत शाखा के प्रतिष्ठापक लकुलीश (हाथ में दण्ड) की आकृति हुविष्क के सिक्को पर मिलती है परन्तु चौथी सदी में मथुरा स्तम्भ लेख मे पाशुपत साधु उदिताचार्य द्वारा दो शिवलिङ्गो की स्थापना का वर्णन आता है (द्वितीय चन्द्रगुप्त का मथुरा स्तम्भ लेख)। गुजरात के एक लेख मे लकुलीश के रूप मे शिव का अवतार वर्णित है—

पाशुपत तथा कापालिक

भट्टारक श्री लकुलीश मूर्त्या तपः क्रिया काड फल प्रदाता
अवातरेद्विश्वमनुग्रहीतु देव स्वय बाल मृगाक मौलि.
(ए० इ० १ पृ० २८१)

पाशुपत मत के प्रचार के लिए ही लकुलीश का जन्म हुआ था—"अवतेरूश्चत्वार पाशुपत व्रत विशेष चर्यार्थ।" राजपूताना के उदयपुर के समापस्थ नाथ-मन्दिर की प्रशस्ति मे लकुलीश की प्रार्थना की गई। (ओ मनो लकुलीशाय) भ्रमवश लेखो मे पाशुपत अथवा लकुलीश पाशुपत का उल्लेख है (राज्यपाल जा नदलई लेख ए० ई० ११ पृ० ३९)। सम्भवत नाथ मन्दिर के भू-भाग मे शैवमत लकुलीश सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध था। चहमान नरेश विग्रहराज (११ वी सदी) के अभिलेख मे शैवसाधु अलात का शिष्य पाशुपत शिव का परम पुजारी था।

आसीन्नैष्ठिकरूपो यो दीप्त पाशुपत व्रत·
तीव्र वेग तपो जात पुण्यापुण्यमलक्षय.।
(हर्ष शिलालेख–ए इ २ पृ १२३ श्लोक ३५)

राजपुताना संग्रहालय के लेख मे पाशुपत मतानुयायी विश्वेश्वर प्रज्ञा नामक पुजारी सिद्धेश्वर मन्दिर मे रहता था—ऐसा वर्णन आया है। कलचुरी लेख इस बात के प्रमाण है कि राजा पाशुपत उपशाखा के मानने वाले थे (ए इ १९ पृ० ७७) अह्लणदेवी के भेराघाट प्रशस्ति मे उल्लेख है कि (११ वी सदी मे) शिव मन्दिर की स्थापना कर पाशुपत साधु के हाथ सारा प्रबन्ध सौप दिया गया था—

लाटान्वय पाशुपतस्तपस्वी—
स्थानस्य रक्षा विधिमस्य तावद्यावन्मिभीते भवानानि शम्भु ।

तत्कालीन मठो मे भी पाशुपत साधु के निवास करने का विवरण पाया जाता है—

श्री-भोजनगरे श्री सोमेश्वर देव मठ निवासी
परम पाशुपत आचार्य भट्टारक श्री भाव वाल्मिक.।

बंगाल के राजा नारायणपाल के शिव मन्दिर के पाशुपत साधुओ के निमित्त स्थान तथा औषधि के लिए दान का निम्न वर्णन मिलता है :—

पाशुपत आचार्य परिषदश्च—
शयना नग्लान प्रत्यय भैषज परिष्काराद्यर्थ ।
(भागलपुर का लेख–इ ए १५ पृ ३०६)

इस समय मे प्रचलित शैवमत की दूसरी उपशाखा-कापालिक का नाम पुराणो में आया है और मध्ययुग के लेखो मे भी उल्लिखित है । इसके अनुयायी शरीर में मृत व्यक्ति का भस्म (विभूति) लगाते, खोपडी मे भोजन करते तथा शराब का पात्र भी रखते थे। अघोरपन्थी साधु भी इनके सदृश थे । शैव धर्म पर तान्त्रिक मत का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पडता ह । राजपुताने के लेख मे कापालिक साधुओ का उल्लेख है। उदयपुर की प्रशस्ति मे कापालिक साधुओ के मठ निर्माण का विवरण पाया जाता है (आ० रि० राजपु० संग्रहालय १६२२-२३ पृ २)। हम्मीर के एक लेख मे कापालिक शाखा का उल्लेख मिलता है जिसमे प्रकट होता है कि पाशुपत मत के पश्चात् उदयपुर के भाग मे (१२ वी सदी) कापालिक (शैव-शाखा) का प्रचार हो गया था (ए इ १६ पृ ४७) ।

सूर्य-पूजा

वैदिक काल मे ही सूर्य देवता को पूजा का प्रचलन भारत मे रहा परन्तु विद्वानो की धारणा है कि ईरान मे सूर्य मत का प्रचार हुआ। ईसवी सन् के आरम्भ से सूर्य-पूजा की प्रियता बढने लगी इसलिए कनिष्क ने मित्र (सूर्य) की आकृति सिक्के पर खुदवाई तथा मीरो (मिहिर = सूर्य) अंकित कराया। गुप्त युग म विष्णु तथा शिव के बाद सूर्योपासना का स्थान था । गुप्त लेखो में सूर्य पूजा का अनेक स्थलो पर उल्लेख है। प्रथम कुमार गुप्त के मदसोर वाले लेख में भगवान् भास्कर की स्तुति ललित तथा काव्यमय भाषा मे की गई है ।

हेतुर्यो जगत क्षयाभ्युदययो पायात्सवो भास्कर

× × ×

भक्तेभ्यश्च ददाति योऽभिलषिते तस्मैसवित्रे नम ।

× × ×

पायात्सव सुकिरणाभरणो विवस्वान् ।

इस लेख के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि प्रथम कुमार गुप्त के प्रान्तपति बन्धु वर्मा के शासन मे तन्तुवाय श्रेणी द्वारा सूर्य मन्दिर का संस्कार भी हुआ था—

श्रेण्यादेशेन भक्त्या च कारितं भवनं रवे

(मन्दसोर-मालवा की प्रशस्ति)

सम्राट् स्कन्द गुप्त के इन्दौर लेख मे भगवान् सूर्य की प्रार्थना सुन्दर शब्दो से आरम्भ की गई है।

पायाद्वः स जगत्पिधान पुट-भिद्रश्म्या करो भास्करः ।

इसमें वर्णन है कि अन्तरवेद मे (गंगा-यमुना के द्वाब) दो क्षत्रियो ने सूर्य पूजा के निमित्त

भास्कर का मन्दिर निर्माण कराया। वैशाली के मुहरो पर गुप्तलिपि में—"भगवतो आदित्यस्य" उत्कीर्ण है। गुप्त लेखो मे उल्लिखित सूर्य-पूजा के वर्णन को तत्कालीन मूर्त्तिया प्रमाणित करती है।

पूर्व मध्ययुग मे उत्तरी भारत (राजपुताना, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा बिहार व बगाल) मे इस सिद्धान्त (सूर्य-पूजा) का प्रचार हो गया था। वहा के अभिलेख "ओ नमो सूर्याय या नमो सूर्याय" मन्त्र से प्रारम्भ होते हैं। थानेश्वर के शासक राज्यवर्द्धन प्रथम, आदित्य-वर्धन तथा महाराजा प्रभाकर वर्धन (हर्ष के पिता) सूर्य भक्त होने के कारण 'परम आदित्य भक्त' कहे गए हैं (मधुवन का लेख—ए. इ. १ पृ ७२)। विदेशी हूण राजा तोरमाण सूर्य का पुजारी था उसने सिक्को पर चक्र के प्रतीक का समावेश किया तथा पुत्र को मिहिर का नाम रक्खा। मिहिरकुल के ग्वालियर प्रशस्ति मे भी सूर्य मन्दिर के निर्माण का वर्णन मिलता है। उदयसिंह देव की भीनमल के लेख मे भगवान् सूर्य की प्रार्थना निम्न शब्दों में की गई है—

कुरतेऽञ्जलि त्रिनेत्र स जयत धाम्ना निधि सूर्य।

(ए० इ० ११ पृ० ५५)

दूसरे लेख मे पुष्प तथा नीम पत्तियों के साथ सूर्य पूजा का वर्णन है तथा चहमान प्रशस्ति मे (१२ वी सदी) सूर्य (इन्द्रादित्य) पूजा के निमित्त अग्रहार दान का विवरण है (ए० इ० १२ पृ० ५९)। प्रतिहार राजा द्वितीय महेन्द्रपाल के उज्जयिनी दानपत्र मे भी उसी प्रकार का वर्णन (पूजा प्रकार) है। गहडवाल नरेश जयचन्द्र ने भगवान् लोलार्क (सूर्य का नाम) के पूजा निमित्त कई ग्राम दान किया था (ए० इ० ४पृ० १२०—देव श्री लोल्लार्काय)। परमार वश के वसन्तगढ के लेख मे विधवा रानी द्वारा सूर्य मन्दिर के संस्कार का उल्लेख पाया जाता है—

(अ) कृत्वा निकेतन व्रटवासी भानो (ए० इ० ९ पृ० १३)

(ब) गृह् कारितमाशुभानो (वही १४ पृ० १८१)

मुसलमान लेखको ने सूर्य पूजा का वर्णन किया है जिसका प्रधान केन्द्र मुल्तान (=मूलस्थान) था। अलबेरूनी ने इसका सुन्दर विवरण दिया है कि भारत के कोने-कोने से जनता मुल्तान के सूर्य मन्दिर मे आया करती थी। उनके दान से वह शहर वैभवपूर्ण हो गया था। पूर्वी भारत मे भी सूर्य पूजा का प्रसार था। उडीसा का कोणार्क मन्दिर इसे प्रमाणित करता है। सूर्य प्रतिमा के पृष्ठ भाग पर दो प्रकार के लेख उत्कीर्ण पाये जाते है—

(१) सूर्य समस्त रोगाना हर्त्ता विश्व प्रकाशक. (ज० ए० सो० ब० २६ पृ० १४७)

(२) श्री तवमीदिनकारिन् भट्टारक (ए० इ० २७ पृ० २५)

इन उद्धरणो मे ज्ञात होता है कि सूर्य सब रोगो के नाशक (कुष्ट तथा अन्य चर्म रोग) माने जाते थे। अथर्ववेद मे (१, ४, ६) तकमन शब्द रोग के लिए प्रयुक्त है इसलिए सूर्य को तकमी (रोग नाशक) कहा गया है। बगाल के दसवी सदी के कथित प्रशस्तियो से प्रकट होता है सूर्य की आराधना रोगों से मुक्त होने के निमित्त किया जाता था।

बिहार में निवास करने वाले शाकद्वीपी (मग) ब्राह्मण अत्यन्त पुराने समय से हो

सूर्य के पुजारी माने गए हैं और आज भी औषधि या तन्त्र का ज्ञान उनमे अधिक है। डा० भण्डारकर के मतानुसार भारत में मग ब्राह्मणों ने सूर्य-पूजा का प्रचार किया था। गया जिले (बिहार) से प्राप्त एक लेख में शाकद्वीपी मग नाम से उल्लिखित है—

शाकद्वीपस्य दुग्धाम्बुनिधि वलयितो यत्र विप्रो मगाख्या (ए० इ० ०पृ० ३३३)
उत्तरी भारत में पूर्वमध्यकाल में सूर्य पूजा अधिक लोकप्रिय हो गई जिसके कारण इस देवता के अनेक नाम— इन्द्रियानित्य, लोलार्क, भास्कर, चक्रस्वामी वरुणस्वामी, तथा मार्तण्ड–अभिलेखों में मिलते हैं तथा इन नामो से प्रतिमाएं भी बनती थी। यहा सूर्य प्रतिमाओ का वर्णन अप्रासंगिक होगा परन्तु संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पचायतन-पूजा मे सूर्य का भी स्थान था तथा गुप्त युग के पश्चात् इस देवता की पूजा समाज में पूर्णरूपेण प्रचलित हो गई।

भारत मे मातृदेवी की पूजा प्रागैतिहासिक युग से प्रचलित है। मातृदेवी की मृण्मयी प्रतिमा पाच हजार वर्ष पूर्व बनती रही। मिश्र से लेकर हरप्पा युग की संस्कृति म मातृदेवी (Mother goddess) की मूर्तियां खुदाई से प्रकाश मे आई हैं।

शक्ति-पूजा

इस मातृदेवी को शक्ति का रूप मानते हैं। शिव के साथ देवी को सम्बन्धित करना तान्त्रिक मत का प्रभाव है। इसम शक्ति और शक्तिमत को अभिन्न समझा जाता है। इसलिए प्रकृति पुरुष की भावना समाज मे आई। बौद्धमत मे 'प्रज्ञा तथा उपाय' शब्दों से उसकी अभिव्यक्ति की जाती है। तान्त्रिक मत म प्रभावित होकर शक्ति की आधुनिक प्रतिमाएं बनने लगी। भेड़ाघाट (जबलपुर, मध्यप्रदेश) के चौसठ योगिनी का मन्दिर उसका जीता-जागता उदाहरण है। उन तान्त्रिक देवी प्रतिमाओं के आधार-शिला पर शक्ति का नाम भी उत्कीर्ण है जिसके अध्ययन से हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। पूर्व मध्यकालीन लेखों मे भी दुर्गा पूजा का वर्णन है जो शक्ति का उग्ररूप मानी गई है। प्रतिहार लेख महिषमर्दिनी देवी की प्रार्थना से आरम्भ होता है। उस स्थान पर वटयक्षिणी देवी (दुर्गा का एक नाम) के मन्दिर को शैवसाधुओं के हाथों सौंपने का वर्णन है (ए० इ० १४ पृ० १७७) दूसरे लेखों मे काचनदेवी, सर्वमङ्गला या अम्बा के नाम से वर्णित है। उसकी प्रार्थना का एक उद्धरण दिया जा रहा है—

दुर्गे जयाख्ये प्रबला सुरोच्चविध्वसनी स्तोत परंपराभिः
दुर्गास्तुवन्नेव सदैव भक्त्या कृताञ्जलि पुण्य तमामुपास्ते।
(ए इ. भा १ पृ० ३३४)

शक्ति का दुर्गा ही प्रसिद्ध नाम था यही कारण है कि भारतीय कला में महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमा अधिक संख्या मे उपलब्ध हुई है। बंगाल के एक अभिलेख में नव दुर्गा का उल्लेख है जिसकी पूजा तथा मन्दिर के संस्कार के लिए अग्रहार दान मे दिया था (नव दुर्गायतनाय च पूजा संस्कारार्थम्–ए. इ १ पृ० १५९) इस स्थान पर नव दुर्गा का नाम नही मिलता पर साहित्य मे शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कुष्माण्डी स्कन्धमाता, कात्यायिनी, कालरात्रि, महागौरी तथा सिद्धमाता (नव दुर्गा प्रकीर्तिता) के नाम मिलते हैं। बंगाल से शक्ति की विभिन्न स्वरूप की अनगिनत प्रतिमाएं प्रकाश में आई हैं जिनसे उस प्रदेश मे शक्ति-पूजा की प्रधानता का अनुमान लगाया जाता है।

पंचायतन पूजा में गणेश को अन्तिम स्थान (विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा तथा गणेश) दिया गया है। यो तो हिन्दूधर्म मे समस्त कार्य गणेश की आराधना से प्रारम्भ होते है परन्तु लेखो तथा कलात्मक उदाहरणो से गणेश-पूजा का प्रचुर प्रचार नही

गणेश

मालूम पडता। कई शैव प्रशस्तियो मे गणेश, शिव-पार्वती के साथ प्रार्थना मे सम्मिलित है। वैष्णव अभिलेख भी "ओ गणपतये नम" से प्रारम्भ दीख पडते हैं। आरम्भ के श्लोको में गणपति की प्रार्थना मिलती है परन्तु उस अभिलेख का मुख्य विषय विष्णु मन्दिर के दान से सम्बन्धित है (ए० इ० भा० १ पृ० २८८)। चन्देल प्रशस्ति मे गणेश को विनायक कहा गया है। (ए० इ० ९ पृ० २७९)। विनायक नाम से जैन लोग भी गणेश की पूजा करते रहे जिसका उल्लेख राजकीय लेख मे प्रस्तुत किया गया है (ज० इ० हि० भा० १८ पृ० १५८)।

प्राचीन लेखो से धार्मिक वृत्तान्त की जानकारी तो होती है पर यदा-कदा दार्शनिक सिद्धान्तो से भी पाठक अवगत हो जाते है। दानपत्रो में अधिकतर देवता के नाम (पूजा निमित्त), मन्दिर के अधिकारी (पुरोहित) के नाम अथवा धार्मिक संस्था को भूमि या धन दान का विवरण है। उसको आय निर्दिष्ट मार्ग से व्यय को जाती थी (पूजा, सस्कार, भोजन, निवास, औषधि आदि) नासिक लेख मे वर्णन है कि सचित धन के सूद से हो भिक्षुओ को भोजन या वस्त्र दिया जाय। इस बात का आदेश था कि कोष के सचित द्रव्य का कभी व्यय नही किया जा सकता। पूर्व मध्ययुग के लेखो के (दानपत्रो को) चिरस्थायी करने के लिए अन्त मे श्रापयुक्त या मगलमय श्लोक लिखवाए जाते थे। उसका एक मात्र कारण यही था कि दानकर्त्ता के उत्तराधिकारियो के मन मे भय उत्पन्न किया जाय ताकि वे दान सम्पत्ति को वापस न ले सकें।

षष्टि वर्ष सहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद
आक्षप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्।

प्राचीन भारत के अभिलेखों का परिशीलन एक विशेष प्रकार के सद्भावना से परिचय कराता है जो भारतीय इतिहास की अद्वितीय घटना है। मौर्य सम्राट् अशोक से लेकर १२वी सदी के बगाल नरेश धार्मिक सहिष्णुता की भावना से प्रेरित थे।

धार्मिक सहिष्णुता

कट्टरपथी शब्द का प्रयोग उनके लिए नही किया जा सकता। अशोक ने अपने बारहवें शिलालेख मे आदेश दिया है कि धार्मिक क्षेत्र मे सभी सीमित ढग से विचार व्यक्त करें (वाक्य सयम करना = इयो मुलय वचोगुति)। अपने धर्म की प्रशसा तथा अन्य मतो की बुराई करने की वार्ता को उसने निन्दनीय बतलाया।

अत पषड पुज व पर पषंड गरहन—

× ×

अत पषड क्षणति पर पषंडस च अपकरोति।

इतना ही नही, अशोक ने तथा उसके पौत्र दशरथ ने आजीविक मत के साधुओ के लिए बराबर तथा नागार्जुनी पर्वत की गुफाओं (गया जिला) को दान में दिया था। अशोक के विचार तथा कार्य में सामंजस्य पाया जाता है। मौर्य युग के पश्चात् सातवाहन तथा शुंग नरेश ब्राह्मण

धर्म के अनुयायी थे परन्तु उनके शासनकाल मे अमरावती, साची तथा भरहुत आदि बौद्ध कलाकेन्द्र विकसित हुए। गौतमी पुत्र शातकर्णि "एक ब्राह्मण" तथा "क्षत्रिय मान मदनस" (क्षत्रियो के मान को नष्ट करने वाला) कहा गया है पर उसी के शासन में भदावनीय तथा महासघिक नामक बौद्ध शाखाओ को गुहा दान मे दिया गया था। ईसवी सन् के आरम्भ से उत्तर पश्चिम भारत में कनिष्क ने बौद्धमत को अपनाया था परन्तु उसने ईरानी (मित्र), यूनानी (आरदोक्षो), ब्राह्मण (शिव) तथा बौद्ध (बुद्ध) देवताओ के चित्र तथा नाम सिक्को पर अकित कराया, जिससे उसकी सहिष्णुता का अनुमान किया जा सकता है। गुप्त सम्राटो मे भी ऐसा गुण था जिसकी जानकारी उनके लेखो से हो जाती है। गुप्त नरेश विष्णु के पुजारी (परम भागवत) होकर पचदेव (विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा तथा गणेश) पूजा के समर्थक थे तथा अन्य सम्प्रदायो के प्रसार मे योग देते रहे। मौखिक सहानुभूति का प्रदर्शन कर गुप्त सम्राटो ने शैव तथा जैनमतानुयायियो को प्रश्रय दिया। बौद्धकला को प्रोत्साहन देने के कारण सारनाथ का कलाकेन्द्र उनके राज्य मे ही फूला ओर फला। परम भागवत द्वितीय चन्द्रगुप्त से लेकर बुधगुप्त तक के लेखो म विहार-दान का वर्णन है। हर्ष के पूर्वज सूर्य के उपासक थे, वह भी आरम्भिक जीवन में शिव का भक्त था परन्तु बौद्धमत की ओर उसका झुकाव हो गया।

पाल नरेश 'परमसौगत' पदवी से विभूषित थे तथा ताम्रपत्रो के ऊपरी भाग पर 'धर्म चक्र' चिन्ह अकित है। बौद्ध सम्राटो मे धर्मपाल का नाम अग्रणी है जिसने विक्रमशिला महा विहार की सस्थापना की। वही वज्रयान का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया। धर्मपाल के द्वारा 'नर नारायण (विष्णु) तथा नारायणपाल के द्वारा शिव मन्दिर के निमित्त दान का उल्लेख है। पाल शासन मे दान का वर्णन है (खालीमपुर का लेख तथा भागलपुर का दानपत्र)। गहडवाल राजा गोविन्द चन्द्र की रानी कुमारदेवी बौद्धमत में विश्वास रखती थी, इसलिए सारनाथ मे उसने एक विहार बनवाया था। ब्राह्मण मतानुयायी राजा ने स्वय जेतवन विहार के लिए कई ग्राम दान मे दिया। (ए० इ० ११ पृ० २०) चन्देल राजा भी परम सहिष्णु थे। खजुराहो का विष्णु, शैव तथा जैन मन्दिर उनके धार्मिक सहिष्णुता के जीते उदाहरण है। मध्य देश के लेखो मे बौद्ध शासको के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्मानुयायी राजा मे सहिष्णु होने की वार्ता उल्लिखित है। परममाहेश्वर शैव शासक द्वारा नारायण-पूजा का वर्णन मिलता है। कलचुरी राजा के कसिया लेख मे शैव तथा बौद्धमत सम्बन्धी चर्चा एक ही स्थल पर की गई है। "नमो बुद्धाय" तथा "ओ नमो रुद्राय" मन्त्रो से लेख प्रारम्भ होते है। कुछ पदो मे शिव और कुछ श्लोको मे बौद्ध तारादेवी की प्रार्थना मिलती है।

पायात्ति पर्व्व प्रभवभयमिद शाश्वत शंकरस्य
विभ्राणा भवता सुखानि तनुता तारा त्रिलोकेश्वरी

(ए० इ० १८ पृ० १३०)

११ वी सदी के मारवाड लेख मे शिव की प्रार्थना के साथ जैन मन्दिर को दान देने का विवरण पाया जाता है। सक्षेप मे यह कहना सर्वथा उचित होगा कि भारतीय नरेशो मे धार्मिक सहिष्णुता उच्च कोटि की थी और वैसा आदर्श अन्यत्र नही पाया जाता।

मौर्य युग के बाद भारतीय अभिलेखो मे यज्ञो का विवरण मिलता है। अशोक के धर्म

लेखो मे बौद्ध धर्म के विनय का वर्णन है परन्तु कालान्तर मे सम्पूर्ण भारत मे ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के साथ यज्ञ सम्पन्न हुए। ईसवी पूर्व सदियो मे अयोध्या

वैदिक यज्ञ लेख में पुष्यमित्र द्वारा दो अश्वमेध का उल्लेख है—

कोसलाधिपेन द्विरश्वमेध-याजिन सेनापते पुष्यमित्रस्य

उसी के समकालीन दक्षिण भारत के सातवाहन लेख मे अनेक यज्ञो के नाम आते है—अग्न्याधेय यज्ञ. अनारम्भणीय यज्ञः राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, गर्गतिरात्र यज्ञ, आसोर्याय यज्ञ, आङ्गिरसाति रात्र यज्ञः तथा त्रयोदश रात्र यज्ञ (नानाघाट लेख)। पश्चिम भारत के क्षत्रप शासक नहपान का जमाता ऋषभदत्त (दूसरी सदी) भारतीय संस्कृति का अनुयायी था। उसने तीर्थ यात्रा, दान आदि कार्यो को प्रोत्साहित किया परन्तु किसी वैदिक यज्ञ को सम्पन्न नही किया। तीसरी शताब्दी के शासक नागवंशी राजाओ के सम्बन्ध मे डा० जायसवाल का मत था कि काशी के दशाश्वमेघघाट का नामकरण उनके द्वारा सम्पन्न दश अश्वमेध के कारण हुआ था। नाग राजाओ (भारशिव) ने वही यज्ञ किया था। दक्षिण भारत के राजा वीरपुरुषदत्त के लेख में "अग्निष्टोम, वाजपेय तथा अश्वमेध के नाम मिलते है (अगिहोतागिठोगिठोभ = वाजपेयासमेघ नागार्जुन कोण्डा का लेख नं० ३–ए० इ० २० पृ० १६-१९)।

यज्ञ का यही क्रम उत्तरी भारत मे भी थी। गुप्त युग मे समुद्र गुप्त ने अश्वमेध किया था जिसका उल्लेख अभिलेख तथा मुद्रालेख मे मिलता है। समुद्रगुप्त के लिए गुप्त लेखो में "चिरोत्सन्नाश्वमेधा हर्तुः" (अश्वमेध को पुन जीवित करने वाला) तथा वाकाटक वंशी प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रपत्र मे "अनेक अश्वमेध याज्ञी" उल्लिखित है (ए० इ० १५ पृ० ४१)। कई अश्वमेध की चर्चा सदिग्ध है तथापि एक अश्वमेध की घटना तो मुद्रालेख से सिद्ध होती है। अश्वमेध प्रकार की स्वर्ण मुद्रा पर अग्रभाग मे निम्न लेख अंकित है—राजाधिराज पृथिवीमवित्वा दिव जयत्या हृतवाजिमेध। पृष्ठ भाग पर–अश्वमेध पराक्रम लिखा है तथा पट्टमहिषि (कात्यायन श्रौत सूत्र मे कथित प्रकार से) यज्ञ के लिए उद्यत है (का० श्रौ० सू० २०-७)। पाचवी सदी के वाकाटक राजा द्वितीय प्रवरसेन के लिए चमक ताम्रपत्र मे "चतुरश्वमेधयाजिनः" (चार अश्वमेध करने वाला) पदवी का उल्लेख है (का० इ० इ० ३ पृ० २३६)। इस प्रकार लेखो के अध्ययन से छठी सदी तक यज्ञ करने की बातें ज्ञात हो जाती है। बसीम लेख मे (मध्य प्रदेश) अग्निष्टोम, वाजपेय तथा ज्योतिष्टोम यज्ञो के नाम मिलते है (इ० हि० क्वा० १६ पृ० १८२)। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणधर्म के अभ्युदय के साथ वैदिक यज्ञो का अनुष्ठान भी होने लगा जो क्रम सातवी सदी तक प्रचलित रहा।

भारत मे धर्म को सदा प्रधान स्थान दिया गया है और जनता समाज मे धार्मिक भावना से प्रेरित होकर ही कार्य करती रही है। भोज प्रतिहार के

धार्मिक कार्य लेख में यह विचार व्यक्त किया गया है कि धर्म ही मनुष्य का इस लोक मे मित्र है

प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दु समा नराणा
धर्मः सखा परमहो परलोकयाने

(ए० इ० ११ पृ० १८२)

धर्म ग्रंथो मे भी इसका उल्लेख है कि धर्म ही विभिन्न योनियो मे आत्मा के साथ भ्रमण करता है (बौ० ध० सू० २०।२९।४८; गीता २।२७, याज्ञ० ३।७ विष्णु २०।२२ : शा० प० १७५।१५)

अशोक ने धर्म-भावना के कारण ही लेखो को उत्कीर्ण कराया था जिसे पढ कर लोग उसके धार्मिक विचार से परिचित हो सकें । चौथे शिला लेख मे "धमं चरणेन भेरी घोषो अहो धमं घोसो" का उल्लेख है तथा इसी भावना से साम्राज्य विस्तार की इच्छा को अशोक ने परित्याग कर दिया । उसने सारा कार्य "धर्म यात्रा", "धर्म मंगल", "धर्म शासन" (शिलालेख ८ तथा ९) धर्म के लिए ही पूर्ण किया तथा संसार के धर्म-विजय की कल्पना करता था । उसके सम्मुख धर्म दान से बढ़कर कोई कार्य न था (नथि हेडिषे दाने अदिष धम दाने-शिला लेख ११) । इसी कारण जो कुछ अशोक ने खुदवाया वह सभी (अयं धम लिपि) धर्म लिपि कह लाया (इय धम लिपि लिखापिता—स्तम्भ लेख प्रथम चौथा) सातवाहन लेख भी "धर्माय नम" की प्राथना से प्रारम्भ हुआ है (नानाघाट) । धार्मिक विचार तथा भारतीय सस्कृति के प्रशंसक होने के कारण नहपान के जामाता ऋषभदत्त ने प्रभास तीर्थ मे ब्राह्मण कन्या के विवाह के लिए धन दान मे दिया था (प्रभासे पुण्यतीर्थे ब्राह्मणेम्य अष्टभार्या प्रदेन—ए' इ ८ पृ ७८) ।

ईसवी सन् की दूसरी सदी मे महाक्षत्रप रुद्रदामन मे अपनी धर्म कीर्ति को बढाने के लिए अपने कोष से पर्याप्त धन व्यय कर बाध बँधवाया था (गो ब्राह्मण हितार्थ धर्म कीर्ति वृद्ध्यर्थ–ए इ. ८ पृ ४२) । रुद्रसिंह प्रथम के गुण्डा लेख मे पुण्य के लिए जनहित कार्य का विवेचन है (ग्रामे रसोपद्र वापी खनिता बन्धापितश्च सर्व सत्वाना हित सुखार्थमिति—ए. इ. भा १६ पृ. २३५) । गुप्त युग मे सभी धर्म से प्रेरित होकर कार्य करते थे ।

तस्मिन्नुये शासति नैव कश्चि
द्धर्म्मादपेतो मनुज प्रजासु
(स्कन्द का जूनागढ लेख–का इ. इ ३ पृ ५८)

छठी सदी के फरीदपुर ताम्र-पत्र (बंगाल) निम्नलिखित वर्णन है—

धर्म षड्भागलाभः तदे ता प्रवृत्तिमधिगम्य
न्यासाधा स्वपुण्यकीर्ति सस्यापन कृताभिलाषस्य
यथा संकलाभि तथा कृपाधृत्य साधनिक वतभोगन द्वादश दीनारानग्रतो दत्ता
(मुकुर्जी सिल्वर जुलिभी वालुभ भा ३ पृ ४७५) ।

तात्पर्य यह है कि धर्म की भावना ही सभी पुण्यकार्यों के मूल मे निहित थी ।

जो कुछ कार्य किया जाता उसमे सासारिक वैभव की कामना न रहती परन्तु पुण्य लाभ के लिए दान दिए जाते थे । अशोक ने स्तम्भ का निर्माण धर्म शासन के प्रसार के लिए किया ।

मंदिर निर्माण

शुङ्ग कालीन स्तूप तथा वेदिका पर अंकित लेख उसी भावना को पुष्टि करते हैं । वेस नगर स्तम्भ लेख मे हेलियोडोरस द्वारा स्तम्भ निर्माण भी उसी भावना का द्योतक है—देव देवस वासुदेवस गरुध्वजे कारिते ।

ईसवो पूर्व लेखो मे चैत्य तथा गुहा निर्माण का विस्तृत विवरण नही मिलता परन्तु "अयं कारितं" वाक्य से निर्माण कार्य का अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ—अरहतं पसादाय कलिगानं समनानं लेनं कारितं (कलिगदेश के जैन साधुओ के लिए गुहा बनाया—मचपुरी गुहा लेख) बौद्धलेखों मे भी अनेक उल्लेख आते हैं। गुप्त कालीन अभिलेखो में मन्दिर निर्माण तथा संस्कार का विवरण उपलब्ध है—

श्रेणी भूतैर्भवनमतुल कारितदीप्त रश्मे

(प्रथमकुमार गुप्त का मंदसोर लेख)

खण्ड स्फुट्ट प्रति सस्कार करणाय (गुणैधर लेख)

गुप्त युग में पाचरात्र संहिता मे क्रिया तथा चर्या पर अधिक बल दिया गया था जिस कारण धार्मिक कार्य दो विभिन्न मार्गो से प्रवाहित हुए (पूजा तथा निर्माण कार्य)। दान के व्यय का तीसरा मार्ग सत्र था जहा नि शुल्क भोजन वितरित किया जाना था।

(१) मन्दिर का निर्माण या सस्कार
(२) देव पूजा तथा तत्सम्बन्धी दान।
(३) सत्र (प्रशस्तियो मे उल्लिखित)

मध्य कालीन अभिलेखो मे उपरिलिखित सभी कार्यों का उल्लेख मिलता है। गहडवाल नरेश के कमौली प्रशस्ति मे आदि केशव के मन्दिर निर्माण का वर्णन है (ए इ ४ व ८)। गुर्जर प्रतिहार राजा भोज ने विष्णु का मन्दिर तैयार किया था तथा उससे पूर्व वाउक ने सिद्धेश्वर महादेव का मन्दिर निर्मित किया था।

राजा तेन स्वदेविना यश पुण्याभि वृद्धये
अन्त पुर-पुरं नाम्ना व्यधापि नरकद्वीप

(ए. इ १८ पृ ११०)

सिद्धेश्वरो महादेव कारितस्तुङ्ग मन्दिर

(वही १८ पृ १६)

परमार वशी राजा चामुण्डराज के अभिलेख शिव मन्दिर के निर्माण का उल्लेख करते हैं (ए इ. १४ पृ. २९८)। चन्देल प्रशस्तियो मे भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है (नीलकण्ठा धिवास)।

प्रासादो वैष्वस्तेन निर्मितोन्तर्व्वहन्हरिम्

(ए. इ १ पृ. १२१ व १२८)

ऐसे अनेक उल्लेख खजुराहो की प्रशस्ति में मिलते है। एक उदाहरण देखिए

(ए इ १ पृ. १२९)

ते नैतच्चारू चामीकर कलसलस द्वयोम धाम व्यधायि
भ्राजिष्णु प्राशुवंशध्वज पटला दोलिता भोज वृदम्
दैत्यारातेस्तुषार क्षितिधर शिखर स्पर्द्धिविष्णु रागा
दृष्टे यात्रा सु यत्र त्रिदिववसतयो विस्मयन्त्ते समेता.।

कलचुरी लेखों मे ऐसे उदाहरण है जिनसे प्रकट होता है कि शासकों ने विभिन्न स्थानों पर शिव मन्दिर का निर्माण किया था (ए० इ० २६ पृ० २६२-९) ।

(अ) सुधाशु धवल तत्र धूर्जटे धाम निर्मितम्

(ब) प्रकाशितु तादृशमेव कारितं विभोरिदं धाम हरे. सनातनम् ।

इलौरा के कैलाशनाथ गुहा मन्दिर का निर्माण राष्ट्रकूट राजा तृतीय कृष्णराज ने किया था तथा लेख से उसका स्पष्टीकरण हो जाता है। बंगाल की प्रशस्तियो में पाल तथा सेन शासको द्वारा मन्दिर निर्माण का वर्णन अनेक स्थलो पर मिलता है। धर्मपाल ने नर-नारायण का मन्दिर तैयार कर चार ग्राम दान मे दिया था (ए० इ० ४ पृ० २५०) । नारायणपाल ने अत्युक्ति पूर्ण उल्लेख किया है कि सहस्र शिव मन्दिरो का निर्माण उसके हाथो किया गया— महाराजाधिराज श्री नारायणपाल देवेन स्वय कारित सहस्रायतनस्य (भागलपुर लेख–इ० ए० १५) सेन नरेश विजयसेन ने प्रद्युम्नेश्वर का विशाल शिव मन्दिर तैयार कराया।

स प्रद्युम्नेश्वरस्य व्यधित वसुमती वासव सौध मुच्चै

(ए० इ० १ पृ० ३१०)

१२ वी सदी तक बगाल मे वैष्णव मन्दिरो के निर्माण का पता चलता है (ए० इ० १३ पृ० २५)। इस तरह अभिलेखो का अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि पुण्य तथा यश की भावना और धार्मिक विचार मे प्रेरित होकर राजा तथा जनता मन्दिरो का निर्माण करती रही।

नवीन मन्दिर के अतिरिक्त पुराने मन्दिरो का जीर्णोद्धार और सस्कार भी उसी तरह पुण्य का काम समझा जाता था। अभिलेखो मे "खन्ड स्फुट सस्कार" शब्दो का प्रयोग उस कार्य के लिए मिलता है। यदि मन्दिरो का इतिहास देखा जाय तो पता चलता है कि गुप्त युग मे मन्दिर कला का प्रारम्भ तथा विकास हुआ। इसलिए उसी युग से देवालय के संस्कार का भी प्रश्न सम्मुख आता है। गुणैधर तथा दामोदरपुर ताम्रपत्रो मे "खन्ड स्फुट प्रति सस्कार करणाय" (इ० हि० क्वा० ६ पृ० ५३) तथा श्वेत वराह स्वामिनो देवकुले खन्ड स्फुट प्रति संस्कार करणाय (ए० इ० १५ पृ० १४२) का उल्लेख है। वैग्राम (५ वी सदी) तथा खोह ताम्रपत्रो मे भी एक समान (खन्ड स्फुट सस्कारार्थ) वर्णन आता है (ए० इ० २१ पृ० ८१ तथा का० इ० इ० ३ पृ० ११४) ।

सस्कार

७वी सदी के पश्चात् प्रशस्तियो मे संस्कार का अधिक वर्णन है जिसमे जनता के धार्मिक कृत्य का अनुमान लगाया जाता है। राजपूताने के लेखो मे ऐसे विवरण मे भरे पडे हैं। साधारणतया दान मे इस बात का उल्लेख किया जाता था कि पूजा-व्यय के अतिरिक्त मन्दिर के सस्कार मे शेष द्रव्य व्यय किया जाय। इसलिए मन्दिर प्रबन्ध समिति को यह कार्य सुपुर्द कर दिया जाता था। गुप्त युग के अधिकतर लेखो मे ऐसा वर्णन है। छठी सदी के पश्चात् लेख भी ऐसा विवरण उपस्थित करते है—ऐतेषा स्थावराणा भाटकं यत्समुत्पद्यते ते तत्सर्व गोष्ठिभि कुंकुम धूप पुष्प दीपक ध्वजा धवलापत्र खन्ड स्फुटित समरचनादिपु धर्मोपयोग्यं कर्त्तव्यम् (ए० इ० १९ पृ० ६२) ११वी तथा १२वी सदी के लेखो मे मन्दिरो के नष्ट किए जाने के कारण अधिक विवरण मिलते है। सम्भवत. इस्लाम के उत्थान तथा विस्तार के कारण

राजपुताने मे मन्दिरो की क्षति हुई और शासको ने उनका संस्कार किया। परमार वंश की रानी ने मन्दिर सस्कार के लिए पर्याप्त धन दान किया। (ए० इ० ९ पृ० १३)।

नए मन्दिरो के निर्माण के साथ-साथ देव पूजा के लिए दान देना आवश्यक था, अतएव अभिलेखो मे पूजा के प्रकार तथा विभिन्न सामग्रियो के नाम मिलते है। अभिलेख के आरम्भ मे मन्त्रो के उल्लेख से शिव, विष्णु या बुद्ध की उपासना का ज्ञान होता है। "ओ नमो भगवते वासुदेवाय", "ओ नमो शिवाय" अथवा "नमो बुद्धाय" आदि मत्र मिलते है। लेखो में अनुलेपन, पुष्प, धूप दीप तथा नैवेद्य आदि सामग्रियो की आवश्यकता पूजा के लिए बतलाई गई है। देवता को त्रिकाल स्नान (ए० इ० २५ पृ० ६ भा० ३ पृ० २६६) कराया जाता तथा जल, घी, दही, दूध (पचामृत) का प्रयोग इस कार्य के लिए होता था (दधि क्षीर घृत स्नपन गंध धूप दीप पुष्पार्चन—ए० इ० १३ पृ० ११६) तत्पश्चात् चन्दन, कर्पूर, कुकुम पुष्प धूपदीप नैवेद्य की आवश्यकता होती थी। चहमान लेखो मे इसे अगराग तथा अनुलेपन शब्दो से व्यक्त किया गया है (का० इ० इ० भा० ४ पृ० १५०, भा० ३ पृ० २६४, ए० इ० भा० २१ पृ० ११७, इ० ए० १४ पृ० १६०)।

देव पूजन

देवस्यवलेपन समार्जनाङ्ग राग धूप दीप नैवेद्यार्थ

(ए० इ० १ पृ० १७३)

अगभोगे अगरु कर्पुर कुकुम (ए० इ० ११ पृ० ५७)

चहमान लेख मे नैवेद्य के सम्बन्ध मे विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। नैवेद्य, घी, आटा, मूग तथा चावल पका कर तैयार किया जाता था।

गोधूम शे २ पक्के घृत क ८ नैवेद्य मूग मा १ चाषा २ (ए० इ० ११ पृ० ५५) आटा २ सेई घी ८ कलस मूँग १ मनि चावल २ पायली माप के बराबर नैवेद्य के लिए प्रयोग मे आता था। पाल तथा कलचुरी लेखो मे नैवेद्य के साथ वलिचरु का उल्लेख आया है जो सम्भवत अगराग तथा अनुलोप से तात्पर्य रखता था (ए० इ० १ पृ० १७३, भा० ११ पृ० १९३)। अन्य लेखो के अध्ययन से पता चलता है कि पुष्प गध धूप दोप नैवेद्य को जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बी भी प्रयोग करने लगे थे। चहमान लेख मे निम्न वर्णन आता है—

नेमिनाथ देवस्य धूप नैवेद्य पूजा (ए० इ० ११ पृ० ३५)। पहाडपुर लेख मे 'विहारे भगवतामर्हता गन्ध धूप सुमनो दीपाद्यार्थम् (ए० इ० २० पृ० ६१) तथा वैन्यगुप्त के लेख मे "भगवतो बुद्धस्य सतत त्रिकाल गन्ध पुष्प दीप धूपादि प्रवर्तनाय" (इ० हि० क्वा० ६ पृ० ५३) आदि वाक्यो के उल्लेख से पता चलता है कि बुद्ध भगवान् के पूजा मे ब्राह्मण देवता सदृश अगराग का प्रयोग होने लगा था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण रीति का प्रभाव जैन तथा बौद्धमतो पर हो गया था तथा देवपूजन की विधि मे एकरूपता आ गई थी।

उत्तर-गुप्त-युग की प्रशास्तियो मे एक विशेष सस्था का उल्लेख मिलता है जिसे सत्र कहते थे। इस स्थान पर विद्यार्थियो, साधुओ तथा निर्धन व्यक्तियो को बिना मूल्य भोजन वितरण किया जाता था। दान पत्रो मे सत्र का उल्लेख विभिन्न रूप मे पाया जाता है। धर्मसत्र, सत्र तथा अन्नसत्र। उससे यह प्रकट होता है कि मन्दिर तथा बिहार से सम्बद्ध ही सत्र का प्रबन्ध

सत्र की स्थापना

था। प्रासादाग्रभिरूपं गुणवर भवनं धर्मसत्रं यथावत्—(प्रथमकुमार गुप्त का भिलमद लेख)। ११ वी सदी के लेखो में सत्र निर्माण का स्पष्ट वर्णन है—भक्तशाला क्षुधार्थाना महादेवस्य सनिधौ—बल्लभदेव की प्रशस्ति (ए० इ० भा० ५ पृ० १८१, ए० इ० भा० १३ पृ० २८५) ९ वी सदी से १२ वी सदी तक के अभिलेखो मे सत्र, वलि तथा चरु शब्दो के साथ प्रयुक्त है जिसका तात्पर्य यह है कि दान की सम्पत्ति पूजा, अर्चा तथा भोजन वितरण के लिए व्यय की जाती थी (बलिचरु नैवेद्य सत्रोपकरण हेतो पृथग्दत्त —ए० इ० भा० ११ पृ० १९३) उसी स्थान पर वर्णन है कि सत्र के व्यय निमित्त दान का एक भाग निश्चित कर दिया था (एसा भागास्त्रय सत्रे खण्ड स्फुटित सस्कृतौ—कलचुरि प्रशस्ति)। विपुल श्री मित्र के नालंदा लेख में सत्र के लिए दान का वर्णन है—

(सत्रेषु पर्व्वणि समर्थ्यस्मि ए० इ० २१ पृ० ९९)

कलचुरि प्रशस्ति मे सत्र मे स्वादिष्ट भोजन वितरण करने की चर्चा है (मिष्ठान्न पान सम्पन्ना सर्व सत्री—वही पृ० १६५)। प्रतिहार लेख (ए० इ० १४ पृ० १७७) तथा चहमान प्रशस्ति में भी वैसा ही वर्णन है (सतत मुचित वृत्ति कल्पयित्वान्न सत्रम्—ए० इ० १३ पृ० २९०) मध्ययुग मे सत्र की स्थापना से भिक्षा वृत्ति को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया था। आज भी वाराणसी में छत्र (सत्र का विकृत रूप) मे सैकडो व्यक्तियों को भोजन बाटा जाता है।

धार्मिक कार्य का वर्णन समाप्त करने से पूर्व मन्दिरो की प्रबंध समिति के विषय मे दो शब्द कहना आवश्यक है। समिति के लिए लेखोमे 'गोष्ठी' तथा सदस्य के लिए 'गोष्ठिक' शब्द प्रयुक्त है (ए० इ० भा० १ पृ० २९२, भा० १९ पृ ५६)

गोष्ठी या प्रबंध-समिति

गोष्ठिक समुदाय समन्वितेन गोष्ठिक सारा कार्या (ए० इ० ११ पृ ५४)
चहमान लेखो मे सारा प्रबन्ध गोष्ठिक द्वारा करने का वर्णन आता है—
ऐते च भागा यथोदिष्ट स्थित्वा गोष्ठिकै कल्पयितव्या (ए० इ० १ पृ० १८८)

उनके सदस्यता के सम्बन्ध मे विशेष कहा नही जा सकता पर मथुरा लेख में उल्लिखित नामो से पता चलता है कि स्यात् ११ व्यक्तियो की समिति होती थी (ए० इ० ११ पृ० २९२)। मेवाड के लेख म गोष्ठी के हूण सदस्य का नाम आता है (इ० ए० ५८ पृ० १६१)। इससे पता चलता है कि समाज मे प्रतिष्ठित व्यक्तियो को गोष्ठी का सदस्य (गोष्ठिक) बनाया जाता था। आर्य सस्कृति के पालक व्यक्तियों को उसमे सम्मिलित किया जाता था। वह मन्दिर के समस्त सम्पत्ति (भूमि तथा धन) का मालिक बन बैठा। मध्ययुग से वही मठाधीश कहलाया। जो वर्तमान समय तक धार्मिक सम्पत्ति का स्वामी है। मठाधीश तो अकेले सारा प्रबन्ध करता था। प्रतिहार के राजा महेन्द्रपाल के लेख मे एक सन्यासी के हाथो दुर्गा तथा सूर्य मन्दिरो के सम्बन्ध का विवरण उपलब्ध है (ए० इ० १४ पृ० १७७)। उसी तरह पाशुपत साधु भी प्रबन्धक हो गये थे। परमार भोज के विलेश्वर ताम्रपत्र मे भी ऐसी ही चर्चा मिलती है (ओ० का० प्रो० पूना पृ० ३१९)। साराश यह है कि मन्दिर निर्माण के बाद देवपूजन का कार्य तथा दान प्रबन्ध-समिति या किसी व्यक्ति (पुजारी या प्रधान साधु) द्वारा सम्पन्न होने लगा।

अभिलेखों का वर्गीकरण करते समय यह कहा जा चुका है कि अधिक संख्या दानपत्रों की हैं। यों तो दान की महिमा पुराणों मे वर्णित है परन्तु स्मृतियो में इसका विशेष वर्णन है। इस प्रकारके दान का विवरण विष्णु तथा याज्ञवल्क स्मृतियों में भी उपलब्ध है। उसे (दानपत्र) राजशासन की सज्ञा दी गई है। स्मृतिकारों ने ताम्रपत्र पर राजशासन उत्कीर्ण करने का विधान किया है तथा राजमुद्रा से उसे प्रमाणित करने की चर्चा की है। मध्य युगी निबंध ग्रंथ 'कृत्यकल्पतरु' में लक्ष्मीधर ने विष्णु स्मृति से उद्धरण उपस्थित किया है।

दान का उद्देश्य तथा प्रकार

"ताम्रपट्टे पटे वापि प्रालिखेद् राजशासनम्
स्थानं वशानुपूर्वि च देश ग्रामं उपागतम्।

मिताक्षरा में भी विज्ञानेश्वर ने इस प्रकार राजशासन की बातें उल्लिखित की हैं। वृहस्पति ने निम्न रूप मे प्रकाश डाला है।

यत्किंचित कुरुते पाप पुरुषो वृत्तिकर्षित
अपि गोचर्म मात्रेण भूमि दानेन शुध्यति।
स नर सर्वदा भूपः यो ददाति वसुन्धराम्
भूमिदानस्य पुण्येन फलं स्वर्ग परंदर।

इस प्रकार विभिन्न धार्मिक कार्यो मे भूमिदान को अधिक महत्व दिया गया। राजा से प्रजा तक सभी ने पुण्य लाभ तथा स्वर्ग कामना से प्रेरित होकर भूमिदान को श्रेष्ठ समझा। अत्रि का कथन था "शूलपाणिस्तु भगवानभिनन्दन्ति भूमिदम् (सहि० ३३७) पृथ्वी दान करने वाले को भगवान् भी अभिनन्दन करते हैं। इन सभी कारणो से दान की ओर जनता का ध्यान रहा है। अशोक ने धर्म शासन में इस पर जोर दिया।

ब्राह्मण स्रमणाना साधुदानं (शि० ले० ११)
प्रव्रजितनि ग्रहथनिच पूजेति दनेन (शि० ले० १२)
वहुकयाने दयादाने (स्तम्भ ले० २)

बौद्ध युग मे विहार दान की ओर शासक का विशेष ध्यान था तथा ग्रामदान भिक्षुओ के भोजन आदि कार्यों के व्यय निमित्त दिया जाता था। अतएव 'गामे दतानि' का उल्लेख नासिक लेख में किया गया है। इसी प्रकार ब्राह्मण भोजन के निमित्त भी दान दिए जाते थे।

ब्राह्मणेभ्य. षोडश ग्रामदेन अनुवर्ष ब्राह्मण शतसाहस्रो भोजापयित्रा
(नासिक लेख ए० इ० ८ पृ० ७८)

सातवाहन लेख मे यज्ञ की दक्षिणा में ग्रामदान देने का वर्णन है [नानाघाट लेख]

पूर्व मध्ययुग के लेखो में ग्रामदान को तुलापुरुष-दान की दक्षिणा स्वरूप माना गया है। गहडवाल तथा सेन अभिलेखों मे अधिकतर इस प्रकार की दक्षिणा का विवरण उपलब्ध हैं (महादान दक्षिणा-ए० इ० १४ पृ० १५८)। गोविन्द चन्द्रदेव (गहडवाल नरेश) ने ३२ ग्राम दक्षिणा के रूप में दिया था (कनक तुलापुरुष दान होम कर्मण दक्षिणा–ए० इ० १४ पृ० १९७) सेन राजा वल्लालसेन तथा लक्ष्मणसेन ने महादान की दक्षिणा में अग्रहार दिया था (ए० इ० मा० १२ पृ० १०, १५ पृ० २८४)। गुप्त युग में देवकार्य के लिए दान का

विवरण प्रशस्तियो मे मिलता है। स्कन्द गुप्त के बिहार स्तम्भ लेख में ग्राम दान का उल्लेख है (अक्षय नीवि ग्राम क्षेत्रं—का० इ० इ० ३ पृ० ४९)। दामोदरपुर के ताम्रपत्रों में भूमि बेच कर मन्दिर के लिए दान करने का वर्णन है (ए इ०भा० १५)। दक्षिण भारत के लेख इसी प्रकार का विवरण उपस्थित करते है। कहने का तात्पर्य यह है कि दान का उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति ही थी जिसे प्राय' सभी लेखो के अन्त मे अंकित पाते हैं।

भूमि य: प्रतिगृह्णाति यस्यभूमि प्रयच्छति
उभौ तौ पुण्यकर्मणौ नियते स्वर्ग गामिनौ।

भूमि दान करने की घोषणा शासक करता था और समस्त प्रदाधिकारियो को इसकी सूचना देता था। इसी कारण प्रशस्तियो मे कर्मचारियों की लम्बी सूची मिलती है (ए०इ०भा० ४, १४, १८)। दान देने वाली भूमि की सीमा निश्चित कर दी जाती तथा दानग्राही को सारा कानूनी अधिकार भी मिल जाता था। परमार, गहडवाल तथा पाल वशी लेखो मे इस प्रकार का वर्णन है (ए० इ० भा० १८ पृ० ३२०, भा १४ पृ० १५ पृ० २९९)।

"सहिरण्य भाग भोगकर सोपरिकर सर्वादाय समेत सनिधि निक्षेप" का उल्लेख यह स्पष्ट कर देता है कि राजा के सदृश 'कर ग्रहण करने तथा खान खोदने का अधिकारी दानग्राही हो था (ए० इ० ९ पृ० ११२ भा० ७ पृ० १०६) उडीसा के एक लेख मे इसका अपवाद पकट होता है उस लेख मे 'कर शासन' का उल्लेख किया गया है जिसका 'तात्पर्य है कि दानग्राही शासक को भूमिकर (लगान) देता था। वहाँ दस पल तौल मे चाँदी 'कर' के रूप मे ली जाती थी (ए० इ० २९ पृ० १६७)। प्राय शासक अपने अधिकार को भूमि को ही दान मे दिया करता था। किन्तु विग्रहपाल के बंनगाँव ताम्रपत्र के अत मे सामत के जागीर-दान का उल्लेख है यानी भूमि सामंत ने दान दी। राजा का उस पर स्वामित्व न था।

स्मृति ग्रन्थो मे जिस रूप मे दान का विधान उल्लिखित है, वैसा ही प्रशस्तियो मे वर्णित है। स्थान के सम्बन्ध मे तीर्थ ही सर्वोत्तम समझा गया है और इसी कारण देवपाल के मुँगेर ताम्रपत्र मे 'तीर्थेपुधर्म्या' क्रिया' (ए० इ० १८ पृ० ३०५) वाक्य का उल्लेख है। गहडवाल लेख मे काशी, प्रयाग, अयोध्या आदि तीर्थों के नाम मिलते हैं। श्रीमद् वाराणस्या गगाया स्नात्वा (ए० इ० ४, भा० ८ पृ० १५४) तथा स्वर्गद्वार नाम्नि तीर्थे स्नात्वा (ए० इ० १४ पृ० १९३) का उल्लेख यह बतलाता है कि तीर्थों मे स्नानकर एवं देवपूजा समाप्त कर दान दिया जाता है।

देश काल पात्र

काल के सम्बन्ध मे मध्यकालीन अभिलेखो का उल्लेख विशेष महत्व रखता है। यो तो कुछ सामाजिक सस्कार नामकरण (इ० ए० १८ पृ० १३०) या श्राद्ध (इ० ए० १९ पृ० ३५१, भा० ४ पृ० १०३, भा० २ पृ० ३१०) के नाम आते हैं जिस अवसर पर शासक दान देता था परन्तु अधिकतर पुण्य तिथियो म ही दान देना यश तथा पुण्य लाभ का मार्ग समझते थे। सूर्य ग्रहण (राहु ग्रस्ते दिवाकर—ए० इ० ४ पृ० १५८, भा० २१ पृ० २१९) का उल्लेख गहडवाल, परमार तथा कलचुरी (सूर्योपरागे—ए० इ० ९ पृ० १६९) प्रशस्तियो मे तथा चन्द्रग्रहण (सोमग्रहण या सोमग्रहण पर्वणि) का नाम चन्देल लेखो मे आता

हैं (इ० ए० १६ पृ० २०१)। दूसरा अवसर संक्रान्ति का था जिसे लेखो में अयन (उत्तरायन, दक्षिणायन) शब्द से व्यक्त किया गया है (ए० इ० ७ पृ० १५८, इ० ए० १८ पृ० ११)। कलचुरी प्रशस्तियो में चन्द्रग्रहण के अवसर पर दान का विशेष वर्णन (का० इ० इ० ४ पृ० २३८), संक्रान्तियो मे कर्क, मकर, कन्या, मीन, वैष्णव-संक्रान्ति के नाम अधिक मिलते हैं (इ० ए० १८ पृ० ३३, ए० इ० ४ पृ० १३१, भा० १४ पृ० १८६, भा० २९ पृ० ७)। छोटे पर्वों पर भी दान देने का उल्लेख है। उस प्रसंग मे अक्षय तृतीया, माघी पूर्णिमा (ए० इ० ४ पृ० १०७, भा० ८ पृ० १५२) श्रावण पूर्णिमा (ए० इ० ४ पृ० ११०), कार्तिक पूर्णिमा (ए० इ० २६ पृ० ७२), रामनवमी (ए० इ० १४ पृ० १८८) तथा जन्माष्टमी (ए० इ० ४ पृ० ११८) के नाम भी उल्लेखनीय है। देवोत्थान अथवा प्रबोधिनी एकादशी (कार्तिक शुक्ल ११) का नाम भी लेखो मे उपलब्ध हैं (देवोत्थनी एकादश्या–इ० ए० ४३ पृ० १९३ तथा एकादसि देव उपस्थापनी पर्व्वणि–ए० इ० भा० १३ २११)। राजपुताने के लेखो मे अधिक श्रावण (आर्यमास) भी उल्लिखित हैं (इ० ए० १८ पृ० २१२; आ० रि० ग्वालियर १९३०-३१ पृ० ११)। इन तिथियो को पुण्यकाल समझ कर दान दिए जाते थे।

दान के पात्र के सम्बन्ध मे भी दो शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है। ताम्रपत्रो का अध्ययन यह प्रकट करता है कि अत्यन्त प्राचीन समय से ही किसी संस्था को दान देने का अधिक महत्व था। मौर्य युग तथा उसके बाद भी सघ के विहार या गुहा के दान दिया जाता था। सातवाहन लेख तथा गुप्त युग के अभिलेख संस्था के दान का उल्लेख करते है। ६०० ई० के बाद दान के दो पात्र दिखलाई पडते हैं (१) विद्वान् तथा (२) संस्थाएं। पहला विद्वान् व्यक्ति जो ऊची शिक्षा समाप्त कर अध्यापन कार्य करता हो। इस प्रसग मे अधिकतर ब्राह्मणो के नाम वैदिक शाखा के साथ या वेदाग के अध्यापक के रूप मे मिलता है। कलहा ताम्रपत्र (गोरखपुर उत्तर प्रदेश) मे ऐसे ही ब्राह्मण दानग्राही के नाम आते है जो छान्दोग्य वाजसनेय, माध्यन्दिन शाखा के विद्वान् थे। मध्यप्रदेश के कलचुरी प्रशस्तियो में आश्वलायन, शाखायन, कठ शाखा के अध्ययन करने वाले ब्राह्मणों का उल्लेख है (ए० इ० भा० ७ पृ० ८७; ९ पृ० ११६) मालवा के लेख मे आश्वलायन तथा कौथुम शाखाओ वाले ब्राह्मणो का वर्णन मिलता है। राजा भोज के दौलतपुर ताम्रपत्र तथा गहडवाल नरेश गोविन्द चन्द को प्रशस्ति मे उन सभी शाखा के पढने वाले विद्वान् ब्राह्मणो के नाम मिलते है जिन्हे शासक ने भूमिदान किया था (ए० इ० ५ पृ० ११२, भा० ८ पृ० १५४) जयचन्द्र के लेख मे 'यजुर्वेद शाखिने' ब्राह्मण का विवरण है (ए० इ० ४ पृ० १२१)। इसी प्रकार बंगाल के पाल राजा देवपाल के लेख मे "ऋग्वेद शाखिने" उल्लिखित है और वह दानग्राही ब्राह्मण आश्वलायन शाखा का विद्यार्थी कहा गया है (इ० ए० २१ पृ० २५५)। विग्रहपाल के दानग्राही अर्कदेव शर्मन सामवेदिन कहा गया है (ए० इ० १५ पृ० २९५)। सेन शासको के समय मे चारो वेदो के विभिन्न शाखाओ के अध्ययन करने वाले ब्राह्मण को दान देने की परिपाटी थी। वैरकपुर लेख तथा नईहटी ताम्रपत्र में ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा, साम की कौथुम शाखा, यजुर्वेद को काण्व शाखा तथा पिप्पलाद शाखा (अथर्ववेद) के नाम उल्लिखित हैं। इन शाखाध्यायिनें ब्राह्मणो को दान दिए गए थे। (ए० इ० १५ पृ० २८४, भा० १४ पृ० १५६; भा० २२ प० ६ इ० हि० क्वा० ३ पृ० ८९, ज० ए० सो० वं० १९०० पृ० ४६७) इस तरह

पता चलता है कि वल्लालसेन तथा लक्ष्मणसेन ने विद्वान् ब्राह्मणों को ही दान दिया था। ऐसा वर्णन भारतवर्ष के प्रत्येक प्रदेश की प्रशस्तियो मे मिलता है। 'शाखाध्यायिने' लिखकर दान देने वालो ने इस बात पर जोर दिया है कि ऊंची श्रेणी के विद्वान् ही दान के वास्तविक पात्र थे (ए० इ० ११ पृ० १९२)। इसका तात्पर्य यह नही था कि वेदाध्ययन करने वाले ही दान के पात्र थे परन्तु वेदाग, (ए० इ० २ पृ० ३३६) या षड्दर्शन (ए० इ० ११ पृ० ३११) के पढने वाले भी दानग्राही होते थे। पाल वशी लेख में तो रानी को महाभारत सुनाने वाले विद्वान् को दान देने की चर्चा है (ज० ए० सो० ब० ६९ पृ ६७)।

विद्वान् व्यक्तियो के अतिरिक्त मध्य युग मे बडी सस्थाओ को भी दान देने की प्रथा थी। पाल नरेशो ने विक्रमशीला तथा नालदा महाविहारो को सब प्रकार की सहायता की थी। गहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी का लेख (ए० इ० ९ पृ० ३२१) तथा देवपाल का ताम्रपत्र (ए० इ० १७ पृ० ३१०) इसके प्रमाण हैं कि बौद्ध सस्थाओ को आर्थिक सहायता दी गई। नालंदा महाविहार की तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति थी। यशोवर्मदेव के शिलालेख मे वहा के विद्वानो की प्रशसा निम्न पंक्तियो मे मिलती है—

नालंदा हसतीव नगरी शुभाभ्र गौर स्फुर
च्चैत्याशु प्रकरोस्सदागमकला विख्यात विद्वज्जना। (ए० इ० २० पृ० ४३)

इसकी ख्याति समुद्रपार पूर्वी द्वीप समूह मे पहुंच चुकी थी तथा जावा के राजा बालपुत्रदेव ने नालन्दा में विहार बनवाया (नाना सद्गुण भिक्षु संघ वसति तस्या विहार कृतः) और पाल नरेश देवपाल ने श्रीनगर भुक्ति मे स्थित पाँच ग्राम दान मे दिया था (ए० इ० १७ पृ० ३२२)। नालंदा शिलालेख मे वर्णन मिलता है कि दान की आय से भिक्षुओ के भोजन, वस्त्र, आसन तथा औषधि का भी प्रबन्ध किया गया था (ए० इ० २० पृ० ४४)। इस तरह संस्था को दान देकर शिक्षा की वृद्धि की जाती थी। इसी के सदृश दक्षिण भारत के चोलवशी लेख मे वर्णन है कि जावा के शासक विजयोतुग वर्मन ने नागपट्टन मे एक बिहार बनवाया जिसके प्रबन्ध-निमित्त चोल नरेश राजराजा राजकेसरी वर्मन (९८५–१०१३ ई०) ने ग्राम दान दिया था।

धर्म श्लोक

पाचवी सदी के पश्चात् लेखो के अत में कई श्लोक उल्लिखित मिलते है जिन्हें "धर्म-श्लोका" कहते हैं। गुप्त युग से पूर्व अभिलेखो मे अतिम स्थान पर किसी प्रकार के पद्य (श्लोक) का सदा अभाव दिखलाई पडता है। इनके लिखने का उद्देश्य यह था कि दान करने वालो को प्रशसा हो। उन्हें पुण्य तथा स्वर्ग लाभ की बातें सुनाई जायँ। दान-भूमि को किसी भी शासक का उत्तराधिकारी वापस न ले सके, अत. भय उत्पादक श्लोक भी लिखे जाते थे। साराश यह है कि अंतिम पद्यो मे पुण्य तथा श्राप के भावपूर्ण श्लोक अंकित हैं। लेखो मे जो श्लोक हैं उनके सम्बन्ध मे निम्न प्रकार का उल्लेख मिलता है—

(१) भूमिदान सम्बद्धा. श्लोका भवन्ति (ए० इ० १५ पृ० १४२)
(२) भवन्ति चात्र धर्मशास्त्राश्लोकानि अथवा
(३) भूमिदानापहरण प्रतिपाल गुण दोष व्यञ्जका आर्प श्लोका (ए० इ० २२ पृ० १५९)

पाचवी सदी के गुप्त लेखो मे तो इन श्लोको की सख्या तीन ही है परन्तु समयान्तर में सोलह की सख्या अभिलेखो मे पाई गई है (कलचुरी राजा यश कर्णदेव का ताम्रपत्र–ए० इ० १२ पृ० २०५ तथा चहमान प्रशस्ति—ए० इ० भा० ११ पृ० ३१२)।

इन श्लोको मे कोई मौलिकता नही है परन्तु ये पद्य स्मृति ग्रंथो से लिए गए हैं। अधिकतर लेखो मे व्यास का लिखा "व्यासेन उक्तम्" "उक्ते च भगवता वेद व्यासेन महात्मना" अथवा "वेद व्यासेन गीता श्लोका भवन्ति" पद्य कहे गये है (ए० इ० २१ पृ० ८२; भा० २० पृ० ६३, भा० १५ पृ० १३९, इ० हि० क्वा० ६ पृ० ६३)। यदि इन धर्म श्लोको का अध्ययन किया जाय तो प्रकट होता है कि कुछ वृहस्पति स्मृति (२६, २८, ३०, ३२, ३३ व ३९) से उद्धृत हैं। पद्मपुराण (उत्तर खण्ड ३३।३७) में इसी आशय का एक श्लोक पाया जाता है—

वापी कूप सहस्रेण अश्वमेघ शतेन वा
गवा कोटि प्रदानेन, भूमिहर्ता न शुध्यति

उनमे से निम्नलिखित तीन श्लोक लेखो मे बिना परिवर्तन के मिलते है यानी समस्त लेखो मे एक समान है (गुप्त, कलचुरी, गहडवाल, परमार, पाल तथा सेन आदि वंशी अभिलेख)

स्वदत्ता परदत्तां च यो हरेत वसुन्धरा
स विष्ठाया कृमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते।
बहुभि वसुधादत्ता राजभिस्सगरादिभि:
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलं
षष्टि वर्ष-सहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद:
आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदति।

इन श्लोको के मूल श्रोत का विषय विवादास्पद है। जैसा कहा गया है कि कुछ लेखों में इसे व्यास का कथन कहते है तो कुछ मे पौराणिक श्लोक (ए० इ० ४६ पृ० ९०) या 'तथा चोक्तं धर्म शास्त्रे' (ए० इ० ४ पृ० २५९) कह कर अनिश्चित छोड दिया गया है।

प्राचीन लेखो का अध्ययन स्पष्ट रूप से घोषित करता है कि भूमि दान अक्षयनीवि प्रणाली से दिया जाता था। उसकी पूर्णता के लिए दानपत्र (ताम्रपत्र लेख) को निगम सभा के कार्यालय मे निबंध कर (रजिस्ट्री) दानग्राही को समर्पित किया जाता था। नहपान के नासिक गुहालेख मे इस विषय का विवरण मिलता है। निबध की घोषणा की जाती थी जिसे निम्न प्रकार से उल्लिखित किया है—

एत च सर्व स्रावित निगम सभाय निबंध च फलकवारे (अक्षपटल)
चरित्रतोति। भूयोनेन दत्त वसे ४२ कार्तिक शुधे (सुदि) पनरस (१५)

दूसरी सदी के सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के नासिक गुहा लेख मे भी ऐसा (निबध-रजिस्ट्री) उल्लेख मिलता है—एते चस खेत परिहारे च एथ निबधापेहि (ए. इ भा ८) सम्भवत निबंध करने की प्रथा शक नरेशो ने आरम्भ की जिसका पालन सातवाहन करते रहे। इस कारण दानग्राही का उस भूमि पर सारा अधिकार हो जाता जिस पर शासक का

अग्रहार निबंध, बंधक तथा 'कर शासन'

स्वामित्व था। उस भूमि की आय को ही उपभोग करते थे और उस क्षेत्र को बेचने का अधिकार दान ग्राही को न था। नासिक के लेख में इस तरह का उल्लेख पाया जाता है।

(ऐते च काहापणा अपडिदातवा वधि भोजा)

समाज मे उसे पुण्य-क्षेत्र समझा जाता तथा दानग्राही के वंशज उसकी आय को ही व्यय करते थे। मध्य प्रदेश के कलचुरी नरेश त्रैलोक्य मल्लदेव (१२ वी सदी) के लेख मे दानभूमि को बधक रखने का विस्तृत विवरण उल्लिखित है तथा उसे "वित्त बंध" कहा गया है। शैव साधु शाति शिब द्वारा ऋण के धन का उल्लेख तो नही मिलता परन्तु बंधक का वर्णन मिलता है (इति वित्त वधनया किंचित्कार्य=ए० इ० भा० २५ पृ० ५)। गहडवाल लेख मे भी वर्णन आया है कि गोविन्दचन्द्र द्वारा कलचुरी भूभाग के विजय करने पर शिवाचार्य से हटाकर वशिष्ठ शर्मन को भूमि दी गई थी (ज० ए० सो० व० ३१ पृ० १२३)। इस तरह विशेष कारणवश अग्रहार को दानग्राही परिवार से पृथक किया जा सकता था अन्यथा दान की भूमि अक्षयनीवि नीति से अचल समझी जाती थी। दानग्राही ही उसका स्थायी स्वामी था।

उडीसा के एक लेख मे "कर-शासन" शब्द का विशेष ढग से प्रयोग किया गया है। इस दान पत्र मे अग्रहार भूमि पर भी 'कर' का उल्लेख है और दानग्राही को प्रतिवर्ष चादी दस पल 'कर' के रूप मे देना पडता था (ए० इ० २९ पृ० १६७)। इसका अर्थ यह नही हो सकता कि दान की भूमि पर राजा का अधिकार था किन्तु अन्य दान पत्रो की तरह भूमि का स्वामित्व ब्राह्मण को देने पर भी शासक 'वार्षिक कर' वसूल किया करता था। ऐसे कुछ ही उदाहरण सम्मुख आए है जहा अग्रहार को बधक रखने तथा दान भूमि पर 'कर' लगाने का वर्णन मिलता है।

षोडश महादान

पूर्व मध्ययुग की प्रशस्तियो मे भूमिदान के अतिरिक्त महादान का भी वर्णन आता है जिसका नाम (सोलह नाम) पुराणो मे मिलता है। मत्स्य (अध्याय २७४–२८९) अग्नि (अध्याय २१०) तथा लिंग (अध्याय २८) पुराणो मे निम्नलिखित सोलह नाम आते है—तुलापुरुष, हिरण्यगर्भ, ब्रह्माण्ड, कल्पवृक्ष, गोसहस्र, कामधेनु, हिरण्याश्व, हिरण्याश्वरथ, हेमहस्तिरथ, पंचलाङ्गल, धरा-दान, विश्वचक्र, कल्पलता, सप्तसागर, रत्नधेनु तथा महाभूतघट। परन्तु मध्युगी लेखो मे केवल चार महादान के नाम मिलते है—तुलापुरुष, गोसहस्र, हिरण्यश्व, हिरण्याश्वरथ। दूसरा नाम (गोसहस्र) गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख मे मिलता है—गो शतसहस्र प्रदायिन:। सप्तसागर की कल्पना साहित्य मे मिलती है। गुप्त युग मे द्वीपो से सम्बन्ध बढने लगा। विदेशी व्यापार से लौटकर धनी वणिक सवामन सोने का बना सप्त समुद्री रूपी सात कुण्डो का दान करता था। काशी या मथुरा मे जहा इस प्रकार का दान दिया जाता था वे जलाशय समुद्र-कूप कहे जाते है। नागार्जुनी लेख मे वीर पुरुषदत्त द्वारा इस महादान (हिरणकोटि गो सत सहस्र) को सम्पन्न करने का वर्णन मिलता है (ए० इ० २० पृ० १६ न० २)। छठी सदी में परिव्राजक राजा सक्षोभ ने भी 'गोसहस्र' नामक महादान सम्पन्न किया था (का० इ० इ० ३ पृ० ११४)। गहडवाल लेख भी यही बतलाते हैं। गहडवाल तथा सेन अभिलेखों मे इन

चारों महादान के वर्णन उपलब्ध है। तुलापुरुष में दानकर्त्ता को सोना या कीमती प्रस्तरों से तौला जाता और सारा धन ब्राह्मणों मे विभक्त कर दिया जाता था। गोविन्दचन्द्र के लेख मे—हेमात्म तुल्यमनिशं ददता द्विजेभ्यो उल्लिखित है (ए० इ० ४ पृ० ११८, भा० १३ पृ० २१८, भा० २ पृ० ३६२, इ० ए० १८ पृ० ११)। किन्तु अन्य प्रशस्तियो में तुलापुरुष महादान या कनक तुलापुरुष (इ० ए० १८ पृ० १३२, ए० इ० १५ पृ० २७८) का उल्लेख आता है। कलचुरी लेखो मे भी तुलापुरुष उसी अर्थ (महादान) मे प्रयुक्त किया गया है (ए० इ० २ पृ० ४–महादानस्तैस्तुलापुरुषादिभिः)। अतएव लेखों के आधार पर कहना उचित होगा कि महादान को परिपाटी उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, असम तथा बगाल में प्रचलित थी। सेन प्रशस्तियो मे राजा को सोने से तौलने का वर्णन मिलता है। विलासदेवी ने तुलापुरुष नामक महादान दिया (ए० इ० १४ पृ० १५७) और लक्ष्मणसेन ने उसे 'कनकतुलापुरुष महादान' के नाम से सम्बोधित किया है (ए० इ० १५ पृ० २८०) इस महादान का भी विशेष महत्व था और इसे भी तीर्थ मे पर्व के समय (सक्रान्ति आदि) ब्राह्मणो को दिया जाता था।

हेमाश्व (सोने का अश्व) तथा हेमाश्वरथ (सुवर्ण अश्व वाला रथ) का नाम सेन प्रशस्तियो मे आता है। वहा वर्णन है कि वल्लालसेन ने सोन का घोडा बनाकर ग्रहण के समय ब्राह्मण को दान किया था (सूर्योपरागे प्रदत्त हेमाश्व महादान–ए० इ० १४ पृ० १६१) तथा लक्ष्मणसेन ने सोने के घोडे वाला रथ दान किया था (ए० इ० भा० १२ पृ० १०)। तुलापुरुष के अतिरिक्त सोने का घोडा दान करने का क्या उद्देश्य था यह कहना कठिन है। अभिलेखो मे केवल ऐसे दान का विवरण उपलब्ध है किन्तु उस दान के वास्तविक उद्देश्य की चर्चा लेखो में नही मिलती।

दानपत्रो मे दान करने की शास्त्रीय विधि का विस्तृत विवरण है। दान का प्रमुख उद्देश्य तो स्वर्ग प्राप्ति की कामना थी। उसके विधान मे शास्त्रकारो ने निश्चित क्रम बतलाया है जिसे दान कर्त्ता को अंगीकार करना पड़ता था। दान की कार्य प्रणाली का विवरण लेखो मे स्मृतियो से भी अधिक विस्तृत रूप मे मिलता है। गहड़वाल लेखो में गंगा मे स्नान कर तर्पण करने का वर्णन है। भगवान् की आराधना कर दान कर्त्ता हाथ मे जल कुश लेकर स्वस्ति वाचन करता था। निम्नलिखित उद्धरण इस प्रश्न को स्पष्ट कर देते हैं।

दानविधि

(१) विधिवत् स्नात्वा देव मनुज मुनि भूत पितृ
गणास्तपयित्वा, वासुदेवस्य पूजा विधाय
कुशलता पूत करतलोदक पूर्वम् (इ० ए० १५ पृ० ८)

(२) पुण्य तीर्थोदकेन विधिवत् स्नात्वा देव मनुज
पितृन् संतर्प्य भास्कर पूजा पुर सर—
भवानी पतिमभ्यर्च हुतभुज हुत्वा राहुग्रस्ते
दिवाकरे नाना गोत्रेभ्योः नाना प्रवरेभ्यो नाना
नामेभ्यो ब्राह्मणेभ्य कुशलता पूतेन

हस्तोदकेन स्वस्ति वाचन पूर्वम् संकल्पित
भूम सम्बन्धे शासनी कृता प्रदता
(ए इ. ४ पृ. १५८)

राजपुताने के लेखो मे कुश लता के अतिरिक्त जल के साथ तिल अक्षत रखने का उल्लेख है (तिलाक्षत कुश प्रणयिनं दक्षिणा कर कृत्वा—ए. इ. २१ पृ. ३१०)। साधारणतया तिल का प्रयोग पितृ तर्पण के लिए किया जाता है (तिलोदकेन सतर्प्य—इ ए. १६), परन्तु चहमान प्रशस्ति मे तिलाक्षत के उल्लेख मे यह ज्ञात होता है कि सम्भवत: ग्रहण के समय (दान का काल) तिल तथा अक्षत दोनो का प्रयोग किया जाता हो। प्रशस्तियों मे 'कुशलता पूत' शब्दो का तात्पर्य ग्रथो के आधार पर समझ मे आता है। शंखलिखित (१३।१३) मे तिल तथा कुश को पूजा का आवश्यक अग माना है। तिल से पितृ प्रसन्न होते हैं। कुश मे त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का निवास माना गया है (गरुण पुराण प्रेतखण्ड २·२१)। इसीलिए जप, होम, तर्पण तथा दान मे कुश की अगूठी (पवित्री) बनाकर पहनते है (कुश पवित्र पाणिः जप कुर्यात्—शखस्मृति १२।४)। देवता-पूजन का कार्य दानकर्त्ता की भावना पर निर्भर था। वह वैष्णव होकर वासुदेव का या शैव होने पर शिव का अथवा सूर्य (भास्कर-पूजा) का पूजन करता था। इस प्रकार प्रशस्तियो मे जो विधि विधान है वह धर्मशास्त्र के आधार पर उल्लिखित हैं। स्थान-स्थान पर तो स्मृतियो से विस्तृत विवरण प्रशस्तियो मे ही पाया जाता है।

धार्मिक उत्सव, व्रत तथा तीर्थ

हिन्दु समाज मे इस बात की विशेषता है कि जनता श्रुति तथा स्मृति के आधार पर या विधान के अनुसार सदा धार्मिक उत्सव किया करती है। गृह कार्यों मे पच महायज्ञ का नाम आता है। (१) देव यज्ञ (२) पितृ यज्ञ (श्राद्ध) (३) भूत यज्ञ (वलि) (४) ब्रह्म यज्ञ (स्वाध्याय) (५) मनुष्य यज्ञ (अतिथि सत्कार)। गृहस्थ को इनसे पुण्य लाभ होता है। छठी सदी के एक लेख से प्रकट होता है पूर्वी भारत मे पचमहायज्ञ नित्य सम्पन्न किया जाता था (ए इ २३ पृ १५९)। गुर्जर लेख में अन्य रूप मे इसका वर्णन आता है—वलिचरु वैश्व देवग्नि होत्रतिथि पच (विम्हा) यज्ञादि—(ए इ. २३. पृ १५२)

व्रत के सम्बन्ध मे प्रशस्तियो मे अनेक स्थान पर उल्लेख है और उस पुण्य पर्व के अवसर पर दान दिए जाते थे। व्रत मे स्त्री-पुरुष पवित्र तथा सात्विक विचार से समाज मे देव पूजन करते थे। अधिकतर लेखो मे देवोस्थान एकादशी (कार्तिक शुक्ल ११) तथा हरिशयिनी (आषाढ शुक्ल ११) के नाम मिलते थे (ए इ. १३ पृ २११ भा ४—कमौली लेख)। रामनवमी (ए इ १४ पृ. १८८) तथा शिवरात्री (ए इ भा ११ पृ ३९) का भी उल्लेख आता हैं। जिस समय सर्व साधारण उपवास रखते तथा भगवान् राम तथा शिव का पूजन करते थे। चहमान नरेश ने शिवरात्री के उपलक्ष्य मे आज्ञा जारी किया था कि कोई व्यक्ति जीवहत्या नही कर सकता था (वही)। रथयात्रा का उत्सव भी मनाया जाता था। इस उत्सव के व्यय निमित्त शासक 'कर' लगता था जिसका विवरण लेखो में है। चहमान लेख में वर्णन है तथा राजाज्ञा का उल्लेख है कि देवयात्रा या रथयात्रा के अवसर पर उत्सव मनाने के लिए उत्तम

वस्त्राभूषण पहन कर लोग आवें तथा संगीत में भाग लें। यत्रदिने यत्रदेवे यात्रा भवति तत्रापर समस्तदेवाना सरक प्रमादा कुर्ले साजल्पै सुवस्त्रै वाद्य नृत्य गानादि विधिना यात्रा कर्तव्या (ए इ ११ पृ २८) मेवाड के लेख मे इसे 'पर्व यात्रा' कहा गया है तथा चार ग्राम व्यय के लिए दिए गए थे (ए. इ २ पृ १२४) देवताओ की यात्रा का अन्य धर्मों पर भी प्रभाव पडा और जैनियो ने शान्तिनाथ (तीर्थकर) की यात्रा आरम्भ की।

श्री शातिनाथ देवयात्रा निमित्तं—जवादानं

(ए इ ११ पृ. ५०)

तीर्थ यात्रा का महत्व भारतीय समाज मे बहुत प्राचीन काल से रहा है। अशोक ने उसे लेखो मे 'धर्मयात्रा' कहा है। उसने बोध गया (सम्बोधि) तथा लुम्बिनी (बुद्ध का जन्मस्थान) की यात्रा की थी (शिलालेख ८, रूम्मनदेई स्तम्भलेख) उस यात्रा के कारण अशोक ने भूमिकर आठवा भाग (छठा से घटाकर) कर दिया था। तीर्थ स्थानो पर दान का महत्व समझ कर ही ऋषभदत्त न काशा, नासिक, प्रभास (काठियावाड) तथा पुष्कर (अजमेर के समीप) तीर्थों में नाना प्रकार का दान दिया था। काशा मे सुवर्णदान, प्रभास तीर्थ मे ब्राह्मण कन्या के विवाह निमित्त धन दान (प्रभास पुन्य तीर्थे ब्राह्मणेभ्य अष्टभायो प्रदेन) नासिक (गोवर्धन) मे आरामगृह का दान किया था (ए० इ० ८ पृ० ७८)।

मध्ययुग के दानपत्रो में विभिन्न तीर्थों का भी उल्लेख मिलता है जहाँ शासक जाकर दान दिया करते थे। कलचुरी लेख मे प्रभास, गोकर्ण तथा गया के नाम मिलते है (ए० इ० २५ पृ० ३१७)। मध्यदेश मे गंगा या सरयू तीर पर तीर्थ स्थित थे अतएव गंगा के किनारे निवास कर शासक मोक्ष प्राप्ति की कामना करते थे। चेदि राजा गागेयदेव के प्रयाग तीर्थ पर गगा लाभ का उल्लेख मिलता है (ए० इ० २ पृ० ४)। अपसद के लेख मे भी आदित्यसेन के पूर्वज द्वारा प्रयाग में प्राण त्यागने का विवरण आता है (का० इ० इ० ३ न० ४२)। गहडवाल राजाओ ने काशी तीर्थ मे अधिक दान दिया था। गोविन्दचन्द्र के ताम्रपत्र आदि केशव मन्दिर के समीप कमौली मे (काशी के समीप) मिले है जिसके अध्ययन मे प्रकट होता है कि राजा काशी तीर्थ मे आकर दान देता रहा (श्रीमद् वाराणस्या गंगाया स्नात्वा— ए० इ० भा० ८ पृ० १५४)। जयचन्द्र का ध्यान काशी तीर्थ की ओर इतना अधिक था कि मुसलमान लेखको ने उसे काशी का राजा कहा है (इलियट-भारतका इतिहास भा० २ पृ० २२३, २५०)। उसके पूर्वज चन्द्रदेव को काशी कुशिक, कन्नौज, अयोध्या तथा इन्द्रप्रस्थ तीर्थों का रक्षक कहा गया है (ए० इ० २६ पृ० ७२)।

तीर्थानि काशी कुशिकोत्तर कोसल
इन्द्रप्रस्थायकानि परिपालयन्ताधिगम्य

(ए० इ० ११ पृ० २३)

अयोध्या नामक तीर्थ, काशी तथा प्रयाग की श्रेणी मे माना गया है और उसे स्वर्ग का द्वार कहा गया है (ए० इ० १४ पृ० १९३, इ० ए० १५ पृ० ६)। राजपुताने मे पुष्कर तीर्थ अधिक प्रसिद्ध था जिसका वर्णन ऋषभदत्त ने नासिक लेख में भी है (प्रभासे पुन्य तीर्थे—ए० इ० ८ पृ० ७८)। मध्ययुग मे सिंहराज ने पुष्कर तीर्थ मे चार ग्राम दान में दिया

था। तत्कालीन अन्य प्रशस्तियो मे भी इसका नाम उल्लिखित है (ग्राम चतुर —श्री पुष्कर तीर्थे स्नात्वा—ए० इ० २ पृ० १२९, भा० ९ पृ० ३०४, इ० ए० भा० १८ पृ० ११)। सब से विचित्र घटना पाल वश के राजा धर्मपाल के समय की है। वह परम सौगत था और बौद्ध धर्मावलम्बी होकर भी उसने हिन्दू तीर्थों की यात्रा की। वज्रयान तथा तंत्र-यान का केन्द्र बगाल में तीर्थ यात्रा की भावना आश्चर्य चकित करती है खालीमपुर, नालदा तथा मुगेर ताम्रपत्रो मे निम्न पक्तियो मे तीर्थ का विवरण मिलता है—

केदारे विधि नोप युक्त पयसा गगासमेताम्बुधौ
गोकर्णादिपु चाप्यनुष्ठितवता तीर्थेषु धर्म्या क्रिया

इससे पता चलता है कि धर्मपाल केदार, गंगासागर तथा गोकर्ण तीर्थों मे यात्रा करने गया था। केदार यानी हिमालय मे स्थित केदार नाथ, गगासागर (गगा का समुद्र से सगम) तथा गोकर्ण (कनारा, बम्बई के समीप) तीर्थों मे धर्मपाल विजय कामना से नही किन्तु धर्मयात्रा के लिए गया था (ए० इ० ४ पृ० २४३ भा० १७ पृ० ३१, भा० १८ पृ० ३०५) अन्य लेखो मे कुरुक्षेत्र (देहली के समीप) प्रभास, गया तथा कालाकालेश्वर आदि तीर्थों के नाम मिलते है जहाँ राजा तथा प्रजा तीर्थ यात्रा कर दान दिया करती थी (ए० इ० २५ पृ० ३१७) इनमे गया तीर्थ की प्रसिद्धि थी तथा पुराण और स्मृतियो में इसका महत्व वर्णित है [अभि ५५, शंख १४।२७, लिखित १२।१३)। पश्चिमी पजाब मे मुल्तान का नाम मुसलमानो ने तीर्थों मे गिनाया है जहाँ के सुप्रसिद्ध सूर्य मंदिर के दर्शनार्थ भारत के कोने से लोग जाया करते थे (इलियट इतिहास भा० १ पृ० ८३)। लेखो मे इसका नाम नही मिलता क्योकि मुल्तान मुसलमानी राज्य के अन्तर्गत था और दान निमित्त वहाँ जाना असम्भव था। अतएव दानपत्रों मे इसका नाम न मिलना स्वाभाविक ही है। सूर्य मदिर के कारण हिन्दू दर्शनार्थ वहाँ जाया करते थे और उनके भेंट से मुल्तान को लाखो रुपयो की आय हुआ करती।

इस प्रकार यह पता चलता है कि तीर्थ यात्रा का महत्व अशोक से लेकर जयचन्द्र तक (यानी ईसा पूर्व तीसरी सदी से ईसवी सन् की बारहवी सदी तक) राजाओ को ज्ञात था। शासक वहाँ दान दे पुण्य अर्जन कर स्वर्ग प्राप्ति को कामना करते थे। यहाँ इस विषय पर संकेत करना नितात आवश्यक है कि इस युग मे अनेक स्मृतिकार उत्पन्न हुए जिन्होने अपने विचारो को लिपिबद्ध किया। निबंध भी लिखे गए जिनके मन्तव्य तथा विचारधारा से जनता अवगत हुई। इन्ही का प्रतिध्वनि अभिलेखो में सुनाई पडती है। समाज मे तीर्थ, प्रायश्चित, तर्पण आदि की चर्चा स्मृतियों के आधार पर की गई। लेखो से उन्ही बातो की पुष्टि होती है।

अध्याय ८

प्रशस्तियों से साहित्य का ज्ञान

भारतवर्ष में ७०० ई० के पश्चात् ऐतिहासिक अथवा अर्द्धएतिहासिक काव्यों का आरम्भ होता है। इस विषय में गहरा मतभेद है कि ऐसे काव्यों का उद्गमस्थान कहा था? कुछ विद्वान् तो अरबो के सम्पर्क से ऐतिहासिक काव्य का उद्भव मानते हैं। परन्तु इस विचार में अधिक बल नही है। यह कहना यथार्थ तथा प्रमाणिक होगा कि ऐतिहासिक काव्यो का मूलश्रोत प्राचीन अभिलेखो मे निहित है। इसके मूल श्रोतों का (लेखो) गम्भीर अध्ययन उपरियुक्त कथन की पुष्टि करता है। कल्हण ने दो प्रकार के अभिलेखो का वर्णन किया है—

१ दानपत्र—दान की चर्चा

२ प्रतिष्ठा शासन—इसमे मूर्ति स्थापना, मंदिर निर्माण

जलाशय के सम्बन्ध में राजाज्ञा विज्ञापित की जाय। इसे 'राजकीय प्रज्ञप्ति भी कहा जा सकता है। राजा के समाप्त प्रतिष्ठा कर्मों का उसमें उल्लेख रहता है। इस तरह के प्रतिष्ठा शासनो को 'पूर्वा प्रशास्ति' भी कहा गया है। इसमे शासको के पूर्व वंश में सुप्रतिष्ठित नरेश के कार्यो की सूचना है। कौटिल्य ने भी इस विषय पर प्रकाश डाला है। शासनो मे राजा का नाम आदि का उल्लेख आवश्यक है (अर्थशास्त्र-शास्त्राधिकार) उपरिलिखित प्रशस्ति का भाव प्रशसात्मक अभिलेख से है। उदाहरणार्थ—खारवेल की हाथी गुम्फालेख, रुद्रदामन का जूनागढ शिलालेख, समुद्र गुप्त की प्रयागस्तम्भ लेख आदि। मध्ययुगी प्रतिहार नरेश बाउक के जोधपुर लेख में प्रशस्ति-लेखन का रहस्य उद्भाटित किया गया है—

गुणा. पूर्व्व पुरुषाणा कीर्त्यन्ते तेन पडितै
गुणः कीर्तिरनश्यन्ती स्वर्गे वास करी यतः।

राज पण्डित शासक के पूर्वजो का कीर्तिगान करते हैं क्योकि अविनश्वर गुण कीर्ति स्वर्गवास देने वाली है। इसके अतिरिक्त प्राचीन प्रशस्तियो का अध्ययन से काव्य का रसास्वादन होता है। अतएव उन्हे (प्रशस्ति) काव्य कहना अत्युचित पूर्ण न होगा। इसमे ऐतिहासिक तथा अर्द्धऐतिहासिक काव्यो के गुण विद्यमान है। काव्यो का रस, छद, अलंकार प्रशस्तियो में भी (रुद्रदामन का जूनागढ़ लेख तथा हरिषेण रचित प्रयाग स्तंम्भ लेख) वर्तमान है। दिग्विजय का अतिरंजित काल्पनिक वर्णन (काव्य के सदृश) पशस्तियो की विशेषता है। अलंकृत शैली के विकास में प्रशस्तियों के योगदान पर श्री दिशकेलकर ने विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है (Select Inscriptions Vol II) मध्ययुगी चन्देल राजा धंग के खजुराहो लेख में शूरता का प्रभावोत्पादक वर्णन अतिरंजना की चरमसीमा पर पहुच गया है (श्लोक ४६)। राजकीय लेखो (प्रशास्तियो) की एक अन्य विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रशस्तियो में शुकलीला, मनोरंजन की चर्चा विलास एवं विनोद का विवरण प्रायः उपलब्ध होता है। इन बातों को काव्यो में भी स्थान दिया गया है तथा ऐति-

हासिक महाकाव्योमें उनका परिपाक दीख पडता है। अतएव यह कहना न्याय संगत होगा कि प्राचीन प्रशस्तिया ही ऐतिहासिक काव्यो के उद्गम स्थान है।

प्राचीन काल में अभिलेख खुदवाने के विभिन्न उद्देश्य तथा अवसर थे किन्तु लेखो द्वारा किसी प्रकार की साहित्यिक चर्चा का ध्येय नही था। प्रशस्तिया प्राकृत या संस्कृत भाषा मे उत्कीर्ण हुई किन्तु उसका लेखक विद्वान् पदाधिकारी ही होगा जो समुचित रीति से उस शासन को तैयार करता था। उन अभिलेखों के अध्ययन द्वारा साहित्य के अंग पर गौण रूप से प्रकाश पड़ता है। यो सस्कृत लिखने की कला ईसवी पूर्व सदियो मे अवश्य वर्तमान थी लेकिन रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख (१५० ई०) से पूर्व सस्कृत भाषा का कोई भी अभिलेख उपलब्ध नही है। इसलिए उसे सस्कृत साहित्य का पहली कृति मानना पडता है। जूनागढ का प्रशस्तिकार एक विद्वान् लेखक था तथा उसने गद्य पद्य की जो विशेषता उपस्थित की वह दण्डिन के काव्यादर्श (अध्याय १) मे उल्लिखित है। लेख मे राजा के लिए "स्फुट-लघु मधुर-चित्र-कान्त शब्द समयोदारालंकृत गद्य पद्य काव्यविधान प्रवीणेन" का विशेषण प्रयुक्त किया गया है (ए० इ० ८ पृ० ४२)। काव्यादर्श मे भी ठीक इसी से मिलती वैदर्भी शैली की विशेषता लिखी है--श्लेष प्रसाद माधुर्य सुकुमारता, अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्ति समाधय (काव्यादर्श अध्याय १) संस्कृत के अलकार ग्रथो मे काव्य की जो परिभाषा लिखी है उसी तरह की बाते रुद्रदामन के लेख मे पायी जाती है। इसमे समास की बहुलता दिखलाई पडती है। सम्पूर्ण लेख के पढने से यह ज्ञात होता है कि लेखक काव्यमय शैली लिखना जानता था। सस्कृत साहित्य का पहला अश होने पर भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि साधारण जनता भी संस्कृत से परिचित थी। अन्यथा राजकीय लेख अलकारिक भाषा मे नही लिखा जाता। आश्चर्य तो यह है कि रुद्रदामन का आबु लेख तथा मुद्रा-लेख प्राकृत में मिलते है। यही नही दक्षिण तथा पश्चिम भारत के समस्त लेख प्राकृत भाषा मे लिखे गये थे। तात्पर्य यह है कि ई० स० १५० से पूर्व संस्कृत मय अभिलेख नही मिले है। तोसरी सदी मे भारत मे सस्कृत भाषा मे लेख उत्कीर्ण होने लगे जिनके अध्ययन से अनेक साहित्यिक बातो का पता चलता है। गुप्त सम्राट् समुद्र गुप्त की प्रयाग (स्तम्भ लेख) प्रशस्ति गद्य पद्य मय भाषा मे लिखी गई है! साहित्यदर्पण के अनुसार 'गद्यपद्यमय काव्य' को चम्पू कहते है। प्रयाग स्तम्भ लेख चम्पू का प्रथम उदाहरण उपस्थित करता है। दण्डिन ने काव्य गुण के विषय मे अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है—ओज समास भूयस्त्वं एतद् गद्यस्य लक्षणम्। ओज मे समास की बहुलता पाई जाती है। यहो रूप प्रयाग स्तम्भ लेख का है।

प्रशस्ति लेखक ने इतना अधिक समास का प्रयोग किया है कि उसकी साहित्य शास्त्र को जानकारी स्पष्ट हो जाती है। इस लेख की प्रधान विशेषता यह है कि ऐसे विद्वान् प्रशस्तिकार यानी हरिषेण का नाम अन्यत्र नही मिलता।

अभिलेख मे कविगण

ऐसे चम्पू शैली के लेखक हरिषेण की कोई अन्य कृति ज्ञात नही है। सबसे आश्चर्य तो यह है कि हरिषेण साहित्यिक परम्परा का पण्डित होकर भी सन्धिविग्रहिक, कुमारामात्य तथा महादण्डनायक के पद को सुशोभित कर चुका था। गुप्त वंश के लेख तो किसी न किसी छद में लिखे गए थे परन्तु प्रथम कुमार गुप्त का मन्दसोर का लेख तथा स्कन्द गुप्त की जूनागढ प्रशस्ति अनेक छंदो मे लिखी

गई है। उपगीति वसन्ततिलका, आर्या, शार्दूलविक्रीडित, द्रुत विलम्बित, हरिणी, वंशस्थ, इन्द्र-वज्रा, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, अनुष्टुभ आदि छदो से युक्त पद्य उल्लिखित है। मदसोर की प्रशस्ति का लेखक वत्सभट्टि भी अन्य साधनो से अज्ञात ही है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अभिलेख ऐसे विद्वान् प्रशस्तिकार के नाम बतलाते हैं जिनका नाम दूसरे ग्रथो मे नही पाया जाता। तात्पर्य यह है कि प्रशस्तियो से सस्कृत साहित्य का इतिहास जानने मे सहायता मिलती है। हरिषेण की एत मात्र रचना प्रयाग स्तम्भ लेख है।

प्रशस्ति के आरम्भ मे स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीडित जैसे लम्बे लम्बे आठ छद है जिनमें समुद्रगुप्त की कीर्ति का रमणीय वर्णन मिलता है। उसके अनन्तर एक वृहत् गद्याश मे हरिषेण ने दिग्विजय का विवरण दिया है। पद्य तथा गद्य शैली मे हरिषेण उच्च कोटि के कवि कालिदास आदि के समान माना जा सकता है। स्थान-स्थान पर दोनो शब्दो मे साम्य मिलता है। दिग्विजय के वर्णन मे कालिदास तथा हरिषेण मे विम्ब प्रतिविम्ब भाव है। दूसरे विद्वान् वीरसेन का नाम द्वितीय चन्द्रगुप्त की उदयगिरि गुहा-प्रशस्ति मे मिलता है। वह उसके दरबार का एक रत्न था और व्याकरण, न्याय तथा राजनीति का ज्ञाता था। बह एक कवि होने के नाते उस प्रशस्ति का लेखक भी था। उसने अपने को राजा का कुल क्रमागत सचिव लिखा है। गुप्त कालीन जिन कवियों की कीर्ति केवल प्रस्तरो मे सुरक्षित हैं उनमे सबसे योग्य विद्वान् तथा कवि वत्सभट्टि है। प्रथम कुमारगुप्त के शासन काल मे लिखी गई मदसोर की प्रशस्ति इस कवि की अद्वितीय रचना है। इसमे दशपुर मे सूर्य मदिर निर्माण का वर्णन मिलता है। सस्कृत काव्य के इतिहास में इस प्रशस्ति का विशेष स्थान है। भाषा ललित होते हुए अर्थ गौरव से युक्त है। अलकार इस प्रशस्ति में भरे पडे है। वत्सभट्टि कालिदास के काव्यो का विशेष अनुरागी प्रतीत होता है। उसने कई स्थानो पर कालिदास का अनुकरण किया है। भाषा के अतिरिक्त भाव मे कालिदास का छाप दिखलाई पडता है। इस कवि द्वारा वर्णित दशपुर का वर्णन कालिदास द्वारा वर्णित अलकापुरी के प्रासादो से सर्वथा मिलता-जुलता है—

चलत्पताकान्य बला सनाथान्यत्यार्थः
शुक्लान्यधिकोन्नतानि
तडिल्लता चित्रसिताब्भ्रकूट
तुल्योपमानाति गृहाणि यत्र
कैलास-तुङ्ग-शिखर-प्रतिभानि चान्या-
न्याभान्ति दीर्घबलभीनि सवेदिकानि
गान्धर्व शब्द मुखराणि निविष्ट चित्र
कर्माणि लोल-कदली वन शोभितानि

मंदसोर प्रशस्ति—(वत्सभट्टि)

विद्युत्वन्तं ललितवनिता सेन्द्रचाप सचित्रा
सगीताय प्रहतमुरजा स्निग्धगम्भीरघोषम्
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वं तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः।

उत्तरमेघ १—(कालिदास)

और देखिए। मंदसोर की प्रशस्ति (पद्य ३१) मे वर्णित ऋतु वर्णन कालिदास के ऋतु संहार (५।३) के समान है।

न चन्दनं चन्द्रमरोचिशीतलं
न हर्म्यपृष्ठं शर दिन्दुनिर्मलम्
न वायव: सान्द्र तुषार शीतला
जनस्य चित रमयन्ति साम्प्रतम्

(कालिदास)

रामा सनाथ रचने दर-भास्कराशु
वह्नि प्रताप सुभगे जललीन मीनै
चन्द्राशुहर्म्यतल चन्दन तालवृन्तं
हारोपभोग रहिते हिम दग्ध पद्मे।

(वत्सभट्टि)

इससे प्रकट होता है कि वत्सभट्टि की कविता सरस और रसीली है। वह वैदर्भी रीति में लिखे गए काव्य का एक उत्कृष्ट नमूना है। सुन्दर अलकारो का समावेश स्थान-स्थान पर किया गया है। कविता मे गुण के कारण वत्सभट्टि महाकवियो की श्रेणी मे रक्खे जा सकते हैं। गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में शाब नाम के राजकवि हुए है जिनका नाम लेखो में मिलता है।

इस युग के कवियो मे वासुल का भी नाम उल्लेखनीय है। इन्होने मालवा के नरेश यशोधर्मन की मदसोर की प्रशस्ति लिखकर अपनी काव्य निपुणता का परिचय दिया है। इसमे राजा के गुणावली का वर्णन किया गया है। ईशान वर्मा की हरहा प्रशस्ति के लेखक रवि-शान्ति का नाम भी गर्व के साथ लिया जा सकता है जो मौखरि नरेश के आश्रित कवि थे। इस कवि की कविताएँ समास की अधिकता तथा भाव से भरी हुई है। इसके काव्यमय लेख से मौखरि इतिहास पर प्रकाश पडता है। ईशान की कीर्ति तथा युद्ध गाथा के लेखक का नाम तथा रवि शान्ति की रचना अन्यत्र नही मिलती। इस प्रकार प्रशस्ति के अन्त में कवियों के नाम आते है जिनमे प्रधान (प्रथम श्रेणी के) कवियो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यदि प्रशस्तियो का अध्ययन न होता तो इनकी कीर्ति का पता लगाना असम्भव था। इस प्रकार हजारो लेख मध्यकाल मे लिखे गए। सर्वत्र लेखक के नाम का पता नही लगता। मध्ययुग के गोविन्दपुर के (गया, बिहार) लेख में वेद पारंगत ब्राह्मण का उल्लेख है, जिसको कविता सदुक्त कर्णामृत मे सुभाषित के स्थान पर उद्धृत की गयी है। उस श्रीधर दास नामक कवि का नाम अन्यत्र कही नही मिलता। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य का वास्तविक इतिहास इन लेखो की सहायता बिना तैयार होना सम्भव नही।

प्रशस्तियो के अतिरिक्त गुप्त शासको का साहित्यिक प्रेम उनके मुद्रा-लेख से भी झलकता है। मुद्राओं पर लेख छंदबद्ध (अधिकतर उपगीति छद में) मिलते हैं उदाहरणार्थ समुद्र का मुद्रा लेख "समर शत वितत विजयो जित रिपु रजितो दिवं जयति" तथा प्रथम कुमारगुप्त का लेख "पृथिवीतलाबर शशी कुमार गुप्तो जयत्यजित:" उपगीति छंद में हैं।

इसी प्रकार चालुक्य नरेश द्वितीय पुलकेशी का अयहोल लेख सुन्दर काव्य में लिखा गया है। रवीकीर्ति के वर्णन की शैली काव्यमय है। इसलिए अयहोल प्रशस्ति के ३७वें पद्य मे कालिदास तथा भारवी से उसकी तुलना की गई है। तात्पर्य यह है उपमा तथा अर्थ गौरव में रवीकीर्ति श्रेष्ठता प्राप्त कर चुका था। यही कारण है वह प्रधान कवियो मे स्थान प्राप्त कर सका। प्रशस्तिकार अलकार शास्त्र से पूर्ण विज्ञ था। कई स्थानो पर उसके भाव रघुवंश तथा किरातार्जुनीय से मिलते हैं। प्रशस्तिकार ने रघु के दिग्विजय सदृश पुलकेशी की विजय यात्रा का वर्णन किया है। अयहोल प्रशस्ति के निम्न पद्य कालिदास के समान भाव व्यक्त करते हैं–

प्रशस्ति का पद्य ५ (रघुवश ७।४८), पद्य १० (किरात ५।९)
प्रशस्ति का पद्य १७ (रघुवंश ३।२६) तथा पद्य ३० (रघु ४।४५)

इन सभी साहित्यिक पद्यो के अतिरिक्त कुछ नाटक प्रस्तर पर खोदे गए थे जिनसे सम्पूर्ण नाटक का रूप खडा किया गया है। अजमेर के शिलाखण्ड पर सोमदेव रचित "ललित विग्रह नाटक" मिला है जिसमे चाहमान नरेश विग्रह राज की कीर्ति वर्णित है। धारा के समीप (उज्जैन का भू भाग) प्रस्तर पर हरकेलि नाटक उत्कीर्ण पाया गया है जिसका लेखक विग्रह राज था। पारिजात मंजरी की भी वही कथा है। इसके अतिरिक्त धारा के एक शिला-लेख में विष्णु के कूर्मावतार का वर्णन किया गया है जो प्राकृत भाषा की काव्य रचना है। इस तरह प्रशस्तियो का अध्ययन प्राकृत तथा संस्कृत साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डालता है तथा लेखो से कई उलझनें स्पष्ट हो सकी है। ई० स० १५० से पूर्व संस्कृत साहित्य का कोई का अंश नही मिलता पर उससे पूर्व भी सस्कृत का प्रचार था, यह स्पष्ट हो जाता है। जूना-गढ़ लेख की शैली एक दिन की कृति नही है वरन् साहित्य सम्बन्धी कार्य सैकडों वर्ष पहले से होता रहा होगा।

पूर्व मध्य युग (७००-१२०० ई०) की अवधि मे संस्कृत साहित्य का भण्डार भरा गया। जितनी सख्या मे नाना विषयो पर ग्रंथ लिखे गए, उतनी ही संख्या में अभिलेख भी सस्कृत मे उत्कीर्ण किए गए। काव्य शैली, अलंकार की प्रचुरता (ग्वालियर प्रशस्ति ए० इ० भा० १ पृ० १५६) छंदो की बहुलता और श्लेष का अधिकता (ए० इ० भा० २९ पृ० १७९) प्रशस्तियो मे पाया जाता है।

अभिलेखो मे साहित्य की समीक्षा करते समय चन्देल नरेश के खजुराहो लेख का उद्धरण प्रशस्तिकारो के काव्यमय शैली तथा साहित्यिक सूझ की ओर ध्यान आकर्षित करता है— (ए० इ० भा० १ पृ० १५९)

दारिद्रं हरतार्थिनो रिपुजना लक्ष्मी मनो योषित
रूपं पंचशरादगाधपयसो गम्भीर्यमंभोनिधे
चित्तं येन विचारु चारु मनसामाचारमातन्वता
सर्वत्रैव जनापवाद रहितं चौर्य प्रकाशीकृतः।

अभिलेखो के अध्ययन से यह पता चलता है कि शिक्षण संस्थाओं का जन्म कालान्तर

में हुआ। सुदीर्घकाल में अध्यापक व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देते थे। प्राचीन गुरुकुल तथा काशी एवं तक्षशिला के गुरुगृह शिक्षा में योगदान देते रहे। ईसवी सन् दूसरी सदी के नासिक लेखो मे भिक्षुओ के चीवर तथा भोजन निमित्त अग्रहार का वर्णन है। बौद्ध ग्रंथ महावग्ग मे उल्लिखित है कि गुहा मे शिक्षा कार्य सम्पन्न किया जाता था जिसकी सहायता शासक किया करते थे। प्राय शिक्षा केन्द्र समस्त भारत में फैले हुए थे। तक्षशिला, काशी, पाटलिपुत्र, कन्नौज, मिथिला तथा धारा का नाम शिक्षा केन्द्रो मे लिया जा सकता है। बौद्ध विहार तथा हिन्दू-मंदिरो से शिक्षण संस्थाओ का जन्म हुआ अतएव जनता मठ तथा मंदिरो को दान देने लगी। मध्यकाल में मठ ही प्रधान केन्द्र बन गए। तक्षशिला के विषय मे जातको के अतिरिक्त अन्य साधनो से कम प्रकाश पड़ा है। यहा के लेख यह बतलाते है कि जनता खरोष्ठी लिपि तथा प्राकृत भाषा जानती थी। वह स्थान यूनानी शासको के समय मे टकसाल था। गाधार कला की उन्नति से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तक्षण कला की शिक्षा वहा अवश्य दी जाती होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि वहा सुव्यवस्थित तथा संगठित शिक्षा-केन्द्रो मे (विश्वविद्यालय न होने पर भी) सब कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। तक्षशिला की खुदाई मे ऐसा भवन मिल न सका जिसे विद्यालय या छात्रावास कहा जा सके।

शिक्षा-केन्द्र

तक्षशिला से बढकर काशी विद्या का केन्द्र था। बुद्ध के यहा धर्म प्रचार आरम्भ करने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ई० पूर्व सदियो मे काशी विद्या का महत्वपूर्ण केन्द्र होगा। काशी की प्रसिद्धि कई सदियो तक ज्यो की त्यो बनी रही। दसवी सदी के गाहडवाल ताम्रपत्र कमौली नामक स्थान से प्राप्त हुए है जिसमे विद्वान् ब्राह्मणो को दान देने का विवरण मिलता है। (ए० ई० भा० ४) सम्भवत राजा की ओर से अध्यापक तथा विद्यार्थियो को पठन-पाठन के लिए सहायता मिलती रही।

वैदिक काल से ही काशी की प्रधानता थी। बौद्ध युग मे भी वही स्थिति बनी रही। बुद्ध ने प्रथम धर्मोपदेश (धर्मचक्र परिवर्तन) के लिए मृगदाव को ही चुना था। जातक कथाओ मे काशी के राजा ब्रह्मदत्त का नाम सैकड़ो बार आया है। इससे सिद्ध होता है कि काशी की प्रधानता (धर्म तथा शिक्षा क्षेत्र मे) सदियो तक बनी रही। ब्राह्मण तथा बौद्ध युग मे यह नगरी एक समान रूप से आकर्षक थी।

अशोक के समय से ही सारनाथ की प्रधानता रही और मौर्य युग के पश्चात् वह एक प्रसिद्ध बौद्ध शिक्षा केन्द्र हो गया। यहाँ पर पढाई का कार्य बारहवी सदी तक होता रहा और इसी कारण से गाहडवाल राजा गोविन्द्रचन्द्र की पत्नी कुमार देवी ने एक विहार को दान दिया था जिसका विवरण उसके सारनाथ वाले लेख मे पाया गया है। हजारो की संख्या मे यहाँ विद्यार्थी थे। खुदाई से अनेक विहारो की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। सारनाथ में कला की भी शिक्षा दी जाती रही जिसके कारण वहाँ पर एक शैली (स्कूल) की स्थापना हुई थी। सारनाथ शैली की बुद्ध प्रतिमा बौद्ध कला में अद्वितीय समझी जाती है। इससे साहित्य तथा कला की शिक्षा की प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। आज भी काशी क्षेत्र (वाराणसी) संस्कृत विद्या का महान् केन्द्र है।

पाटलीपुत्र के समीप नालंदा का विहार एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का रूप धारण कर चुका था जिसकी प्रसिद्धि पाँचवी सदी के पश्चात् विदित हुई। यो तो बुद्ध के समय से ही इसकी प्रधानता थी परन्तु पाँचवी सदी से नालदा विद्या का केन्द्र

नालदा महाविहार

हो गया। गुप्त राजाओ तथा पालवंशी नरेशो ने इस महाविहार की उन्नति मे हाथ बंटाया तथा आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित किया। प्राचीन समय से ११ वी सदी तक विहार-निर्माण का कार्य अविच्छिन्न रूप से होता रहा। नालदा की खुदाई से वहाँ विशाल विश्वविद्यालय का पता चला है जिसमे करीब ३०० छोटे कमरे है तथा सात विशाल व्याख्यान मंदिर भी। पूर्व मध्ययुग के एक लेख से नालंदा के विशाल भवन की स्थिति प्रमाणित होती है जहाँ विहार के शिखर गगन-चुम्बी थे। वर्णन सुनिए।

यस्यामम्बुधरावलेहि शिखर श्रेणी विहारावली
मालेवोर्ध्व विराजनी विरचिता धात्रा मोनोज्ञाभुव.

(ए० इ० २० तृ० ४३)

नालदा हसतीव सर्वनगरो शुभ्राभ्रगौरस्फुट
चर्यत्याशु प्रकरोस्सदागमकला विख्यात विद्वज्जना।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ७००-१२०० ई० तक नालंदा प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र था तथा प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अध्ययन तथा अध्यापन करते रहे।

भिक्षु एव विद्यार्थियो के आवास के लिए ही ऊँचे विहार बनाए गये थे। जहाँ उनके भोजन, स्थान तथा औपधि का प्रबध था—भिक्षु संघस्य वलि चरुसत्र चीवर पिण्डपात शयना भेषजादि (ए० इ० २० पृ० ४४) इन सभी कार्यो के लिए दाताओ से दान मिलता था तथा दो सौ ग्राम इस महाविहार को दान मे मिल चुके थे। इसकी अभिवृद्धि आठवी सदी के पाल नरेश देवपाल के ताम्रपत्र से ज्ञात है। देवपाल ने जावा के राजा बालपुत्रदेव के आग्रह पर पाच गाव दान मे दिया था। ताम्रपत्र मे वर्णन आता है कि जावा के राजा ने नालंदा मे दो विहार तैयार किया तथा उसके दूत देवपाल से भिक्षुओ के निमित्त दान देने की प्रार्थना की। देवपाल ने उस विहार मे निवास करने वाले भिक्षु विद्यार्थी के भोजन, आवास, औपधि निमित्त दान दिया। वहाँ ग्रथ लिखने के व्यय का भी आयोजन था (ए इ० भा० १७ पृ० ३२२)

नालंदा गुण वृद लुब्ध मनसा भक्तया च सौद्धोदने

× × ×

नाना सद् गुणभिक्षुसघ वसतिस्तस्या विहार कृत,
सुवर्णद्वीपाधिप महाराज बालपुत्रदेवेन दूतक
मुखेन वयं विज्ञापिता। यथा मया नालंदाया विहारः कारित।

इससे इस महाविहार की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का पता चलता है। यही कारण है कि चीन के यात्री ह्वेनसाँग तथा इत्सिग वर्षों रहकर नालंदा महाविहार मे शिक्षा प्राप्त करते रहे। यही के पंडित नेपाल, तिब्बत तथा चीन में बौद्ध धर्म फैलाने के लिए निमंत्रित किए गए थे।

काठियावाड मे बलभी भी प्रसिद्ध विद्या केन्द्र था जहाँ से अधिक मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता था। बलभी के स्नातक ऊंचे पद पर नियुक्त किए जाते थे। गंगाघाटी से ब्राह्मण अपने पुत्रो को विद्याभ्यास के लिए वहाँ भेजते रहे।

अन्तर्वेद्यामभूत्पूर्व वसुदत्त इति द्विज
× × ×
गत्‍वा प्रववृते विद्या प्राप्ते वलभीपुरम्।

बलभी के धनीमानी श्रेष्ठी इस विश्वविद्यालय को आर्थिक सहायता दिया करते थे। यहाँ के मैत्रक नरेश साधारण व्यय के अतिरिक्त पुस्तको के लिए भी दान देते थे जो लेख से विदित होता है।

(सद्धर्मस्य पुस्तकोपचयर्थिम्—स० इ० इ० ७ पृ० ६७)

मैत्रको के पिछले उत्तराधिकारी भी वलभी विश्वविद्यालय को पर्याप्त आर्थिक सहायता करते रहे।

दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट राजा के मंत्री नारायण ने सलोत्गी (बीजापुर, बम्बई प्रदेश) मे एक देवालय का निर्माण कराया था जो १२वी सदी मे वैदिक शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र था। उस स्थान पर विद्यार्थियो के रहने के लिए अनेक भवन बने थे। वहा की प्रशस्ति मे वर्णन आता है कि दीपक, भोजन तथा आवास के लिए ५०० निर्वतन भूमिदान मे दी गई थी (ए० इ० ४ पृ० ६०)

तेनेय कारिता शाला श्री विशाला मनोरमा
अत्र विद्यार्थिन सन्ति नाना जनपदोद्भवा
शाला विद्यार्थी भोगाय दत्तवान्भूमिमुत्तमम्।

अन्य लेखो से भी पता चलता है कि दक्षिण मे कई विद्यापीठ राजकीय सहायता पर चलते थे और देवालय शिक्षा के केन्द्र हो गए थे। १२वी सदी मे दक्षिण अरकाट जिले मे एन्नायिरम् विद्यापीठ (साउथ० इ० ए० रि० १९१८ पृ० १४५) तथा चिङ्गलपुट (मद्रास के करीब) में व्यंकटेश पेरुमल देवालय (ग० इ० २१ पृ० २२०) महत्वपूर्ण संस्थाएँ थी। विद्यार्थियो को खाद्य सामग्री नि शुल्क वितरण की जाती थी। चिकित्सा का भी प्रबंध था। ११वी सदी के लेख मे बीजापुर के विद्यार्थियो का वर्णन है कि आचार्य योगेश्वर पंडित के शिष्यो को शिक्षा तथा भोजन के लिए १२०० एकड भूमि दान मे दी गई थी। (इ० ए० १० पृ० १२९) अभिलेखो के आधार पर कई उदाहरण उपस्थित किए जा सकते है (ए० इ० ४ पृ० ३५५ साउथ इ० ए० रि० १९१२ पृ० २०१ . १९-१७ पृ० १२२) अग्रहारदान (ए० इ० भा० ५ पृ० २२, भा० १३ पृ० ३१७) शिक्षा की उन्नति मे सहायक थे तथा आर्थिक चिन्ता से विद्यालय मुक्त रहता था। जिस गाव मे पंडितो के पास ज्ञान-पिपासु लोग आते थे उसे भी दान दिया जाता था : (ए० इ० भा० १६ पृ० १४)। अतएव प्राचीन अभिलेखो का अध्ययन शिक्षा-केन्द्रो, छात्रावास, औषधि, भोजन, हस्तलिखित पुस्तक आदि विषयो पर प्रकाश डालते है। उनके परिशीलन से प्रकट होता है कि राजकीय सहायता के बिना शिक्षा की उन्नति सम्भव न थी।

प्राचीन अभिलेखो में अध्ययन तथा अध्यापन का सीधा वर्णन उपलब्ध नही है केवल प्रसंग वंश साहित्य का उल्लेख मिलता है। अथवा दान के पात्र सम्बन्धी वार्ता में दान-

अध्ययन के विभिन्न विषय

ग्राही की विद्वता तथा उसकी शाखा का वर्णन किया गया है। या यो कहिए कि उस वश का विवरण देते समय ब्राह्मण के वैदिक शाखा का नाम लिया गया है। इन सभी प्रकार के उल्लेखो से हमे साहित्य सम्बन्धी विषयो का परिज्ञान हो जाता है। अशोक से पूर्व का कोई लेख उपलब्ध नही है इसलिए ई० पूर्व ३०० वर्ष पहले की बातें ज्ञात नही है। उसने बैराट (भाब्रू, जयपुर) के शिलालेख मे इस बात का आदेश दिया था कि निम्नलिखित ग्रथो को भिक्षुओ को सुनना तथा पढना चाहिए—

इमानि भते धम्मपलियायानि **विनय समुकसे अलिय-वसाणि अनागत भयानि मुनिगाथा मोनेय सूते** उपतिस प्रसिने ए चा **लाघुलोवादे** मुसावदं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते (भाब्रू लेख) मुनिगाथा मौनेय सूत्र उपतिष्यप्रश्न राहुलवाद मृषावादम्" को बारबार सुनना चाहिए तथा अध्ययन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त (विनय समुकसे) आर्यवश (अंगुत्तर निकाय मे वार्तालाप) अलियवसाणि और भिक्षु की भविष्य चर्चा (अनागतभयानि) को भी सुनना चाहिए जिससे संघ चिर स्थायी हो सके।

मौर्ययुग के पश्चात् अभिलेखो मे कई सदियो तक शिक्षा सम्बन्धी किसी विषय का उल्लेख नही पाया जाता। कुषाणवर्शी लेखो मे भिक्षुओ के नाम के साथ 'त्रैपिटकस्य' शब्द जुडा मिलता है, इससे प्रकट होता है कि बौद्ध त्रिपटक का अध्ययन अध्यापन होता रहा। (सहेत महेत तथा मथुरा प्रतिभा लेख—ए० इ० भा० ९ पृ० २९१, भा० ८ पृ० १८१) यज्ञो के विधिवत् सम्पन्न होने से यह सिद्ध होता है कि वैदिक शिक्षा का प्रचलन समाज मे था। उपनयन सस्कार के पश्चात् विद्यार्थी गुरुगृह मे विद्याभ्यास करता रहा। पूर्वमध्ययुग (७००-१२०० ई०) मे उपनयन की अवस्था मे समानता न रही। प्राचीन गुरुकुल की परिपाटी छिन्न भिन्न हा गई थी और विद्यार्थीगण मदिर या मठ अथवा विहार मे शिक्षा पाने लगे। इस काल के उत्कीर्ण अभिलेख तथा दानपत्र शिक्षा के सभी बातो पर प्रकाश डालते है। दान व्यक्तिगत न रहकर सस्थाओ से सम्बन्धित कर दिए गए। जिन सथाओ को दान दिया जाता था वहा विद्या का केन्द्र अवश्य कार्य कर रहा था। यह अनुमान सर्वथा उचित होगा कि अभिलेखो मे प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध मे किसी तरह का उल्लेख नही है। केवल ऊंची शिक्षा का मूल्याकन किया जा सकता है। ऊँची श्रेणी की संस्थाओ तथा किसी विषय मे पारंगत पडित को ही दान देने की परिपाटी थी। अतएव पूर्वमध्ययुग मे एक विषय के गम्भीर अध्ययन की बातें सोची जा सकती है। बौद्ध मठो मे नए आगतुक भिक्षु को कोमल अवस्था क कारण कुछ साधारण ज्ञान देकर धर्म ग्रन्थ का अध्ययन कराया जाता था। परन्तु ब्राह्मणो के सम्बन्ध मे ऐसो बातें ज्ञात नही है। इस निर्णय पर पहुँचने का कारण यह है कि विद्यार्थी वैदिक शाखा के ज्ञाता कहे गए है यानी किसो सम्पूर्ण बेद का पठन पाठन भी सम्भव न था। गम्भीर अध्ययन के कारण विद्यार्थी केवल एक शाखा मे ही पाडित्य प्राप्त कर सकता था।

पूर्व मध्ययुग के अभिलेखो का विवेचन यह बतलाता है कि वेद, वेदाग के अतिरिक्त दर्शन, उपवेद तथा इतिहास का भी पठन-पाठन होता रहा। दानग्राही के गुणो का वर्णन करते समय कई विषयो के नाम आते हैं। ज्योतिष तथा धर्मशास्त्र का भी उल्लेख मिलता है जिसके अध्ययन के पश्चात् वह व्यक्ति राजकीय विभाग मे पदाधिकारी हो जाता था। इसलिए वेदाग (शिक्षा, निरुक्त, छंद, व्याकरण, कल्प, (धर्मशास्त्र) तथा ज्योतिष) का अध्यापन प्रधान हो गया। उस युग के लेखो मे चारो वेद, उनकी विभिन्न शाखाओ, वेदाग तथा षड्दर्शन के नाम मिलते हैं। चहमान (राजपुताना) के लेखो मे यजुर्वेद के अनुसार यज्ञ करने की चर्चा की गई है (ए० इ० ९ पृ० ३०६) और बगाल के सेन नरेश के लेखो में भी यही बातें उल्लिखित है (ज० आफ० हि० रि० सो० भा० २ पृ० १४०) इसका अर्थ यह है कि समस्त उत्तरी भारत में वैदिक यज्ञ तथा वेदो का अध्ययन होता था। दक्षिण भारत के लेखो मे भी वैदिक शाखाओ के नाम से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दक्षिण मे वैदिक अध्ययन की परिपाटी समान रूप से वर्तमान थी। प्रतिहार, चन्देल, परमार तथा बगाल के राजाओ के अभिलेखो मे एक तरह के शाखा के नाम आते हैं। कलहा ताम्रपत्र (गोरखपुर, उत्तर प्रदेश) मे छादोग्य, वाजसनेय तथा माध्यन्दिन शाखाध्यायी ब्राह्मणो के नाम उल्लिखित है (ए० इ० भा० २ पृ० ८७) मध्यप्रदेश के चेदि वश के लेखो में आश्वलायन, शाखायन, कठ, कौथुमी तथा राणायनीय शाखाओ के नाम मिलते हैं (ए० इ० ९ पृ० ११६) मालवा के लेख मे माध्यन्दिन, आश्वलायन तथा कौथुमी के नाम प्राप्त हुए है (ए० इ० ९ पृ० ११६) कन्नौज के राजा भोज का ताम्रपत्र तथा गाहडवाल नरेश गोविन्द चन्द्र के दानपत्र मे आश्वलायन तथा वाजसनेय शाखाध्यायी ब्राह्मणो का वर्णन आया है। (ए० इ० ५ पृ० २१२ तथा भा० ८ पृ० १५४) पाल तथा सेन दानपत्रो मे यही नाम मिलते हैं (इ० ए० २१ पृ० २५५ ए० इ० १५ पृ० २९५) विजयसेन का बैरकपुर ताम्रपत्र (ए० इ० १५ पृ० २८४) वल्लालसेन का नईहटी लेख (ए० इ० १४ पृ० १५६) तथा लक्ष्मणसेन के अनेक दानपत्रों मे (ए० इ० १२ पृ० ६ इ० हि० क्वा० ३ पृ० ८९ ज० ए० सो० ब० १९०० भा० ६९ पृ० ६१) मे उन्ही शाखाओ के नाम उल्लिखित है जिनके विषय मे ऊपर लिखा जा चुका है। लक्ष्मणसेन के अभिलेखो मे यजुर्वेद, सामवेद, ऋगवेद की शाखाओ के अतिरिक्त अर्थव की पिप्पलाद शाखा का नाम भी मिलता है जो अन्य प्रदेशो की प्रशस्तियो मे नही मिलता। यदि समस्त शाखाओ को क्रम बद्ध किया जाय तो लेखो की शाखाए निम्न वर्गीकरण मे रक्खी जा सकती है।

(१) ऋग्वेद की शाखाए–आश्वलायन, शाड्खायन
(२) शुक्ल यजुर्वेद–माध्यन्दिन, काण्व तथा वाजसनेय
(३) कृष्ण यजुर्वेद–मैत्रायिणी, कठ तथा तैत्तिरीय
(४) सामवेद–कौथुमो व राणायनीय
(५) अथर्व–पिप्पलाद

इन शाखाओ के नाम तथा वर्गीकरण से पता चलता है कि ऋग्, साम तथा यजुर्वेद का अध्ययन उत्तरी भारत के अधिक भागो मे होता था परन्तु पिप्पलाद का अध्ययन केवल पूर्वी भारत मे सीमित था। दक्षिण भारत के लेख भी यही बतलाते है कि अथर्व के सिवाय

अन्य तीनो वेदो का अध्ययन व अध्यापन पूर्व मध्ययुग से हो रहा था। इसकी पुष्टि निम्नलिखित उद्धरण से होती है—

ब्रह्म त्रिक्रमोर्कश्च विष्णु देवस्तथा पर
तथा महिरदेवस्य चात्वारो वह्वृचोत्तमा (ऋग्वेद)
एवं कपर्दोपाध्यायो भास्करो मधुसूदन
वेदगर्भश्च चत्वारो यजुर्वेदस्य पारगा (यजुर्वेदस्य)
तथा भास्कर देवश्च स्थिरोपाध्याय एव च
त्रलोक्यहन्मो मोड-चत्वार सामपारगा (साम)

(ए० इ० ११ पृ० १९२)

समस्त अभिलेखो का परीक्षण यह बतलाता है कि अधिकतर ब्राह्मण तीन ही वेद (ऋक्, यजु व साम) पढत या पढाते थे जिस कारण द्विवेदी या त्रिवेदी की पदवी से पुकारे जाते थे। (ए० इ० १६ पृ० १० भा० १ पृ० ३११)

शतपथ ब्राह्मण (४।६।७) मे भी तीन वेदो की प्रधानता उल्लिखित है (त्रयीवैविद्या ऋच यजुंशि सामानि)

मध्ययुग मे वेदाग का नाम भी लेखो मे उल्लिखित है जिन विषयो को पढ कर व्यक्ति पदाधिकारी का आसन सुशोभित करता था। बगाल के लेख मे वेद वेदाग पारग ब्राह्मणो के नाम आते है (इ० ए० १६ पृ० २०५) तथा बैरकपुर दानपत्र मे 'षडाङ्गाध्यायिने' ब्राह्मण को अग्रहार देने का वर्णन मिलता है (ए० इ० १५ पृ० २८४) गोबिन्दपुर के ताम्र पत्र मे निम्न श्लोक द्वारा वेदाग के छ विषयो के अध्ययन की चर्चा की गई है—

सत्कल्पप्रवणा श्रुति प्रणयिन. शिक्षाभिरूद्भासिता
सज्जयोतिषगतियो निरुक्त विशदा श्छन्दो विधी साधव
ख्याता व्याकरण क्रमेण विदुषामत्युच्चधि शीलना
द्वेदाङ्ग प्रतिभा. षडेव भुवनेते विभ्रति भ्रातर

(ए० इ० २ पृ० ३३६)

अभिलेखो का अध्ययन इस बात को स्पष्टतया प्रकट करता है कि व्याकरण तथा ज्योतिष का अध्ययन तथा अध्यापन वेदाग विषयो मे सबसे प्रमुख था। व्याकरण सभी शास्त्रों को बोधगम्य करना है इसलिए उसका पढना नितात आवश्यक था। ज्योतिष के पण्डित को नैमित्तिक की सज्ञा दी गई थी। गहडवाल प्रशस्तियो मे नैमित्तिक पदाधिकारियो की सूची में मिलता है (ए इ. ४ पृ० १२२, भा ७ पृ० ९९ तथा भा १८ पृ० २२२) उडीसा के भुवनेश्वर लेख म ब्राह्मण को सिद्धात, तत्र, फलसंहिता तथा व्याख्या का ज्ञाता बतलाया गया है (ए. इ भा० ६ पृ० २०६) तथा बगाल की प्रशस्ति मे दामोदर शर्मन पाच सिद्धान्त का पंडित कहा गया है। ज्योतिष मे पुलिश (पौलिश), रोमक, वशिष्ट, सूर्य (सौर) तथा पितामह (पैतामह) को ज्योतिष का पाच सिद्धान्त मानते है। इस कारण ज्योतिष को सासारिक विषय मान कर पढते और राजदरबार मे ज्योतिषी प्रतिष्ठा पाते थे। अन्य चार-कल्प

निरुक्त, शिक्षा तथा छद का नाम लेखो प्राय नही मिलता। परन्तु इससे यह अनुमान नही किया जा सकता कि वेदाग मे व्याकरण तथा ज्योतिषी दो ही विषयो की शिक्षा दी जाती होगी और अन्य चार पढे न जाते होगे। छंद तथा शिक्षा के अभाव मे वेद मंत्रो का उच्चारण कठिन होता है तथा निरुक्त के बिना मंत्रो का अर्थ समझना असम्भव है। यह काल वैदिक यज्ञ तथा अध्यापन का युग था इस लिए वेदाग के सभी अंगों पर विद्यार्थियो का ध्यान रहता होगा। पूर्व मध्ययुग में अनेक स्मृतियो की रचना हुई थी। इसलिए धर्मशास्त्र (कल्प) के ज्ञान को पूर्व पीठिका मानना असंगत न होगा। यह कहना उचित होगा कि वेदाग का अध्ययन भी ब्राह्मणो के लिए आवश्यक हो गया था।

अध्ययन के अन्य विषयो मे पड्दर्शन को भी प्रधान माना गया है और लेखो मे प्रत्येक दर्शन का पृथक-पृथक नाम उल्लिखित है। षड्दर्शन से न्याय, मीमासा, साख्य, योग, वैशेषिक तथा वेदान्त का बोध होता है (ए० इ० ११ पृ० ३११) रीवा के लेख मे काशी के ब्राह्मण को वेदान्त मीमासा तथा योगदर्शन का पडित कहा गया (ए० इ० १६ पृ० २६५) लेकिन वही प्रतिहार वशी बानगढ़ की प्रशस्ति मे मीमासा तथा तर्कविद्या (न्याय) मे पारगत माना गया है (ए इ १४ पृ० ३२५) पाल लेखो मे इसी तरह का वर्णन मिलता है कि दानग्राही ब्राह्मण मीमासा व तर्क विद्या (न्याय शास्त्र) का ज्ञाता था (ए इ १५ पृ० २२५ . भा २१ पृ० १६८—मीमासा व्याकरण तर्कविद्याविदे) मुगेर लेख मे वेदान्त का उल्लेख है। (इ ए १५ पृ० ३०७)। इससे प्रकट होता है कि षड्दर्शन मे न्याय, मीमासा तथा वेदान्त का अध्ययन अध्यापन अधिक प्रचलित था। साहित्य के इतिहास मे इसकी पुष्टि होती है। यह विदित है कि मिथिला के वाचस्पति मिश्र ने न्याय ग्रंथ की रचना की। मीमासा मे भी कुमारिल युग (६००-९०० ई०) सर्व प्रसिद्ध है। कुमारिल तथा उनके शिष्यो ने अनेक टीकाएं तथा निबध तैयार किए। वेदान्त के विद्वानो मे शकर और गौडपाद के नाम उल्लेखनीय है।

प्रशस्तियो मे उपवेद—गान्धर्ववेद, आयुर्वेद का सीधा वर्णन नही है पर यत्र-तत्र उल्लेखो से तात्पर्य निकाला जा सकता है कि इन विषयो की भी शिक्षा दी जाती थी। जहाँ तक संगीत की शिक्षा का प्रश्न है मौर्य सम्राट् अशोक ने इसे निरुत्साहित किया। प्रथम शिला लेख मे ही वह 'न च समाजो कतव्यो, बहुक हि दोसं समाजम्हि'' का आदेश देता है कि सगीत तथा आनन्दमय समाज एकत्रित न करना चाहिए। साधारण जनता तो इसके विपरीत थी अतएव उसके मरते ही सगीतमय समाज का आयोजन होने लगा। भरहुत की वेदिका पर नृत्य का दृश्य है और उस स्थान पर लेख खुदा है जिसमें विभिन्न अप्सराओ के नाम मिलते हैं। गुप्त लेख मे समुद्रगुप्त गान्धर्व विद्या मे निपुण कहा गया है जिसने तुम्बरू तथा नारद को संगीत मे लज्जित कर दिया था (गान्धर्व ललितैर्व्रीडित-त्रिदशपति- तुम्बरु नारदादे —प्रयाग· स्तम्भ लेख) प्रथम कुमारगुप्त के मदसोर लेख में वर्णन है कि श्रेणी के सदस्य सगीत में भी दक्ष थे। सामदेव का शिक्षा भी जनता के संगीत प्रेम की बात स्पष्ट करती है। मदिरो की दीवारो पर वाद्य तथा नृत्य के अनेक प्रदर्शन मिलते हैं और मंदिरो के एक कक्ष को नट मण्डल (नृत्य मण्डप) कहते थे जो प्रशस्तियो के उल्लेख को पुष्ट करता है।

आयुर्वेद की शिक्षा पर भी अधिक ध्यान दिया जाता था। अशोक दूसरे शिला लेख में दो प्रकार की चिकित्सा का उल्लेख है—मनुस चिकिछा च पसु चिकिछा। मनुष्यो के साथ पशु चिकित्सा पर राजा का ध्यान यह व्यक्त करता है कि आयुर्वेद की शिक्षा ऊंची श्रेणी की थी। उसने यह भी लिखा है कि जिस स्थान पर जो दवाए न थी वह भेजी गई तथा जडी-बूटी के पौधे भी लगाए गए थे (मूलानि फलानि यत यत नास्ति सर्वत हारापितानि रोपापितानि) मध्ययुग के गहडवाल लेखो मे भिषग् (चिकित्सक) का उल्लेख मिलता है। (कमौली ताम्रपत्र— ए. इ भा ४) चन्देल राजा परमर्दि के लेख मे वैद्य का नाम पदाधिकारियों की सूची मे उल्लिखित है (ए. इ भा ४ पृ० १७०) पाल वशी लेखो मे भैषज्य (दवा) शब्द का उल्लेख भिक्षुओ के दान (दवा का व्यय) सम्बन्ध मे किया गया है (इ ए १५ पृ० ३०६) देवपाल के नालंदा ताम्रपत्र मे भी भिक्षुओ के लिए भोजन, वस्त्र (चीवर) तथा औषधि (भेषजादि) के प्रबन्ध निमित्त दान का वर्णन है (ए इ १७ पृ० ३२२ भा० २० पृ० ४४) अतएव इन सभी विवरणो के आधार पर आयुर्वेद के पठन पाठन का मूल्याङ्कन किया जा सकता है।

धनुर्वेद की शिक्षा सम्भवत राजकुमारो मे ही सीमित थी। सेना मे इन शास्त्रो का प्रयोग पूर्ण ढंग से हुआ करता था। जनसाधारण मे भी इसके प्रति अभिरुचि थी। गुप्त युग मे सम्भवत इस विद्या का अभ्यास किया जाता था। प्रयाग प्रशस्ति मे "परशु—शर—शङ्कु-शक्ति—प्रसासितोमर" आदि शस्त्रो के नाम उल्लिखित है। गुप्त नरेशो द्वारा प्रचलित धनुर्धरांकित स्वर्ण मुद्राएं शासक का धनुर्विद्या से प्रेम प्रकट करती है। प्रथम कुमार गुप्त के मदसोर लेख मे वर्णन मिलता है कि श्रेणी के सदस्य धनुर्वेद के भी ज्ञाता थे—श्रवण सुभगधनुर्वेदं दृढ परिनिष्ठिता, सुचरित शतासङ्ख्या केचिद्विचित्र कथाविद (मदसोर की प्रशस्ति का० इ० इ० ३ पृ० ८१) गुप्तसम्राट् भी कुशल धनुर्धारी थे, यह उनके सिक्को के देखने से स्पष्ट हो जाता है। समुद्रगुप्त से बुधगुप्त तक धनुर्धारी प्रकार के सिक्के अत्यन्त लोकप्रिय थे, इससे यह झलकता है कि धनुर्वेद की शिक्षा मे लोगों को प्रेम था। सूर्य की प्रतिमा म दो स्त्रियाँ (उषा तथा प्रत्यूषा) धनुष चलाती प्रदर्शित की गई है। देवताओ का आयुध समझ कर दुर्गा की प्रतिमा के हाथो मे धनुषबाण प्रदर्शित किया गया है। खेद है कि प्रशस्तियो मे इस उपवेद के सम्बन्ध मे अधिक चर्चा नही मिलती।

सस्कृत साहित्य की शिक्षा के सम्बन्ध मे विशेष कहने की आवश्यकता नही है। ईसवी सन् की दूसरी सदी से प्राय अधिक लेख जनता के लिए सस्कृत मे ही लिखे गए। इतना ही नही गुप्तकाल मे तो मुद्रालेख भी छदबद्ध संस्कृत मे अकित कराए गए। अतएव यह कहना उचित होगा कि सस्कृत भाषा की शिक्षा सभी वर्गो को दी जाती थी। सर्वसाधारण इसके द्वारा सारा कार्य करते रहे किन्तु दु ख तो यह है कि साहित्यिक चर्चा के सम्बन्ध मे लेख शान्त हैं। सस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान्, कवि तथा लेखको ने ग्रंथ लिख कर साहित्य की अभिवृद्धि की तथा जनता के ज्ञान को बढ़ाया।

अभिलेखो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चार प्रकार की हस्तकला का भी ज्ञान लोगो को था। वास्तुकला (Architecture) तक्षण कला (Sculpture) ढालना

हस्तकला की शिक्षा

(Casting) तथा खोदना (Engraving)। प्राचीन समय के अनेक मदिर, स्तूप तथा वेदिका की स्थिति से यह स्वयं सिद्ध है कि भवन निर्माण का ज्ञान कारीगरो को था। राजपुताना के एक लेख मे ऐसे कारीगरो—चण्डशिव तथा उसके पुत्र के नाम मिलते है जो कुशल सूत्रधार थे। हर्ष शिलालेख (१० वी सदी) मे निम्न प्रकार का वर्णन आता है—

बीरभद्रसुत ख्याता सूत्रधारोत्र चण्डशिव ·
विश्वकर्मेव सर्वज्ञो वास्तु विद्या ......
येन निर्मितमिद मनोहर शकरस्य भवन समण्डपम्

(ए० इ० २ पृ० १२३)

प्राचीन भारत मे मदिर तथा प्रतिमाओ का निर्माण पर्याप्त सख्या मे हुआ। गुप्तयुग से पूर्व के भवन निर्माण का उल्लेख तो नही पाया जाता परन्तु साची वेदिका पर अकित लेख दानकर्ताओ के नाम उपस्थित करते है। तोरण पर खुदे भवन, दुर्ग आदि के प्रदर्शन से वास्तु-कला का अनुमान हो जाता है कि समाज मे लोगो को भवन या दुर्ग निर्माण मे अभिरुचि थी। धनिक के नगर शिलालेख मे वास्तुविद्या मे निपुण व्यक्तियो के नाम मिलते है—श्री भिल्लमाल सूत्रधार ग्रहभट्टोत्पन्न सूर्यवर्म। गगा वर्मभि सूत्रधारत्व कुशलै रूपकर्म निपुणैर्वास्तुविद्या पारगै: (भारत कौमुदी भा० १ पृ० २७६)

इसके अतिरिक्त प्रतिमा निर्माण की कला मे भी अनेक व्यक्ति दक्ष थे। हिन्दू, जैन तथा बौद्ध देवी देवताओ की अनगिनत मूर्तियाँ प्राचीन समय मे तैयार की गई थी। पूर्वमध्य-युगी बौद्ध प्रतिमाओ पर राजाओ की शासन तिथि अथवा निम्नपद्य खुदे मिलते है—

ये धम्मा हेतु प्रभवा हेतु तेषा तथागतो अवदत्
अवदत च यो निरोधो एव वादी महाश्रमण.।

खेद है कि कलाकारो के नाम कही नही मिलते। केवल तिब्बत इतिहासकार तारनाथ ने नालदा के प्रसिद्ध कलाकार धीमान का नामोल्लेख किया है जो अपने पुत्र विटपाल के साथ धातु प्रतिमा के ढालने मे लगा रहता था। प्रस्तर प्रतिमाओ का वास्तविक अनुकरण धातु मूर्तियो मे दृष्टिगोचर होता है (ए० इ० १८ पृ० १९९) अतएव यह कहना उचित होगा कि प्रतिमा निर्माण की कला ऊँची श्रेणी तक पहुँच गई थी।

गुप्तयुग के पश्चात् अधिकतर लेख ताम्रपट्टिकाओ पर उत्कीर्ण किए गए थे जिसका मुख्य कारण यह था कि दानग्राही उस शासन को सुरक्षित रखता था। वह ताम्रपत्र उसके वंशज के लिए परमावश्यक राजकीय आज्ञापत्र था। उसी के अनुसार दानग्राही के उत्तराधिकारी अग्रहार भूमि का उपभोग करते थे। उस लेख को ताम्रपट्टिका पर उत्कीर्ण करने की कला सब को ज्ञात न थी। थोड़े से कलाकार उसे खोद सकते थे। बगाल के एक लेख में मगध का कलाकार सोमेश्वर निम्न प्रकार से वर्णित किया गया है।

शिल्पविन मागध कार्मा तन्मना वर्णभक्तिभि
सोमेश्वरो लिखदिमाम् प्रशस्ति स्वामिन प्रियाम्।

(सिलिमपुर लेख ए० इ० १३ पृ० ४२)

अन्य प्रशस्तियो मे भी कलाकार का नाम (लेखो के) अंत मे मिलता है। महोपाल के लेख मे—इम शासनं उत्कीर्ण श्री महीधर शिल्पिना-वाक्य मिलता है (ए० इ० १४ पृ० ३२०) कई लेखों के उद्धरणो से यह प्रकट होता है कि सुन्दर अक्षर लिखने के लिए विशिष्ट शिल्पी बुलाए जाते थे। सर्व साधारण के वश की बात न थी कि लेख सुन्दर रीति से उत्कीर्ण किए जायें। यही कारण है कि कुशल कलाविद् (शिल्पी) का नाम गर्व के साथ प्रशस्तियों के अन्त मे उत्कीर्ण मिलता है। निम्नलिखित उद्धरणो से यह कथन स्पष्ट हो जाता है। पाह्लण शिल्पी का वर्णन इस प्रकार है।

रजपालस्य पुत्रेण पाह्लवेण च शिल्पिना
उत्कीर्णा वर्णघटना वैदग्धी विश्व कर्मणा

(ए० इ० २० पृ० १३१)

नागवर्म नामक शिल्पी के विषय मे भी कहा गया है कि वह खोदने की कला मे निपुण था।

यशोवर्मसुतेनेय साधुना नागवर्मणा
रम्या प्रशस्तिरूत्कीर्णा कला कौशलशालिना।

(धनिक की नगर प्रशस्ति-भारत कौमुदी भा० १ पृ० २७६)

दूसरा उदाहरण सुनिए—

लिपिज्ञान विधिज्ञेन प्राज्ञेन गुण शालिना
सिंहनेय समुत्कीर्णा सद्वर्णारूप शालिना

(ए० इ० १ पृ० १४७)

उत्कीर्णा सोमनाथेन टङ्क विज्ञान शालिना
उत्कोर्णा प्रचुरसा प्रशस्तिरियमक्षरै रुचिरै।

(ए० इ० २६ पृ० २६३ भा १० पृ० ४४, भा० १ पृ० ८१)

इन सभी उद्धरणो का तात्पर्य यह है कि ७ वी सदी के बाद लेख उत्कीर्ण करने की कला सिखलाई जाती थी। विशिष्ट व्यक्ति ही कुशल शिल्पी होकर ताम्रपट्टिकाओ पर प्रशस्ति खोदा करता था।

अभिलेखो की विभिन्न भाषाएँ

प्राचीन लेखो की लिपियो क सम्बन्ध मे अग्रिम पृष्ठो मे कहा जायगा। प्रशस्ति लिखने की कला के साथ साथ भाषा के सम्बन्ध मे भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। भाषा वह है जो हम बोलते है। पुराने समय मे प्रचलित भाषा को ही

पालि

लेखो स्थान दिया गया होगा। परन्तु साहित्य का सहारा न लेकर अभिलेखो की भाषा विचारणोय प्रश्न है। साधारणतया लोगो को प्रशस्तियो की भाषा सम्बन्धी ज्ञान अपूर्ण सा है। पालि का नाम सभी लोग जानते है और इसी को बुद्ध धर्म-ग्रंथ तथा अशोक के धर्मलेखो की भाषा मानते हैं। आज २५०० वर्ष पहले मगध में जो भाषा बोली जातो थी उसका नाम 'मागधी' था। बुद्ध ने सर्व साधारण की भाषा होने के कारण इसी मागधी का प्रयोग किया जिसे अशोक ने धर्म लेखों मे प्रयुक्त किया था। चुल्ल-

वग्ग (५, ३३, १) मे ऐसा वर्णन आता है कि भगवान्ने लोगो को अपनी भाषा से बुद्ध-वचन सीखने की आज्ञा दी—अनुजानामि भिक्खवे सकाय निमत्तिया वुद्ध बचन परिया पुणितुं। कच्चायन व्याकरण मे इसका निम्न प्रकार उल्लेख है—सा मागधी मूलभाषा सम्बुद्धा चापि भासरे (भगवान् के बोलने की मूलभाषा को मागधी नाम दिया गया था) सामत पसादिका के "समसिम्म बुद्धेन वुत्तपकारो मागधको वोहारो" तथा विशुद्ध मग्ग के "मागधिकाय सबा सत्तानं मूलभासाय" उद्धरणो से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि बुद्ध ने मागधी मे ही अपना प्रवचन आरम्भ किया था। अशोक ने उसी मागधी का प्रयोग धर्म लेखो मे किया। इसलिए राजा शब्द के स्थान पर लाजा प्रयुक्त मिलता है जैसे ग्यारहवें प्रधान शिला-लेख और सातवे स्तम्भ लेख मे "देवान पिये पियदशी लाजा हेव आहा" उल्लिखित है। इसका अर्थ यह नही कि राजा शब्द का प्रयोग सदा के लिए स्थगित कर दिया गया था। मागधी का प्रयोग प्राय सर्वत्र (अशोक के साम्राज्य मे) होता रहा, केवल मगध तथा मथुरा के मध्य भाषा को अर्द्ध मागधी कहा गया है जिसमे र अथवा श का प्रयोग नही मिलता। पश्चिमी भारत मे र तथा श का ज्ञान लोगो को था।

अशोक के पश्चात् मागधी भाषा नाम प्रचलित न रहा परन्तु पालि शब्द म वह भाषा प्रसिद्ध हुई। पालिग्रथो का इतिहास यह बतलाता है कि अशोक के समय मे भी पालि का ज्ञान था। बैराट का लेख (भाब्रू धर्म लेख) बतलाता है कि विनय तथा सूत्त पिटको का वर्गीकरण हो गया था। परन्तु मौर्ययुग के पश्चात् पालि का कुछ दूसरा रूप मिला ह। कला के आधार पर यह ज्ञात है कि शुगकाल मे जातक का प्रदर्शन भरहुत तथा साची की वेदिका तथा तोरण पर क्रमश. हो चुका था। भरहुत के जातक प्रदर्शनो का नाम भी पालि मे व्यक्त किया गया है। (Levelling of the sculptures) उन सक्षिप्त पालि लेखो मे सूत्तान्तक (सूत्त का व्याख्याता) पचने कायिक (पाच निकायो का ज्ञाता) तथा पेटकिन (पिटक का जानन वाला) शब्दो का प्रयोग मिलता है। अतएव यह कहना उचित होगा कि ईसा पूर्व तीसरी सदी के बौद्ध सगीति मे सभी ग्रथो का अतिम रूप तैयार न हो सका। अशोक के पश्चात् ही पालि साहित्य का सृजन सम्भव मालूम पडता है। पालि मे र का सर्वत्र प्रयोग ह तथा मागधी की भी झलक है। पालि शब्द का सर्वप्रथम (५ सदी मे) बुद्ध घोष के ग्रंथ मे मिलता है जहा इसे दो अर्थो मे प्रयुक्त किया गया है (१) बुद्ध वचन या (२) त्रिपटक (बौद्ध साहित्य)। बुद्धघोष की जीवनी मे उल्लेख आता है कि उनके गुरु ने बुद्ध की कथाओ को सिंहली से मागधी मे रूपान्तर करने की आज्ञा दी। जिस भाषा मे सिंहली कथाओ का रूपान्तर हुआ वही पालि मानी जाती है—

कता सिहल भासाय सीहलेसु पवत्तति
तं तत्थ गन्त्वा सुत्वात्व मागधाना पवसति

(महावंस परि० ३७)

यानी मागधी का ही नाम पालि था। संस्कत भाषा मे पालि का अर्थ पंक्ति भी है लेकिन दक्षिण मे इसमे यह भाव प्रकट होता है "उन ग्रंथों की पक्तियो" जिसमे बुद्ध के मूल वचन संग्रहीत है।

डा० वेलसर पालि को पाटलि का अशुद्ध रूप मानते है जिसे (पाटलि को) पाटलिपुत्र

की भाषा कहते ये (इ० हि० क्वा० भा० ४ पृ० ७७३) पालि का अर्थ यह भी मानते है कि वह गद्य बिना विराम के शीघ्रता से लिखा जाय। जैसा चुल्लवग्ग का उद्धरण दिया गया है। 'परियाय' शब्द कई बार त्रिपटक मे प्रयुक्त है। अंगुत्तर निकाय मे परियाय शब्द बार बार आता है (धम्म परियायोति इमं धम्म परियायं, इम हि मे भन्ते धम्म परियाय। इम धम्म-परियायं (ब्रह्मजालसुत्त)। अशोक के भाब्रू लेख मे "इमानि भते धम पालियायानि——भवता बुधेन भासिते एतानि भते धम्म पलियानि" ऐसा उल्लेख आता है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि पलियाय अथवा परियाय शब्दो मे बुद्ध के उपदेश का भाव निहित है। दीघ निकाय मे भी परियाय का अर्थ बुद्धवचम समझा गया है। भगवता अनेक परियायेन धम्मो परियाय। यदि शब्दो के रूपान्तर का क्रम देखा जाय तो पता चलता है कि परियाय, पलियाय मे बदल गया जो कालान्तर मे पलीयाया अथवा पालीयाय बन गया। पालि शब्द अन्तिम पालियाय का सक्षिप्त रूप है। भाषा शास्त्रियो ने भी परियाय, पंक्ति, पाल, पल्ली, पालि आदि शब्दो को एक श्रेणी मे रक्खा है। ऐसा जान पडता है कि बुद्ध के परि निर्वाण के बाद पाली (पालि) शब्द का प्रयाग उस भाषा विशेष के लिए किया गया जिसमे (मागधी) उन्होने उपदेश दिया था। अत पालि को मागधी का उपनाम मान सकते है जिसे अशोक के धम्मलेख मे पाते है। अतएव मगध ही पालि का जन्म स्थान था। मागधी मे कुछ स्थानीय समिश्रण होकर पालि भाषा का प्रचार हुआ। अन्त मे पालि शब्द के विषय मे तीन विभिन्न मतो का उल्लेख करना आवश्यक जान पडता है। जैसा कहा गया है यह शब्द निम्न रूप मे—

पटक्ति —पन्ति —पत्ति-पट्टि-पल्लि-पालि विकसित हुआ। संस्कृत मे इसका अर्थ पक्ति से है जिसे बौद्ध ग्रथ अभिधानप्प दीपिका मे भी इसी अर्थ (पक्ति) मे प्रयुक्त किया गया है (पालि-पक्ति, वचन पन्ति पालि) दूसरा मत यह है कि पालि शब्द पल्लि से बना जिसका (पल्लि) का अर्थ है ग्राम। यानी ग्राम में बोली जाने वाली भाषा को पालि नाम दिया गया और वह नगर की भाषा सस्कृत से भिन्न थी। तीसरा मत मैक्समूलर का था और वह पालि का संबंध पाटलिपुत्र की भाषा मे मानते है। परन्तु यह मत मान्य नही है क्योंकि मगध की भाषा पालि नही थी (जैसा ऊपर कहा गया है मागधी थी) इन समस्त विचारो को सामने रखते हुए भी पालि शब्द की व्युत्पत्ति तथा विकास विवाद-ग्रस्त प्रश्न है।

पालि के जन्म-स्थान के विवेचन मे न जाकर यह कहा जा सकता है कि अधिकतर विद्वान् मागधी को ही इसका आधार मानते है। भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म प्रचार के लिए किसी विशेष भाषा का निर्देश नही किया। उनका उपदेश बोलचाल की भाषा (पालि = मागधी) मे ही सीमित रहा। पालि में ४१ वर्ण है जिसमें तालव्य श या मूर्धन्य ष नही पाया जाता। ऐ, औ, विसर्ग रेफ का पालि मे स्थान नही है। पालि बोलचाल की भाषा होने के सस्कृत से सरल थी। उस समय की बोली को प्राकृत का भी नाम दिया जाता है। कुछ विद्वान् प्राकृत शब्द को प्रकृत (आधार) से बना मानते है। अत प्राकृत भाषा तो संस्कृत की उत्तराधिकारिणी हो जाती है। संस्कृत (old-Indo-Aryan language) के बाद ही प्राकृत का प्रचलन हुआ जो स्थान या काल की विभिन्न अवस्थाओ मे परिवर्तित होती रही। यद्यपि यह पालिसमूह [दक्षिण बौद्ध धर्मग्रथ, अशोक के धर्मलेख तथा अन्य मुद्रा लेख] से कुछ भिन्न है परन्तु साधारण परि-

पालि का स्थान

भाषा मे इसे जनसाधारण की बोली ही मानते हैं जो व्याकरण के नियमो से सीमित नहीं है। महायान बौद्ध संस्कृत ग्रंथो मे भी प्राकृत का प्रयोग मिलता है। इन्डो-आर्यन समूह में प्राकृत का स्थान मध्य में रक्खा जाता है (Middle Indo-Aryan) जो ईसा पूर्व ६०० से ईसवी सन् ११०० तक तक प्रचलित रही। संस्कृत के साथ-साथ इसका प्रयोग गुप्तयुग मे भी होता रहा। शिष्ट लोगो की भाषा सस्कृत रही और उसकी प्रधानता गुप्त युग मे थी। तथापि जन साधारण प्राकृत बोलते थे। अशोक के समय मे प्राकृत न सस्कृत को कुछ सीमा तक दबा दिया था जिसका प्रमाण अशोक के धर्म लेख है।

मौर्ययुग के पश्चात् वेसनगर गरुडस्तम्भ लेख तथा शु गराजा धनदेव का अयोध्या लेख प्राकृत मे है। आश्चर्य तो यह है पुष्यमित्र शु ग के समकालीन प्रसिद्ध वैयाकरण पतजलि ने महाभाष्य लिखा किन्तु उसका प्रभाव अभिलेखो पर तनिक भी दीख नही पडता। अशोक के पश्चात् दक्षिण भारत के शासक सातवाहन वशी लेखों तथा मुद्रा लेखो में प्राकृत का ही प्रयोग मिलता है। नासिक, कन्हेरी तथा कार्ले की प्रशस्तिया प्राकृत में हैं। उनमे र तथा स के प्रयोग के साथ ञ के स्थान मे ओ का प्रयोग मिलता है। कार्लेलेख मे "रञो वासिठीपुतस सामिसिरि" (राज्ञ. वासिष्टीपुत्रस्य स्वामिश्री सस्कृत) प्राकृत मे लिखा है। ग्राम के लिए गामो उल्लिखित है। नासिक लेख मे प्राकृत मे "सातवाहन कुलयस पतिथापन करस" (यानी सातवाहन कुलयश. प्रतिष्टापन करस्य) पदवी गोतमीपुत्र शातकर्णि के लिए प्रयुक्त है। इतना ही नही सातवाहन नरेशों के सभी प्रकार के सिक्को मे तथा सभी स्थानो मे प्रचलित सिक्को के मुद्रा-लेख प्राकृत मे ही मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

प्राकृत

रञो गोतमी पुतस सिरो यञ सातकनिसि (प्राकृत में) मिलता है। जिसका सस्कृत रूप होगा—राज्ञ गोतमीपुत्रस्य श्री यज्ञ शातकर्णि।

आंध्रदेश, मध्य प्रदेश, मैसूर, पूर्वी घाट तथा सोपारा के भू भाग मे सभी मुद्रालेख प्राकृत मे हैं। इतना ही नही सातवाहन वंशी हाल नामक राजा ने प्राकृत मे गाथासप्तसती नामक ग्रंथ की रचना की। आश्चय तो यह है कि सातवाहन नरेश वैदिक धर्म के मानने वाले थे। शातकर्णि के सम्बन्ध मे उसकी रानी नायनिका ने लिखा है कि राजा ने अनेक वैदिक यज्ञ किया था। नासिक लेख मे एक ब्राह्मण (सर्वेत्कृष्ट ब्राह्मण) की पदवी गोतमीपुत्र शातकर्णि के लिए उल्लिखित है। शासन कार्य के लिए प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया। उच्च वर्ग की (शिष्ट लोगों की) भाषा होने पर भी सस्कृत का नाम भी नही मिलता। यह तो स्पष्ट है कि उस समय (दूसरी सदी मे) रामायण तथा महाभारत का अध्ययन होता था (जो ग्रंथ संस्कृत मे थे) तभी तो प्रशस्तिकार ने गोतमीपुत्र शातकर्णि की शक्ति की समता में देवता तथा मुनियो—केशव, राम, भीम, अर्जुन से की है और सागर ययाति, जनमेजय के समान तेजस्वी कहा गया है। विद्वानो का मत है कि पहली सदी ई० स० से एक तरह का मिश्रित संस्कृत का प्रचार हो रहा था जिस का स्वरूप महावस्तु तथा ललित विस्तार मे पाया जाता है। पाणिनि तथा पंतजलि द्वारा प्रयुक्त संस्कृत ईसवी पूर्व सदियों मे प्रचलित था। परन्तु लेखों में संस्कृत प्राकृत से प्रभावित था जो पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी धन—देव के अयोध्या

लेख से स्पष्ट प्रकट है। यह कहा गया है कि जनता में ईसवी सन् के बाद सस्कृत का अधिक प्रचार होने लगा। दूसरी शती के शासक महाक्षत्रप रुद्रदामन का एक शिलालेख (१५० ई०) जूनागढ से उपलब्ध हुआ है जो शुद्ध सस्कृत मे उत्कीर्ण है। उसमे "स्फुट लघु मधुर चित्र-कान्त शब्द समयोदार अलकृत गद्यपद्य" का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिम भारत के शक नरेश संस्कृत से अनभिज्ञ न थे। परन्तु कारणवश उन्हे प्राकृत का प्रयोग करना पडा था। जूनागढ के अतिरिक्त नहपान कालीन सभी लेख (नासिक, जूनार, कार्ले आदि) तथा क्षत्रप मुद्रालेख प्राकृत भाषा में है। नासिक लेख मे 'राञो क्षहरातस क्षत्रपस नहपानस लिखा है तो कार्ले मे 'रञो खहरातस खतपस नहपानस' खुदा है। जूनार मे "राञो महाखतपस सामि नहपानस" उल्लिखित है। मुद्रालेख इस प्रकार है—

राञो क्षहरातस नहपानस या राञोचहरतस नहपानस"

पश्चिमी भारत के क्षत्रप सिक्को पर निम्न प्रकार के प्राकृत शब्द सर्वत्र पाए जाते है—

प्राकृत	सस्कृत रूप
रञो	राज्ञ
सिरी	श्री
सामि	स्वामी
पुतस	पुत्रस्य
क्षत्रपस	क्षत्रपस्य
रुद्रसिहस	रुद्रसिहस्य

कालान्तर मे क्षत्रप मुद्रालेख संस्कृत से प्रभावित हुए। सिहसेनस्य (सस्कृत षष्ठी) महा-क्षत्रपस (प्राकृतरूप) के साथ प्रयुक्त पाया जाता है। पुतस के बदले पुत्रस खुदा है सत्यदाम के स्थान पर सत्यदाम्न लिखा गया। इस तरह जनता में प्रचलित मुद्राओ पर सातवाहन तथा क्षत्रप नरेशो ने प्राकृत का ही प्रयोग किया था। केवल कुछ सस्कृत प्रभावित शब्द क्षत्रप मुद्रालेख मे पाये जाते है।

उत्तर-पश्चिम भारत मे अशोक के दोनो लेख-शहबाजगढी तथा मनसेरा प्राकृत भाषा मे लिखे गए थे। उनके पश्चात् भारतीय यूनानी राजाओ ने विदेशी होकर भी इसी भाषा को अप-नाया। मिलिन्द का बिजौर का लेख तथा सभी शासको के (खरोष्ठी मे) मुद्रालेख प्राकृत मे है। "मिनेद्रस महरजस कटि अस दिवस" (बिजौर लेख) तथा "महरजस त्रतरस हेरमयस" (मुद्रालेख) उदाहरण के लिए प्रस्तुत किये जा रहे है। उनके उत्तराधिकारी पह्लव नरेशो के भी मुद्रा लेख प्राकृत मे हो अकित हुए जैसे—रजदिरज महतस मोअस; महरजस रजरजस महतस अयिलिषस। पहला लेख राजा मोग तथा दूसरा आयिलिस के मुद्रा पर खुदा है। गुद-फरस के तख्ति वहाई लेख मे भी ऐसी ही भाषा पाई जाती है—महरयस गुदुव्हरस—वेशखस मसस—(महाराजा गुदफर—वैशाख मास—का० इ० इ० भा० २ पृ० ६२)

कुषाण राजा वीम कदफिस तथा कनिष्क समूह के शासको के अभिलेख या मुद्रालेख प्राकृत मे ही खोदे गए थे। वीमकदफिस के स्वर्ण मुद्रा पर निम्न तरह से मुद्रा लेख अंकित है—

"महरजस रजरजस सवलोग ईश्वरस महीश्वरस"

कनिष्क तथा उसके उत्तराधिकारी पेशावर मे राज्य करते रहे जहा पर (उत्तर पश्चिमी प्रात, पश्चिमी पाकिस्तान) अशोक के समय से ही खरोष्ठी का प्रसार था। उस लिपि में जितने लेख है वह प्राय: प्राकृत' मे ही है। जैसा कहा गया है कि पहली सदी से ही संस्कृत का प्रयोग होने लगा था, इसलिए कनिष्क के प्राकृत लेख सस्कृत से प्रभावित हुए। कनिष्क के पजाब से उपलब्ध लेखो मे "अषडस मसस—कनिष्कस" प्राकृत भाषा मे है तो दूसरे मे "महरजस्य रजतिरजस्य देवपुत्रस्य कनिष्कस्य" मिश्रित सस्कृत + प्राकृत है। पूर्वीभाग (यानी उत्तर प्रदेश) मे कुषाण लेख संस्कृतमय मिले है। हुविष्क का मथुरा लेख (ए० इ० भा० २१) लखनऊ सग्रहालय के जैन प्रतिमा लेख (ए० इ० भा० १० पृ० ११२) तथा वासुदेव का मथुरा प्रतिमा अभिलेख सस्कृत मिश्रित प्राकृत मे है। इस तरह पता चलता है कि सस्कृत का प्रभाव बढ रहा था। बुद्ध धर्म मे भी महायान मत वालो ने सस्कृत को अपनाया। बौद्ध सस्कृत साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पालि का प्रचलन पुराना था। हीनयान और महायान बौद्धो ने पालि मे साहित्य का सृजन किया। अशोक के भाब्रु लेख की चर्चा की गई है जिसके आधार पर धार्मिक तथा साहित्य कार्यो मे पालि का प्रयोग सिद्ध होता है। ईसा पूर्व तीसरी सदी से लेकर ईसवी सन् की कई शताब्दियो तक पालि का प्रयोग सस्कृत के साथ मिलता है। पहली सदी का मथुरा लेख (ए० इ० भा० २ पृ० २००) मे काव्यमय सस्कृत पक्तियो मे खुदा है किन्तु संस्कृत मिश्रित प्राकृत कौशाम्बी के राजकीय लेख (दूसरी सदी) से मिलती है। (ए० इ० भा० १८ पृ० १५९) ईसवी सन् की तीसरी सदी से सर्वत्र राजकीय अभिलेख संस्कृत मे उत्कीर्ण होने लगे जो क्रम गुप्तयुग से पूर्णरूपेण कार्यान्वित किया गया।

ईसवी पूर्व सदियो मे पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी की रचना हुई थी और पतंजलि ने ई० पू० दूसरीसदी मे महाभाष्य लिखा। ऐसे सस्कृत व्याकरण का प्रभाव तत्कालीन अभिलेखो मे दीख नही पडता। यह कहना उचित होगा कि शासको ने उस पर ध्यान नही दिया। मिश्रित सस्कृत एवं प्राकृत लेखो का वर्णन किया गया है। क्रमश संस्कृत का प्रभाव बढता गया।

संस्कृत — सब से पूर्व रुद्रदामन के जूनागढ वाले शिलालेख मे (ई० स० १५०) प्रथम श्रेणी के सस्कृत का प्रयोग मिलता है। चौथी सदी मे गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति चम्पू भाषा मे हरिषेण द्वारा लिखी गई जिसमे उसके दिग्विजय का वर्णन है। गुप्तवंशी अभिलेख, मुद्रालेख तथा उत्तर-गुप्तयुग के समस्त अभिलेख व प्रशस्तिया सस्कृत भाषा मे ही लिखी है। दक्षिण भारत मे नागार्जुनी कोडा से सर्वप्रथम तीसरी सदी के सस्कृत लेख मिले है। दक्षिण मे वाकाटक, चालुक्य, राष्ट्रकूट तथा पालवंशी लेख भी सस्कृत मे खोदे गए। अतएवं सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि तीसरी सदी से बारहवी सदी तक भारतवर्ष मे ताम्रपत्र या प्रशस्तिया सस्कृत मे ही लिखी गई। आश्चर्य तो यह है कि गुप्तकाल मे अभिलेखो के अतिरिक्त मुद्रा-लेख भी सस्कृत मे लिखे गए और वह भी छदोबद्ध मिले हैं। उदाहरण के लिए समुद्रगुप्त की दण्डधारी तथा प्रथम कुमारगुप्त के अश्वारोही मुद्रा पर उपगीत छद मे क्रमश "समर-शत-वितत विजयो जितरिपुर-जितो दिवं जयति" और "गुप्तकुलामल चन्द्रो महेन्द्र कुमारजितो जयति"—अंकित है। द्वितीय

चन्द्रगुप्त का सिंहनिहता प्रकार के सिक्के पर वंशस्थ छंद में निम्न लेख मिलता है—

"नरेन्द्रचन्द्रः प्रथितरणो रणे जयत्यजेयो भुवि सिंह विक्रम"

प्रथम कुमारगुप्त के खड्ग निहन्ता (गैंडा मारने वाला) प्रकार सिक्के पर श्लेषात्मक शब्द का प्रयोग है तथा मुद्रा लेख छंदोबद्ध भी है। खड्ग शब्द गैंडा तथा तलवार के लिए प्रयुक्त है। इसी प्रकार चांदी के सिक्को पर छंदयुक्त लेख—विजितावनिरवनिपति' कुमार गुप्तो दिवं जयति "उत्कीर्ण है।

इसी प्रकार के छन्द्वोबद्ध लेख मध्यदेश, मध्यभारत तथा मध्यप्रदेश मे दो सौ वर्षों तक लिखे गए। तोरमाण मौखरि, हर्षवर्धन तथा कलचूरी रजत मुद्राओ पर लेख पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि सर्वसाधारण जनता संस्कृत से विज्ञ थी। अतएव गुप्त काल मे मुद्रा लेख पद्यमय तथा छदमय अंकित किए गए। इसका यह अर्थ नही कि प्राकृत का प्रयोग लेख या साहित्य मे समाप्त हो गया था। प्राकृत, (वैयाकरणो ने जिसका विवरण दिया है) संस्कृत नाटको मे प्रयुक्त है। मध्य इन्डो आयन (Middle Indo Aryan) के वर्णनात्मक साहित्य मे प्राकृत को स्थान मिल चुका था और उसमे पाच बोलिया सम्मिलित थी—महाराष्ट्री सौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा अपभ्रंश। भरत नाट्यशास्त्र तथा रुद्रट के काव्यालकार में प्राकृत का प्रयोग है। उस युग के वृहत्तर भारत की खोतानी (खरोष्टी लिपि मे) भारतीय प्राकृत का उदाहरण उपस्थित करती है। इसी के साथ हिन्दू, बौद्ध तथा जैनियो द्वारा संस्कृत का प्रयोग पुराने इन्डो आयन (Old Indo Aryan) भाषा परिवार की याद दिलाता है जो वैयाकरणो द्वारा पीढियो से सुरक्षित रक्खी गयी थी और बाद मे लोक प्रिय साधारण साहित्य मे प्रयुक्त हुई। भारतीय संस्कृति का रक्षण इन्ही भाषाओ के (संस्कृत तथा प्राकृत) द्वारा हुआ है। संस्कृत के प्रभाव से मुसलमान सुल्तान भी वंचित न रह सके। मुहम्मद गजनी ने अपने सिक्कों पर संस्कृत भाषा मे ही मुद्रा-लेख उत्कीर्ण कराया था।

प्रातीय भाषा

प्राय बारहवी सदी तक संस्कृत भाषा का प्रयोग सार्वजनिक अभिलेखो मे भारतीय नरेश करते रहे। किन्तु यह कहना यथार्थ होगा कि स्थान स्थान पर संस्कृत मिश्रित प्रातीय भाषाएँ लेखों मे प्रयुक्त होने लगी। दूसरी सदी के सातवाहन रजत मुद्रा-लेख पर प्राकृत तथा तामिल मिश्रित शब्दो का प्रयोग किया गया है। सातकर्णि राजा के सिक्को के अग्रभाग पर प्राकृत मे रञो-वासिठी पुतस सिरि सातकणिस लिखा है। संस्कृत मे लेख-राज्ञ वासिष्ठी पुत्रस्य श्री सातकर्णे पढा जायगा। किन्तु पृष्ठ भाग का लेख द्राविड भाषा मे अंकित है—अरहणस वहिट्टि माकणस तिरु हात कणिस। इसमे अरहण तथा माकण द्राविड भाषा का शब्द है। क्रमश राजा तथा पुत्र के अर्थ मे प्रयुक्त है। तिरु = सिरि (प्राकृत) = श्री (संस्कृत) के लिए प्रयोग मे लिया गया है। हात = सात यानी सातवाहन शब्द का द्राविड रूप है। हकू साहित्य तथा अभिलेख मे सातवाहन वश के लिए उल्लिखित है वहिट्टि = वासिष्ठि का प्राकृत रूप है। विद्वानो का मत है कि इसमे तामिल (द्राविड भाषा) के शब्द रूप दीख पडते हैं। यज्ञ श्री शातकर्णि के दृष्ठ भाग पर भी ऐसी द्राविड भाषा मे मुद्रालेख अंकित है। (ज० न्यू० सो० इ० भा० ९ तथा २१) छठी सदी से संस्कृत मिश्रित तामिल का प्रयोग पल्लव लेखो मे पाया जाता है। मध्ययुग से प्रातीय भाषाओं मराठी एवं हिन्दी आदि मे लेख उत्कीर्ण होने लगे।

भारतीय अंकों का विकास

मनुष्य की बुद्धि के सबसे महत्वपूर्ण (दो कार्यों की) कल्पना हमारे सम्मुख आती है। जिसमे ब्राह्मी लिपी तथा वर्तमान शैली के अंक का नाम लिया जा सकता है। भारतीय लिपि का विकास लोगो को आश्चर्य मे डाल देता है। भारतवर्ष की लिपि हजारो वर्षो से अपना स्थान बना चुकी थी, वैसी उत्तम, स्थिति किसी अन्य लिपि को प्राप्त नही थी। ब्राह्मा के ध्वनि तथा अक्षरो मे साम्य है यानो पूर्णरूपेण वैज्ञानिक ढंग पर विकसित हुई। इसी तरह अक के भी मूल्य आके जा सकते है। आरम्भ मे ससार को अंक विद्या अवैज्ञानिक थी। कही अक्षर अक के लिए काम मे लाए जाते तो कही १-९ तक के पृथक-पृथक चिह्न थे। भारत मे भी अंको का प्राचीन क्रम यही था। इस जटिल अक-क्रम से गणित विद्या मे विशेष उन्नति नही हो सकती थी, अत. यहाँ के विद्वानो ने वर्तमान अक-क्रम को निकाला जिसमे १ से ९ तक के नव अक एव खाली स्थान सूचक शून्य—इस दस चिह्नो से अक विद्या को पूर्ण बनाया। भारतवर्ष के इस अंक-क्रम को ससार ने सीखा और वर्तमान समय मे गणित तथा तत्सम्बन्धी अन्य शास्त्रो की उन्नति हुई।

शिला लेख, दानपत्रो तथा सिक्को के देखने से पता चलता है कि लिपियो की तरह प्राचीन तथा अर्वाचीन अको मे भी अन्तर है। आकृति के अतिरिक्त अंक लिखने मे भी भेद है। प्राचीन ढग मे शून्य के लिए कोई स्थान न था। दहाई, सैकडे, हजार के लिए पृथक चिह्न थे। किन्तु नवीन शैली पूर्ण है जिसमे शून्य का व्यवहार तथा स्थान का मूल्य ज्ञात है।

प्राचीन काल मे अक १ से ९ तथा १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९० तक के नव दहाइयो के लिए नव और १०० के अलग-अलग चिह्न थे। एक हजार का भी पृथक चिह्न था। लाख करोड के लिए अभिलेखो मे कोई चिह्न नही मिलता। ११ से ९९ तक लिखने का क्रम ऐसा था कि पहले दहाई के अक-चिह्न बाद मे इकाई का अक लिख दिये जाते थे। जैसे २५ के लिए २० का चिह्न और ५ का। ९३ के लिए ९० के चिह्न के साथ ३ रक्खा जाता। २०० से लिए १०० के चिह्न मे ऊपर मध्य या नीचे सीधी रेखा जोड दी जाती थी। ९९५ के लिए ९००, ९० तथा ५ के चिह्न काम में लाए जाते थे। १, २, ३, के लिए क्रमश १, २ या ३ आडी लकीर का प्रयोग होता था जो आगे चलकर वर्तमान १, २, ३ बन गया। ४ से १००० तक के लिए चिह्न अक्षरो मे मिलते जुलते हैं। यानी अक्षर लिखकर अक व्यक्त किए जाते थे। उदाहरण के लिए ५ पु मे, ६ द से, ७ ड की मात्रा से तथा ८ ट मे मिलता है। इसका तात्पर्य यह नही है कि सब अंक अक्षरों से ही बतालाए जाते रहे। आरम्भ मे अंकों का भी जन्म मौर्य काल से पाया जाता है।

प्राचीन अक

भगवान लाल इन्द्र जी का मत था कि अक अक्षर या संयुक्ताक्षर के सूचक हैं। पश्चिमी विद्वानो मे व्यूलर तथा बर्नेल भी यह सिद्धान्त मानते थे। वेले का मत था कि भारत के अंक मिश्र या फिनिशिया से ग्रहण किये गए (जैसा ब्राह्मी के सम्बन्ध में कहा गया है) पं० गोरी शंकर ओझा का मत था कि भारतीय अंको को कल्पना ब्राह्मणो ने की। विदेशी चित्र-अक तो जटिल थे। १ से ९ तक नव खड़ी लकीर तथा १९ के लिए १० के चिह्न की बाई

और ९ खडी लकीरें खीचते थे। पीछे से मिश्र वालों ने भारतीय अंक जैसा नवीन क्रम तैयार किया।

ऊपर जैसा कहा गया है नवीन शैली मे १ से ९ तक के लिए नव अक तथा खाली स्थान का सूचक शून्य है। इसी से अंक विद्या का समस्त व्यवहार चलता है। इसमे प्रत्येक अक सख्या के ही ईकाई सूचक नही हैं परन्तु ईकाई, दहाई, सैकडा तथा हजार आदि स्थानो पर आ सकते हैं। यानी स्थान के मूल्य की नवीन कल्पना प्राचीन काल मे उपस्थित की गई। इस तरह दाहिनी ओर से बाई ओर अंक हटने से प्रत्येक अंक का स्थानीय मूल्य दस गुना हो जाता है। इसी को दशगुणोत्तर संख्या कहते है और वर्तमान काल मे ससार भर का अक क्रम यही है।

भारत में शब्द तथा अंक मे तिथि का उल्लेख प्रशस्तियो मे किया गया है। अशोक के रूपनाथ शिला लेख मे २०० + ५० + ६ लिखा है। मिलिन्द कालीन (ई० पू० ११५) शिनकोट लेख में ब्राह्मी मे १४ के लिए १० + ४ उपयुक्त नही है किन्तु ४ + ४ + ४ + १ + १ लिखा है। मथुरा अथवा पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप लेखो मे पुरानी शैली के अक-क्रम से तिथियाँ लिखी हैं। ७३ के लिए ७० + ३ (सोडास का लेख) : २६ के लिए २० + ४ + १ + १ (गुदफर का तख्तवहाई शिलालेख) १३४ के लिए १०० + २० + १० + ४ (कलवान ताम्रपत्र) १८ के लिए १० + ४ + ४ (कनिष्क का मानिकियाला लेख) ४६ के लिए ४० + ६ (जूनार का लेख), ८२ के लिए ८० + २ (चन्द्रगुप्त का उदयगिरि का गुप्त लेख); ११३ के लिए १०० + १० + ३ (प्रथम कुमार गुप्त का धनैदह ताम्रपत्र) तथा २२४ के लिए २०० + २० + ४ (दामोदरपुर का ताम्रपत्र) का तिथि- क्रम यह बतलाता है कि मौर्य युग से लेकर ई० स० छठो सदी तक प्राचीन शैली के अक प्रस्तुत होते थे जिसमे अंक-स्थान-मूल्य का अभाव था।

अक लिखने का इतिहास यह बतलाता है कि भारतीय अंक को तीन भागो मे विभक्त कर सकते है। (१) खरोष्टी अक (२) ब्राह्मी (३) शब्द तथा अक्षर। खरोष्ठी अक ईसवी पूर्व ४०० से तीसरी सदी तक कई अभिलेखो मे मिलते है जिनको भारतीय यूनानियो ने गान्धार प्रदेश मे उत्कीर्ण कराया था। ब्राह्मी अंक अशोक से पहले के मिले नही है। सातवाहन राजा के नाना घाट लेख में अधिक अंक खुदे हैं। जिसमे १ से ९ तक के अंक अंकित है। शक वशी के लेखो तथा मुद्राओ पर अधिक मात्रा मे अंक खोदे गये थे। नासिक के गुहा लेख मे पर्याप्त परिष्कृत अक मिलते हैं। उन लेखो मे ९ से अधिक अंक नही मिलते। शून्य के अभाव मे उन अंको का स्थान मूल्य निश्चित नही किया जा सकता। प्रत्येक संख्या को पृथक-पृथक अंक लिखकर व्यक्त किया जाता था। तीसरी शैली शब्द तथा अक्षर द्वारा अंक व्यक्त करने की की थी। यह हिन्दुओ की पूर्ण वैज्ञानिक व्यवस्था थी। ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मस्फुट--सिद्धान्त मे अंक के लिए शब्द का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए शक ८६७ लिखने के लिए गिरि (= ७) रस (= ६) तथा बसु (= ८) शब्दो द्वारा उस सख्या को व्यक्त किया गया है। उन शब्दों को दाहिने से बाएं पढा जाता था। उस

अक व्यक्त करने की प्राचीन भारतीय शैली

स्थिति मे शब्द द्वारा पूर्णरीति से अंक लिखने की परिपाटी काम कर रही थी। सर्वप्रथम कात्यायन श्रौतसूत्र में इसका प्रयोग हुआ परन्तु इस परिपाटी का जन्मदाता अज्ञात है। वराहमिहिर ने भी बृहत्संहिता (अध्याय ८) मे शब्दो द्वारा अक व्यक्त किया है। सख्या–७, अश्विन–२, वेद–४ = ४२७ शक काल) दिल्ली सग्रहालय के एक लेख से उपरियुक्त विषय की पुष्टि होती है। इसमे १३८४ विक्रम के लिए निम्न पद्य मिलता है (ए० इ० भा० १ पृ० ९४)

वेदवस्वग्नि चन्द्रार्क सख्येब्दे विक्रमार्कत

पचम्या फाल्गुन सिते लिखित भौमवासरे

(वेद—४, वसु—८, अग्नि—३ तथा चन्द्र—१ को दाहिने से बाँए पढने पर स० १३८४ हो जाता है।)

वैदिक साहित्य को छोड कर ज्योतिष तथा गणित सम्बन्धी ग्रथो मे संख्या सूचक साकेतिक शब्द मिलते है जो मनुष्य के अग, ग्रह, नक्षत्र आदि के सख्या के आधार पर कल्पित किए गए थे। निम्न प्रकार के सकेत मिलते है—

० = आकाश (क्योकि आकाश खाली होता है)
१ = चन्द्र, धरा आदि (जिनकी सख्या एक है)
२ = नेत्र, पक्ष, बाहु आदि (जो दो हो मिलते है)
३ = राम, गुण, लोक आदि (तीन समझे गए हैं)
४ = वेद, दिशा, आश्रम (इनकी सख्या चार है)
५ = पाण्डव, रत्न आदि (जो गिनती मे पाँच है)
६ = रस, दर्शन (षट् रस या षडदर्शन ६ है)
७ = ऋषि, वार (सप्तर्षि, सात दिन)
८ = मगल, दिग्गज (अष्टमागलिक या आठ दिशाओ के हाथी)
९ = ग्रह, निधि (नवग्रह या नवनिधि से ९ का बोध होता है)
१० = दिशा अवतार। (दश दिशा या दश अवतार)
११ = रुद्र, (रुद्र ग्यारह माने जाते है)
१२ = मास, राशि (बारह महीना या बारह राशि)
१५ = तिथि (पक्ष मे पद्रह तिथियां होती है)
२४ = गायत्री
३२ = दत (मनुष्य के बत्तीस दात होते है)

इस तरह शब्दो द्वारा अक बतलाने की परिपाटी पुरानी है।

आर्यभट्ट ने अक्षर द्वारा अक लिखने की परिपाटी निकाली। फ्लीट का मत था कि उन्होने यूनान से अनुकरण किया (ज० रा० ए० सो, १९११ पृ० ७२५) परन्तु निम्नलिखित बातो से प्रकट होता है कि आर्यभट्ट ने किसी आर्य से पृथक जाति का नकल नही की। आर्यभट्ट ने व्यंजन से ही अक को व्यक्त किया क्योंकि उनका मत था कि स्वर स्थायी नही रहते किन्तु व्यजन मे छिप जाते है। १ से ९ तक संख्या को अक पल्ली तथा दसवें शून्य को सून्य विन्दु (या शून्य) कहते थे। शून्य के सम्बन्ध मे कहना कठिन है कि किस विद्वान् ने इसे

जन्म दिया या शून्य बिन्दु की कल्पना उसे सूझी। इसमे संदेह नही है कि अंक का स्थान-मूल्य भारतीय है और दशगुणोत्तर अंक क्रम को (दशमलव शैली) भारत से ही योरप तथा अरबवालो ने सीखा। इसीलिए अरबी मे इसे हिन्दसे कहते है।

साहित्यिक तथा अभिलेखो के अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि ५०० ई० से शून्य का प्रयोग होने लगा था जिससे अंको के स्थान-मूल्य निश्चित हो सका। आर्यभट्टीय के गणित पाठ में वर्तमान अंक प्रणाली का आरम्भ दिखलाई पडता है। बख्शाली (अंक गणित) पोथी मे नवीन शैली के अंक मिले हैं (यानी चौथी सदी में इसका व्यवहार था) वराहमिहिर ने (छठी सदी) वृहत्संहिता मे अंक पर लिखते समय शून्य का प्रयोग किया है। वाण ने वासवदत्ता के सम्बन्ध मे आकाश के तारे को शून्य के सदृश बतलाता है। ब्रह्मगुप्त ने (सातवी सद) शून्य पर विचार किया था। ७ वी सदी में शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र की टीका मे इकाई तथा दहाई का उल्लेख दिलता है। गणितसार सग्रह (८३० ई०) मे लेखक ने शून्य पर अपना विचार व्यक्त किया है। श्री हर्ष ने नैषध चरित मे शून्य बिन्दु कहकर शून्य का विवरण दिया है तथा दमयन्ती के कान को उपमा नव अक से दी है (७-६६)। इस तरह साहित्य ग्रन्थो मे पता चलता है कि पाचवी सदी के बाद शून्य की कल्पना गणित मे आ गई थी जिसके सहारे स्थान-मूल्य को निश्चित करने मे सरलता हो गई। सुधार द्विवेदी ने यह मत व्यक्त किया है कि शाके ४२० तक हिन्दुओ मे १ से ९ तक ही अक दिखलाने का प्रचार था (गणित का इतिहास पृ० ३८)।

दशमलव प्रणाली

जहा तक अभिलेखो का सम्बन्ध है नवीन शैली के अक कलचुरी सम्वत् ३४६ (= ५९४ ई०) के गुर्जर लेख मे व्यवहृत दिखलाई पडते है। यही सब से प्राचीन लेख है जहा अंक स्थान-मूल्य की कल्पना वैज्ञानिक ढग पर मिलती है। इस तरह के अनेक लेख प्रकाश मे आए है जिनमे दसवी सदी तक नवीन शैली के अंक (स्थान मूल्य सहित) उल्लिखित है (ई० हि० क्वा० भा० ३ पृ० ११८) इससे पता चलता है कि छठी सदी से पहले भारतीय जनता स्थान मूल्य द्योतक अक क्रम से परिचित न थी। ग्वालियर के लेख (सम्वत् ९३३) मे शून्य स्पष्ट रूप से लिखा है उस मे पचास वर्तमान अक की तरह पाच पर शून्य लिख कर अकित है। इन सभी प्रमाणो से विदित होता है कि दशगुणोत्तर अंक क्रम भारतीय है तथा शून्य और अंक स्थान मूल्य के सिद्धान्त को पश्चिम वालो ने भारत से सीखा। यदि वर्तमान अको के आकार पर विचार किया जाय तो पता चलता है कि नानाघाट तथा नासिक लेखो मे अंकित अंको से वर्तमान अंक विकसित हुए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वर्तमान नागरी अंक ब्राह्मी लेखो मे उल्लिखित ब्राह्मी अँको से विकसित हुए। नानाघाट (पूना के समीप) का लेख ई० पू० दूसरी सदी का है तथा नासिक गुहा लेख दूसरी सदी का। विकास का क्रम निम्न प्रकार से है। यानी

नागरी अंक १—अशोक के १ से (खडी लकीर से।)
नागरी अक २—नानाघाट के २ (दो = पडी लकीर से)
,, ,, ३—नानाघाट के ३ (तीन = पड़ी लकीर से)
,, ,, ४—नासिक गुहा ४ से

,, ,, ५—प अक्षर से

,, ,, ६—अशोक के ६ से

,, ,, ७—नानाघाट के ७ से ।

,, ,, ८—नासिक गुहा के ८ से ।

,, ,, ९—नानाघाट या नासिक गुहा के ९ से

" शून्य ० —वृत्त से या नानाघाट के दस के चिन्ह से (दस का चिन्ह नागरी अक ०—की तरह होता है)

ये सब चालुक्य, परमार, कलचुरी लेखो से प्राप्त अंको से मिलते-जुलते है । इस तरह यह ज्ञात होता है कि अंक लिखने की जो भी परिपाटी थी, दसवी सदी से उनका स्वरूप निश्चित हो गया और सभी सर्वथा नागरी अंक हो गए ।

अध्याय ९

अभिलेखों में आर्थिक-विवरण

प्राचीन भारत मे न केवल आध्यात्मिक उन्नति पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी किन्तु भौतिक क्षेत्र मे भी पर्याप्त प्रगति दृष्टि मे आती है। उस समय के अभिलेखो मे सामाजिक विषयो पर चर्चा करते समय प्रशस्तिकार आर्थिक वर्णन भी उपस्थित करता था। जनता द्वारा दान देने की प्रणाली मे प्राचीन समय के वैभव तथा सुखी जीवन का अनुमान लगाया जा सकता है। धन तथा भूमि दान से लोगो के सतोषप्रद आर्थिक-स्थिति का परिज्ञान होता है। मौर्य सम्राट् अशोक ने अपनी धार्मिक नीति के कारण भारतीय आर्थिक स्थिति का पतनोन्मुख कर दिया। उसके पश्चात् शुग एवं सातवाहन नरेशो ने आर्थिक नीति को सुदृढ किया तथा पर्याप्त सख्या मे सिक्के प्रचलित किये। ग्रामीण कलाकारो ने विभिन्न केन्द्रो पर कार्य कर स्थिति मे सुधार किया जिससे जनता मे सन्तोष की भावना आई। गुप्त काल मे सारी अर्थ व्यवस्था उन्नति हो गई। गुप्तकालीन एक लेख मे वर्णन आता है कि साम्राज्य मे कोई भी अति दरिद्र तथा दुखी न था—

आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्ड् न वा यो भृश पीडित स्यात्
(स्कन्द का जूनागढ लेख-का० इ० इ० ३ पृ० ५८)

दानपत्रो के विवरण से जनता की प्रचुर सम्पत्ति का ज्ञान हो जाता है। यद्यपि मौर्ययुग से लेखो मे प्रसगवश आर्थिक विषय का उल्लेख पाया जाता है परन्तु मध्ययुग से (७०० ई०) भूमिदान की जनता की आर्थिक स्थिति का द्योतक है।

भारतवर्ष सदा से कृषि प्रधान देश रहा है और जनता के जीविकोपार्जन का प्रधान साधन कृषि कर्म ही था। सभी प्रकार के अन्न तथा फल यहाँ पैदा होते थे जिनका नाम प्रशस्तियो मे मिलता है। यद्यपि अशोक धर्म शासन मे फलो का उल्लेख नही है परन्तु दूसरे शिलालेख मे निम्न पंक्ति से पता चलता है कि फलो के वृक्ष स्थान-स्थान पर लगाए गए थे—

मूलानि च फलानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च (दूसरा शिलालेख)

मौर्ययुग के पश्चात् प्रशस्तियो मे धर्म या विजय सम्बन्धी विवरण मिलता है। मध्य युग के आरम्भ से दान सम्बन्धी आज्ञा पत्रो मे भोजन सामग्रियो का नाम भी यत्र-तत्र पाया जाता है। नालदा के ताम्रपत्र मे "सम्यग् बहुधृत दधिभि व्यञ्जनै युक्तमन्नम्" (ए० इ० २० पृ० ४४) का वर्णन नाना प्रकार के व्यंजन युक्त भोजन का परिज्ञान करता है। पालवशी आमगाछी दानपत्र के वर्णन से प्रकट होता है कि नीची भूमि का दान उत्तम समझा जाता था ताकि उसमे खेती हो सके और वर्षा के जल ने पृथ्वी उर्वरा हो जाय। (ए० इ० १५ पृ० २९७)। गहडवाल लेखो मे गन्ना, आम्र, महुआ (मधूक) आदि वृक्षो का वर्णन पाया जाता है (ए० इ०

१६ पृ० १३) इससे ज्ञात होता है कि अन्न तथा फल की पैदावार होती थी। खेती का समुचित प्रबंध था। तात्पर्य यह है कि दानकर्त्ता कृषि योग्य भूमि को ही दान देता था ताकि दानग्राही खेती से अन्न उत्पन्न कर सके।

भूमि की सिंचाई की ओर राजा का भी ध्यान रहता था और लेखो मे सिंचाई निमित्त झील, नहर तालाब तथा बाँध के निर्माण का वर्णन मिलता है। मौर्ययुग से ही शासक सिंचाई का प्रबन्ध करता रहा। चन्द्र गुप्त मौर्य ने काठियावाड मे गिरनार पर्वत के नीचे एक विशाल झील बनवाया जिसकी उपयोगिता इतनी अधिक थी कि पिछले सम्राटो ने (४०० वर्ष बाद) मरम्मत कर उस पर बाँध बँधवाए। मेगास्थनीज ने भी सिचाई के विषय मे उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र मे तो मौर्यकालीन सिंचाई का विस्तृत वृतात पाया जाता है (२।२३) ई० सन् १५० के महाक्षत्रप रुद्रदामन के गिरनार लेख मे उसी झील का सविस्तृत वर्णन निम्न प्रकार से मिलता है।

सिंचाई का प्रबंध

मौर्यस्य राज्ञ: चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन
पुष्य गुप्तेन कारित, अशोकस्य मौर्यस्य यवनराजेन
तुषास्फेनाधिष्ठाय प्रणालीभिरलकृत कृत ।

लेख के आरम्भ मे ही सुदर्शन नामक तालाब का वर्णन है जिसके चारो तरफ बाध बधे थे। परन्तु समीप के पहाड से निकली नदियो मे ऐसे वेग से पानी आया कि वह बाध टूट गया (सलिल विक्षिप्त जर्जरीकृतावदीर्ण क्षिप्ताश्म वृक्ष गुल्म लता प्रतानं आ नदी तलादित्युद्घाटितमासीत्) इसलिए रुद्रादासन ने उस बाध की मरम्मत करवाई और तिगुना मजबूत बाध का निर्माण हुआ। यद्यपि इस कार्य मे उसके मत्रीगण विरोध करते रहे परन्तु अपने निजी धन से इस कार्य को उसने सम्पन्न किया (ए० इ० ८ पृ० ४२–स्वस्मात्कोशा महता धनौघेन अनित महता च कालेन त्रिगुण-दृढतर-विस्तारायाम सेतु विधाय) उस भाग मे तालाव से अत्यधिक सिंचाई होती रही, यही कारण है कि पाचवी सदी मे गुप्त शासक स्कन्द गुप्त ने भी उस सुदर्शन झील की मरम्मत कराई। जूनागढ के लेख मे निम्न वर्णन मिलता है—

अथ क्रमेणाम्बुद काल आगतं
निदाघ-काल प्रविदार्य तोयदे
ववर्ष तोयं बहु संततं चिरं
सुदर्शन येन बिभेद चात्वरात्
अपीहलोके सकले सुदर्शनं
पुमा हि-दुर्दर्शनता गत क्षणात्
अ-जाति-दुष्टम्प्रथित तटाक
सुदर्शन शाश्वत-कल्प कालम्

(जूनागढ लेख का० इ० इ० ३ पृ० ५८)

तात्पर्य यह है कि जिस समय सुदर्शन झील को नदियो को बाढ ने नष्ट किया, उस समय के शासको ने उस बाध की मरम्मत करवाई ताकि वह सदा सुदर्शन (देखने में सुन्दर) बान

रहे। उसकी उपयोगिता ही एक मात्र कारण थी। दक्षिण के सातवाहन नरेश पुलवावि के रज्यकाल मे सिंचाई के लिए तालाब बनाने का उल्लेख किया गया है। (ए० इ० भा० १४ पृ० १५५)

पूर्वी भारत मे जल के कारण नहर की कम आवश्यकता थी तथापि खारवेल ने हाथी गुम्फा लेख मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि राज्याभिषेक के पाचवे वर्ष मे राजधानी तक नहर तैयार किया ताकि जनता लाभान्वित हो सके।

अघोटिटत तनसुलिय वाटा पणाडि नगर पवेसयति
(ज० वि ओ० रि० सो० भा० १३ व० १४ पृ० २२१ व १५०)

गुप्तयुग तक राजाओं का ध्यान नहर निर्माण की ओर था परन्तु ७ वी सदी से लेखो मे तालाब निर्माण का अधिक वर्णन पाया जाता है। मगध नरेश आदित्य सेन की स्त्री कोणदेवी ने एक तालाब का निर्माण किया जो सम्भवत सिंचाई के लिए उपयोगी था [तस्यैव प्रिय भार्यया नरपते श्री कोण देव्या सर-अपसद का लेख का इ० इ० भा० ३) पूर्व मध्ययुग की प्रशस्तियो तथा दानपत्रो मे जल के साथ अग्रहार भूमि का वर्णन आता है। इससे यह प्रकट होता है कि गहडवाल तथा चन्देल शासको ने तालाव तथा नहर के साथ भूमि दान मे दी था। दानग्राही का भी कार्य उससे सरल हो जाता तथा समय से खेतो को सिंचाई हो जाती थी। राजपुताने के एक चहमान लेख मे प्रत्येक अरहट की सिंचाई के लिए एक हाटक (हारा अन्न का एक माप) अन्न (यव) 'कर' के रूप मे लेने का वर्णन है (अरहट प्रति प्रदत्त द्रा १–ए० इ० भा० ११ दृ० ३३)। इस तरह के सिंचाईयो का वर्णन लेखो मे अधिकतर मिलता है (ए० इ० ११ पृ० ४६ व० ५१) वलभी लेख मे विवरण मिलता है कि ध्रुवसेन प्रथम ने तीस पादावर्त माप के क्षेत्र की सिचाई निमित्त एक कुआ तैयार किया था। सम्भवत एक वापी से ही उस भाग की सिचाई पूरी हो जाती थी। गुर्जरप्रतिहार राजा महेन्द्रपाल ने नदी के किनारे भूमि का दान दिया था और सिंचाई के लिए रहट का प्रबध किया जिससे दानग्राही उस अग्रहार भूमि को सिंचाई से उर्वरा कर सके। (ए० इ० १४ पृ० १८१) मध्ययुग मे सिंचाई के लिए शासक द्वारा 'कर' लगाया गया था इसीलिए परमार राजा चामुण्डराय की प्रशस्ति मे एक रहट पर एक हाटक (कर) का वर्णन है (ए० इ० १४ पृ० २१०) उत्तर प्रदेश के देवल प्रशस्ति मे नहर निर्माण का सुन्दर वर्णन पाया जाता है। शासक ने नदी से राजधानी तक नहर तैयार किया ताकि बाग-बगीचे की सिंचाई सरल हो जाय। (स्वपुरी सन्निधौ रम्या पुण्या कठनदी कृता–ए० इ० भा० १ पृ० १६) महेन्द्रपाल द्वितीय के प्रतापगढ अभिलेख मे उल्लेख आता है कि एक मोट से सीचने योग्य भूमि को दान दिया गया था (द्वितुल्लाक क्षेत्रं शासनेन प्रदत—ए० इ० १४ पृ० १८७) उसी प्रसंग में दस माणि (स्यात् मन) बीज द्वारा बोने वाले खेत के दान का विवरण है। वर्तमान आकडे के अनुसार एक मन बीज एक बीघा के बोने मे पर्याप्त समझा जाता है। अतएव दस बीघा जमीन की सिंचाई एक मोट से की जाती थी।

इस प्रकार नहर, तालाब कुंआ, अरहट तथा मोट की सहायता से पुराने समय मे खेतो की सिंचाई होती थी।

भारतीय अभिलेखो मे गुप्त युग से ही खेतो के माप का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता

है। भूमि को दान देते समय दानकर्त्ता के लिए क्षेत्र की सीमा तथा उसके माप का स्पष्ट उल्लेख करना नितान्त आवश्यक था। जिस भूभाग को दानग्राही स्वीकार करता उसी क्षेत्रफल से 'कर' ग्रहण करता था तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे बधक भी रखता। यही कारण है कि खेत को माप कर ही दान मे दिया जाता था। गुप्त युग से बारहवी सदी तक के दानपत्रो (ताम्रपत्रो) मे माप का दो रूपो में उल्लेख मिलता है। पहली श्रेणी मे खेत की लम्बाई चौडाई नापने के साधन का नाम उल्लिखित ह जो लेखो म विभिन्न नाम से उत्कीर्ण है। जैसे हल, पादावर्त, हाथ निवर्तन, नल या नालक। द्वितीय श्रेणी मे पैमाइश के उस साधन के नाम है जो बीज बोने के माप से वर्णित किए गए है। उमे पाटक, द्रोण, माणि, कुल्यवाप आदि। इन मापो का उपयोग कर भूमि दान मे दी जाती थी।

क्षेत्र का माप

हल शब्द से स्पष्ट प्रकट होता है कि एक हल से जितना भूमि जोत मे रक्खी जाय उस माप का नाम हल था। उत्तरी या दक्षिणी भारत मे अधिकतर लेखो मे हल का नाम मिलता है (हलस्य भू—ए इ १ पृ १६७, भा ३ पृ १२८)। राजपुताने के एक लेख मे भी ऐसा ही उल्लेख आया है (ए०इ० ११ पृ० ४७) पच हलानि वहिष्कृत्य शेष भूमि शासनी कृत्य प्रदत्ता' (ए० इ० २० पृ० १२९) के वाक्य से स्पष्ट हो जाता है पाँच हल से जोतने योग्य भूमि को छोडकर खेत का शेष भाग दान मे दिया जाय। कागरा के कुछ लेखो मे भी।

हल

(१) इहत्येन नवग्राम दत्ता चात्र हलार्ध भू (ए. इ भा १ पृ १०६)

(२) भूमिश्च हल चतुष्टय योग्या दत्ता नवग्रामात् (ए०इ० १ पृ० ११५)

(३) हल वाहनीया दत्ता भूमि (ए इ १ पृ १०१)

अत उद्धरणो मे यह निश्चित हो जाता है कि एक हल मे जोत वाली भूमि का अर्थ था जिमकी लम्बाई चौडाई के सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नही।

दूसरे माप को पादावर्त कहते थे जिसका वर्णन बलभी दानपत्रों मे मिलता है। बारह पादावर्त की भूमि एक कुंआ से सीचने योग्य समझी जाती थी (ए. इ ११ पृ. ११२ व ११४)। एक पादावर्त भूमि एक वर्ग पाद (= ९इञ्च) के बराबर मानी गयी है और तीन सौ पादावर्त आठ खन्ड के समान माप मे समझा जाता था (खत्र खन्डान्यष्टौ यत्र पादावर्त शतत्रय—ए इ. भा. ३ पृ ३२१)।

पादावर्त तथा हस्त

चन्देल तथा गहडवाल लेखों में हस्त (= हाथ) का नाम क्षेत्र माप के लिए प्रयुक्त किया गया है। ग्वालियर लेख मे "परमेश्वरीय हस्त" का उल्लेख है। सभवत किसी व्यक्ति विशेष के हाथ की लम्बाई प्रामाणिक समझी गई जिस कारण उसका नाम हस्त के साथ जोड दिया गया हो। हस्त को 'कर' भी कहते थे। केहुना से मध्य अगुली का अन्तिम सीमा = २४ अंगुल तात्पर्य यह था कि १८ इञ्च से कम का हस्त नही हो सकता था। इसके आधे भाग को पाद कहते थे। जिसके कारण एक वर्ग पाद 'पादावर्त' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रतिहार लेख मे भी हस्त माप का प्रयोग उल्लिखित है (सियादोनी लेख—ए० इ० भा० १) गहड़वाल

नरेश गोविन्दचन्द्र के पाली दानपत्र में चार सौ हस्त भूमि को एक नालुक (= नालक=नल) कहा गया है (ए० इ० भा० ४ पृ० २४९)। सम्भवत नल (= ११८ इञ्च) एक डंडा होगा जिसकी लम्बाई से भूमि नापी जाती थी (ए० इ० १४ पृ० १५८)। परन्तु नालुक शब्द का कुछ भिन्न तात्पर्य होगा जो चार सौ हाथ लम्बी भूमि के लिए प्रयुक्त किया गया है।

निवर्तन

प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट प्रशस्तियों में निवर्तन शब्द क्षेत्र-माप के लिए प्रयुक्त हैं (ए० इ० ४ पृ० ६०)। बासखेरा लेख मे सौ निवर्तन भूमि के दान का उल्लेख है (भू निवर्त्तन शतैक—ए० इ० ११ पृ० १८२)। परन्तु निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है कि इससे किस क्षेत्रफल का परिज्ञान होता था।

कुल्यवाप-द्रोणवाप तथा पाटक

क्षेत्रफल माप से सर्वथा भिन्न खेतों के नापने का वर्णन 'बीज-माप' से भी किया गया है। गुप्त प्रशस्तियो मे 'कुल्यवाप' शब्द का अधिक प्रयोग मिलता है। दानपत्र, क्रय तथा विक्रय के प्रसग मे यही शब्द बार बार प्रयुक्त है। दामोदरपुर, वैग्राम, फरीदपुर तथा पहाडपुर के लेखो मे यह शब्द क्षेत्रमाप के लिए उल्लिखित हैं (ए० इ० १५, भा० २१ पृ० ८१, भा० २० पृ० ६१, मुकुर्जी जुबिली ग्रथ भा० ३)। निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत है—

(अ) क्षेत्रस्य कुल्यवापमेकस्य—दामोदरपुर
(ब) त्रिदीनारिक्य कुल्यवाप विक्रय मर्यादा—पहाडपुर
(स) खिलक्षेत्र-कुल्यवाप त्रयं—वैग्राम ताम्रपत्र
(द) कुल्यवापेन क्षेत्राणि विक्रीयमानकानि—फरीदपुर

स्पष्ट है कि पाचवी सदी से ही कुल्यवाप क्षेत्र मात्र के लिए उत्तरी भारत मे प्रयोग होता रहा। इस शब्द के दो खण्ड है, कुल्य + वाप। कुल्य की समता एक टोकरी से की जाय तो इसका अर्थ होगा कि एक टोकरी बीज के बोने योग्य भूमि (कुल्य = टोकरी, वाप = बोना) पाचवी सदी के लेखो मे द्रोण शब्द का भी प्रयोग उसी माप के लिए मिलता है जो कुल्यवाप से छोटा माप था। आठ द्रोण एक कुल्य बीज के बराबर था। इसलिए द्रोण मात्र बीज बोने योग्य भूमि को द्रोणवाप कहा गया है। बैजनाथ की प्रशस्ति मे द्रोण के धान्य से बोई भूमि को दान मे देने का वर्णन है (धान्य द्रोण द्वय शिवे—ए० इ० भा० १ पृ० १०६)। "यवाना द्रोण एकादश" (ए० इ० भा० १, पृ० १५९) भी वाक्य द्रोण को बीज (अन्न) का माप बतलाता है, इसीलिए द्रोणवाप क्षेत्र का माप समझा गया (एरण लेख—इ० हि० क्वा० भा० ४ पृ० ५३)। गुनैधर ताम्रपत्र (एकादश खिल पाटका—इ० हि० क्वा० ६, पृ० ५३) तथा सेन वंशी राजा वल्लालसेन के नईहटी लेख मे द्रोण के साथ पाटक शब्द भी माप के लिए उल्लिखित है। वैन्यगुप्त के लेख मे भी निम्न विवरण है—

यत्रैक क्षेत्रखण्डे नव द्रोण वाप अधिक
सप्त पाटक परिमाणे सीमा लिङ्गानि
(गुणैधर का ताम्रपत्र लेख—ए० इ० १४ पृ० १४८)

इससे प्रकट होता है कि पाटक द्रोण से बडा क्षेत्र स्वीकृत था। समस्त प्रशस्तियों का परीक्षण यह बतलाता है कि—

८ द्रोण = १ कुल्यवाप
५ कुल्यवाप = १ पाटक (= ४० द्रोणवाप)

यह माप प्रामाणिक समझा गया है। अनुमानत एक कुल्यवाप सोलह मन अन्न का माप था जिसके द्वारा चौदह बीघा खेत बोया जाता था। पार्जिटर ने बिना किसी प्रमाण के एक कुल्य-वाप भूमि को एक एकड (३ बीघा) माना है (इ० ए० ३९ पृ० १९५)। नईहटी ताम्रपत्र मे आढक माप का भी उल्लेख मिलता है जो द्रोण से भी छोटा था और चार आढवाप एक द्रोणवाप भूमि के क्षेत्रफल के बरावर था। (चतुराढको भवंद्दोण —पहाडपुर ताम्रपत्र—इ० ए० २०, पृ० ६१) आढ़, द्रोण, कुल्य तथा पाटक बीज के माप हुए जिनसे जितनी भूमि बोई जा सके उसे क्षेत्रमाप के अर्थ मे व्यक्त किया गया है। बगाल में एक आढवाप डेढ एकड भूमि समझी जाती थी। प्रतिहार लेख में एक भूमि के दान का वर्णन है जो दस माणि बीज से बोई गई थी। इससे यह समझा जा सकता है कि माणि (= मन) को भी क्षेत्रमाप के लिए प्रयुक्त करते थे। एक माणि (= मन) बीज से एक बीघा खेत बोते हैं। इसलिए प्रशस्ति के निम्न उद्धरण— कोसवाहे हिृतुल्लाक क्षेत्र मणिवाप १० शासनेन प्रदत्त (ए० इ० १४ पृ० १८७) से यह तात्पर्य निकलता है कि दस मन बीज बोने योग्य भूमि (जिसे एक मोट से सीचते रहे) दान में दी गई थी। संभवत उसका क्षेत्रफल दस बीघा रहा हो। इस प्रकार अभिलेखो के अध्ययन से पैमाइश करने के माप हमे प्राप्त हो जाते है। क्षेत्रमाप के उल्लेख मे वर्तमान बीघा के रूप मे क्षेत्रफल व्यक्त करना कठिन है क्योकि बीघा का प्रयोग प्राचीन लेखो मे नही मिलता।

प्राचीन अभिलेखो मे शासक द्वारा प्रदत्त अग्रहार भूमि से सम्बन्धित कर (टैक्स) का वर्णन मिलता है। उसी प्रसग मे व्यापारिक सस्थाओ को आज्ञा दी गई थी कि सभी मंदिरो मे प्रतिमा की पूजा निमित्त निश्चित 'कर' दिया करें। इस प्रकार लेखो मे गौण रूप से व्यापार की चर्चा मिलती है। यहाँ यह कहना अप्रासगिक न होगा कि तपुस्स तथा भल्लिक नामक व्यापारी बुद्ध के पास बोधगया मे विद्यमान थे और राजमार्ग से व्यापार मे व्यस्त थे। कुछ विशिष्ट व्यापारी राजकीय शासन मे सहायता किया करते थे यानी शासन-परिषद् का वह सदस्य था। तीसरे प्रकार की हमारी जानकारी प्रशस्तियो मे वर्णित प्रमुख स्थान के विवरण से होती है जो प्राचीन समय मे व्यापारिक केन्द्र रहे होगे। एक वश का प्रमुख स्थानो पर अधिकार इस बात का द्योतक है कि विजेता उस भू-भाग के व्यापार को भी अपने हाथो मे लेना चाहता था। अशोक के समय मे राजकीय आज्ञा द्वारा मुख्य स्थानो पर ही लेख खोदे गए थे ताकि उस स्थान से आने-जाने वाला व्यक्ति राजाज्ञा से परिचत हो जाय। अशोक ने इस बात की स्पष्ट चर्चा की है। उसके दूसरे शिलालेख मे उल्लेख है कि मार्ग मे कुएँ खुदवाए गए तथा यात्री गण के आराम के लिए वृक्ष लगवाए गए थे। इस तरह मौर्य युग मे राजमार्ग सुगम बनाए गए और अशोक के शासन काल में उडीसा से तक्षशिला तक जाने का सुन्दर मार्ग रहा। सम्राट् अशोक के प्रांतपति उज्जैन, सुवर्णगिरि तथा तक्षशिला मे शासन करते थे। सारनाथ तथा

व्यापार की चर्चा

कौशाम्बी नगर प्रधान मार्ग पर स्थित रहे और साची का महत्व कम न था। चार मार्गों का संगम (चातुमहापत्रे-परिनिर्वाण सूत्र) होने के कारण साची में अशोक ने स्तूप बनवाया तथा स्तम्भ लेख खुदवाया। अशोक ने स्वय बहुत बडी सेना के साथ कलिंग पर आक्रमण किया जिसमे लाखो व्यक्ति मारे गए तथा डेढ़ लाख कैद किए गए थे [कलिग विजित दिअढमते प्रण शत सहस्रे ततो अपवूढे] इस प्रकार यह अनुमान सही होगा कि अशोक के समय में बडे राजमार्ग थे जिन पर व्यापार होता था।

शासको के आक्रमण तथा विजित प्रदेशो से भी व्यापारिक केन्द्रो का पता लगता है। कनिष्क के सारनाथ प्रतिमा लेख (ए० इ० भा० ८ पृ० १७३) मे वाराणसी का नाम उल्लिखित है जो प्राचीन भारत का प्रसिद्ध नगर था। उसके महत्व को समझ कर ही जातको मे काशी के राजा ब्रह्मदत्त का नाम कई बार उल्लिखित है। द्वितीय शताब्दी के नासिक लेख मे क्षत्रप नरेश नहपान के जामाता ने भरुकच्छ (भरौंच) दशपुर (मदसोर, मालवा), गोवर्धन (नासिक) तथा शोर्पारग (सोपारा) का नाम गर्व के साथ उल्लिखित किया है। ये चारो स्थान महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र थे और भरौच तथा सोपारा व्यापार के निर्यात के लिए प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। [ए० इ० भा० ८]। महाक्षत्रप रुद्रदामन के जूनागढ लेख मे अनेक प्रसिद्ध स्थानो के नाम आते हैं जहा से सातवाहन वश के अधिकार हटाकर स्वय शासन करने लगा। उसमे मालवा, आनर्त (उत्तरी काठियावाड), अपरान्त (उत्तरी कोकण) सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियाबाड) राजपूताना, सिन्धु आदि स्थानो का नाम उल्लेखनीय है वे सभी व्यापार के कारण समृद्ध भू-भाग थे। इस तरह लेखो का अध्ययन व्यापारिक केन्द्रो की जानकारी देता है।

क्षत्रप अभिलेखो के सदृश माढ़रिपुत (सातवाहन-सामत) के चौदहवें वर्ष के लेख मे सिहलद्वीप के बौद्ध भिक्षुओ द्वारा चैत्य के दान का वर्णन है जिन भिक्षुओ ने काश्मीर, गाधार, चीन, तौसली (मैसूर) अपरान्त, वग आदि प्रदेशो मे बौद्धधर्म का प्रचार किया था। इन भू-भाग की केवल भौगोलिक जानकारी ही नही होती किन्तु समृद्ध नगर या प्रात होने की बात सिद्ध होती है। सातवाहन सिक्को (पुलमावि तथा यज्ञश्री) पर नाव का मस्तूल चोल चण्डल से एशिया के दक्षिण पूर्वी द्वीप समूहों में भारतीय व्यापार की ओर संकेत करता है।

गुप्त युग के स्वर्ण काल मे व्यापार तो चरम सीमा को पहुँच गया था जिसका आभास लेखो के द्वारा मिलता है। प्रथम कुमारगुप्त के मंदसोर लेख मे लाट (गुजरात) से आने वाली तथा दशपुर (मालवा) से स्थायीरूप से स्थित शिल्प श्रेणी (संघ) यानी रेशम के व्यापारियो का वर्णन मिलता है जिसने वहा सूर्यमंदिर का निर्माण किया था [का० इ० इ० ३ पृ० ८१] इसी राजा के दामोदरपुर ताम्रपत्र मे नगर श्रेष्ठि (व्यापारिक संस्था का मुखिया सेठ) तथा सार्थवाह का उल्लेख है (ए० इ० १५ पृ० १३०) यात्रा करने वाले पान्थो का समूह 'सार्थ' कहलाता, और बाहरी मडियो से व्यापार करने वाले (व्यापारियो का) नेता 'सार्थवाह' नाम से प्रसिद्ध था (पान्थान् वहति सार्थवाह .—अमर कोष ३।९।७८) बौद्ध ग्रन्थो मे भी कौशाम्बी के सार्थवाह का उल्लेख आता है।

फरीदपुर ताम्रपत्र में व्यापार के संचालन कर्त्ता गोपाल स्वामी (व्यापार-कारण्डय) का नाम मिलता है (इ० ए० ३९ पृ० २००) उसी स्थान के दूसरे लेख में व्यापार के सचा-

लक वत्सपासस्वामी का नाम आया है। अनेक दानपत्रो मे व्यापार मे व्यस्त लोगों की चर्चा की गई है। प्रधान व्यापारिण—इ ए० ३९ पृ० २०४)। अतः इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिलेखो मे गौड रूप से व्यापार सथा संघ, सचालक तथा व्यापारिक संघ के नेता सार्थवाह का वर्णन किया गया है।

अर्थशास्त्र के पण्डितो मे यह बात छिपी नही है कि प्राचीन काल में भारतीय व्यापार उन्नति के शिखर पर था। व्यापार सम्बन्धी समस्त कार्य का संचालन एक संस्था द्वारा होता था जिसे अभिलेखो मे "श्रेणी" कहा गया है। यह संस्था प्रजातन्त्र शैली पर कार्य करती थी। देश की आर्थिक नीति श्रेणी के हाथो मे थी। वर्तमान काल के "भारतीय चैम्बर आफ कामर्स" से उसकी तुलना कर सकते है। दोनो मे भेद यही है कि श्रेणी संस्था एक शिल्प के समूह से सम्बन्धित थी।

श्रेणी

एकेन शिल्पेन ये जीवन्ते तेषा समूह श्रेणी (कौटिल्य)

प्राचीन साहित्य में (गौतम धर्मसूत्र, अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्र मे) श्रेणी के विषय मे जिस तरह की चर्चा है, स्मृति ग्रन्थो मे भी श्रेणी का कार्य उसी तरह से वर्णित है।

सातवाहन तथा क्षत्रप वंशी अभिलेखो मे तत्कालीन संगठित शिल्प-श्रेणी का वर्णन मिलता है। उससे पता चलता है कि शिल्पियो तथा वणिको के निकाय शक्ति-सम्पन्न तथा समृद्ध थे। गुप्तकाल मे भी उद्योगो की उन्नति का श्रेय तत्कालीन श्रेणियो तथा नियमो को था। ये निकाय सुव्यवस्थित रूप से व्यापार का परिचालन करते थे तथा वाकाटक एव गुप्त युग मे इन सगठनो की बहुत बडी संख्या थी। इनके द्वारा व्यापार से राज्य को बडी आय होती थी। क्योकि ये श्रेणिया या निकाय देश, विदेश मे व्यापार का सचालन करते थे। इन के पास जहाज या नावें भी रहती थी। भारत के देशी जहाजरानी से व्यापारिक क्षेत्र में अधिक सुविधा थी। वस्तुओ के आयात-निर्यात मे राष्ट्र का धन समुचित रूप से व्यवहृत किया जाता था। गुप्तकालीन शिलालेखो, ताम्रपत्रो, मुद्राओ तथा सिक्को का अध्ययन तत्कालीन श्रेणियो तथा निगमो पर प्रकाश डालता है। प्रथम कुमारगुप्त के मदसोर लेख मे रेशम के व्यापारीगण की श्रेणी का उल्लेख है जिसके द्वारा सूर्य मदिर के निर्माण तथा कालान्तर मे सस्कार का उल्लेख मिलता है। (का० इ० इ, ३ पृ० ८१)

शिल्पावाप्तैर्द्धनसमुदयै॑ पट्टावायैरूदार
श्रेणीभूतै भवनमतुलं कारित दीप्त-रश्मेः।

मंदसोर लेख के वर्णन से पता चलता है कि वह श्रेणी लाट (गुजरात) देश से दशपुर (मदसोर, मालवा) में आकार कार्य करने लगी और इसके सदस्य नाना प्रकार के गुणो के लिए प्रसिद्ध थे।

स्वकुल-तिलक भूतै मुक्तरागरुदारै-
रधिकमभिविभाति श्रेणीरेवं प्रकारै।

गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के इंदौर ताम्रपत्र मे तैलिक श्रेणी का विवरण मिलता है (इन्द्रपुर निवासिन्यास्तैलिकश्रेण्या) जिसने सूर्य-मंदिर के दीपदान के निमित्त दो पल तेल का दान किया था

(देयं तैलस्य तुल्येन पलद्वयं तु) । बैशाली मुहरों के लेख मे निगम का नाम अंकित है । पूर्व मध्ययुग के अभिलेखो मे विभिन्न श्रेणियो का उल्लेख मिलता है जिससे व्यापारिक संस्थाओं द्वारा देश की आर्थिक सहायता का परिज्ञान होता है । मंदिरो के दान-प्रसंग मे श्रेणियो के नाम मिलते हैं जो पूजा के निमित्त कर (टैक्स) दिया करती थी । तैलिक तथा मालिक श्रेणी क्रमशः तेल तथा पुष्प'कर' के रूप में देती रही (ए० इ० १ पृ० १६०, भा० १९ पृ० ५७) (समस्त तैलिक श्रेण्या प्रति कोल्हू''''दातव्ये) । किसी विशेष प्रदेश मे कार्य करने वाली श्रेणी का मुख्य व्यक्ति 'श्रेष्ठी' के नाम से विख्यात था तथा विदेशों से व्यापार करने वाले समूह (वनजारा श्रेणी) का अगुआ 'सार्थवाह' कहलाता था (अत्रेपु समस्त वणजारेपु देसी मिलित्वा —ए० इ० ११ पृ० ४३) संक्षेप मे यह कहना उचित होगा कि प्राचीन भारत मे धन का समुचित बटवारे के लिए प्रजातंत्र ढंग से श्रेणिया व्यापार मे लगी रहती थी जिससे समाज का कल्याण होता था ।

श्रेणी का बैंक-कार्य

प्राचीन समय मे श्रेणी तथा निगम बैंक का कार्य करती और इनके साथ रुपया जमा करना सब से अधिक सुविधाजनक समझा जाता था । पश्चिम भारत के क्षत्रप नहपान के जामाता ऋषभदत्त ने धार्मिक कार्य के लिए तंतुवाय श्रेणी के पास तीन हजार कार्षापण जमा किया था (नासिक लेख) । उनमें दो हजार कार्षापण एक रुपया (कार्षापण) प्रति सैकडा वार्षिक व्याज की दर से जमा था और एक हजार कार्षापण का व्याज दर तीन चौथाई पण था । त्रीणि ३००० सघस ' ऐते च काहापाणा प्रयुक्ता गोवधनं वाथवासु श्रेणिमु । २००० वृद्धि पडिक शत अपर कोलीक निकाये १००० वधि पायून पडिक शत । ऐते च काहापणा अपडिदातवा वधिभोजा । एतो चिवरिक सहस्रानि वे २००० पडिके शते (ए. इ भा. ८) । मथुरा के द्वितीय शतो के एक लेख मे वर्णन मिलता है कि किसी धार्मिक व्यक्ति ने पुण्यशाला के लिए ५५० पुराणो की दो धन राशिया दो निकायो मे (अस्थाई मूलधन के रूप मे) जमा कर दिया था । इस धन के व्याज से गोबर्धन (नासिक) के भिक्षुओं के चीवर तथा भोजन का प्रबध किया जाता था । उसी तरह मथुरा वाले धनराशि के व्याज से दीन-दुखियो के भोजन के अतिरिक्त; प्रत्येक मास, एक सौ ब्राह्मणो को भोजन कराया जाता था ।

इससे पता चलता है कि शिल्पियो तथा वणिको के निकाय वैभवपूर्ण तथा शक्ति संपन्न होते थे । ये जनता के विश्वासपात्र थे । इसीलिए उनके बैको मे धन राशि जमा करने का विवरण पाया जाता है । उनकी स्थायी आर्थिक नीति के कारण ही जनता बैंक का उपयोग किया करती थी । जनता को कभी भी भय नही था कि श्रेणी-बैंक का दिवाला हो जायगा और मूलधन राशि नष्ट हो जायगी । गुप्तकालीन एक लेख मे श्रेणियो के स्थानान्तरित होने का विवरण पाया जाता है । मंदसोर के लेख मे वह श्रेणी लाट (गुजरात) से उठकर दशपुर (मालवा) चली आई थी । इन्दौर (मध्य प्रदेश) के ताम्रपत्र मे स्कन्दगुप्त के शासनकालीन तेलियो की श्रेणी का उल्लेख है जिसको देवविष्णु नामक ब्राह्मण ने सूर्य मंदिर के हेतु धन दान दिया था और वह राशि स्थायी रूप से (fixed-deposit) की तरह श्रेणी बैंक में जमा कर दी गई थी । विश्वास पात्र तथा अच्छे कार्य शैली के कारण श्रेष्ठी, सार्थवाह आदि राजकीय अधि-

कारियों के सदृश शासन मे सहयोग किया करते थे। उनके कार्यालय की मुहरें होती थी। नालंदा, कौशाम्बी तथा वैशाली से मिट्टी की मुहरें बहुत संख्या मिली है जिनमे निकाय तथा श्रेणी की मुहरे प्रचुर संख्या मे है। (आ स इ रि १९०३-४ तथा १९१३-१४)

भारतीय इतिहास से विदित होता है कि प्राचीन काल मे यहा के निवासी आर्य संस्कृति का सदेश लेकर स्थल तथा जलमार्ग द्वारा विदेश जाते थे। जलयात्रा को सुगम बनाने के लिए नौकाओ का निर्माण हुआ और स्थल मार्ग को सुव्यवस्थित किया गया। मौर्य सम्राटो ने व्यापार की बडो उन्नति की और अच्छी सडको का निर्माण किया। अशोक ने सम्भवतः पाटलिपुत्र से पुरुष पुर (पेशावर) तक राजमार्ग तैयार करवाया जिस मार्ग के किनारे राजगृह, काशी, प्रयाग, कोशाम्बी, साकेत, कन्नौज, मथुरा आदि समृद्ध नगर बसे हैं। पाटिलपुत्र से कौशम्बी तथा उज्जैन होते हुए पश्चिमी बन्दरगाह सुपारा तक राजमार्ग बना था। इसी स्थान पर अशोक का लेख भी मिला है। शक-सातवाहन युग मे भी उत्तर तथा दक्षिण भारत मे वैसे ही व्यापार चलता रहा। मध्ययुगीन लेखो से शिल्प तथा व्यापार पर प्रकाश पडता है। व्यापार की अभिवृद्धि के लिए कुषाण राजाओ ने स्वर्ण-मुद्रा का प्रचलन किया। द्वितीय वीमकदफिस ने सर्वप्रथम सोने का सिक्का चलाया और कनिष्क के शासन काल मे अधिक सिक्के तैयार हुए जो व्यापार के विनिमय के प्रमुख साधन थे। सिक्को की वृद्धि से व्यापार की उन्नति का परिज्ञान होता है। दक्षिण भारत मे पाडेचेरी के समोप अरिकमेडू की खुदाई से रोमन सिक्के अधिक सख्या मे मिले है जिससे भारत तथा रोम के व्यापारिक सम्बन्ध पर प्रकाश पडता है (एन्शेन्ट इंडिया, सख्या २ पृ० १७)। जीवन की उपयोगी सभी प्रकार की सामग्रिया विदेशो को भारत मे भेजी जाती थी।

व्यावसायिक कर तथा मुद्राएँ

गुप्त शासन के आरम्भ से पूर्वी जगत् मे भारत का व्यापारिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ट तथा व्यापाक हो गया था। प्रयाग के स्तम्भ लेख मे समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन मिलता है। उसने पूर्वी बन्दरगाह ताम्रलिप्ती (तामलुक) पर भी अधिकार कर लिया था। प्राचीन भारत के गुप्त, वाकाटक, कदम्ब तथा पल्लव शासको ने वाणिज्य की उन्नति में बडा योग दान दिया था। नालदा, कौशाम्बी तथा वैशाली से गुप्त कालीन मुहरें अधिक सख्या में मिली है जिन पर अनेक श्रेणियाँ निगम तथा निकाय के कार्यालय के नाम उल्लिखित है जिससे पता चलता है कि कौशाम्बी, नालंदा तथा वैशाली मुख्य व्यावसायिक केन्द्र थे (श्रेणी सार्थवाह कुलकि तथा निगम की मुहरें—आ० स० रि० १९०३-४ तथा १९१३-१४)। वैशाली तथा भीटा से प्राप्त मुद्रा लेखो के अतिरिक्त दामोदर पुर (उत्तरी बगाल) के ताम्रपत्रो मे नगर श्रेष्ठि, सार्थवाह तथा प्रथम कुलिक का उल्लेख है जो शासन मे भी सहायता करते थे। ऐसे वर्णन से पता चलता है कि सारे उत्तरी भारत मे व्यापारिक संघ फैले हुए थे। समृद्धशालिनी नगरी मे मालवा का दशपुर नगर भी गिना जाता था जिसका सुन्दर वर्णन वत्सभट्टि ने किया है।

प्रासादमालाभिरलंकृतानि धरा विदार्येव समुत्थितानि।
विमानमालासदृशानि यत्र, गृहाणिपूर्णेन्दुकरामलानि॥

(प्रथम कुमारगुप्त का मंदसोर शिलालेख)

गुप्त नरेशो ने शिल्प तथा वाणिज्य की उन्नति के हेतु बड़ी संख्या में सिक्के ढलवाए। साधारण वस्तुओ के खरीद के लिए चाँदी तथा ताँबे के सिक्के तैयार हुए और ऊँचे क्रय-विक्रय तथा विदेशी व्यापार के लिए सोने के सिक्के चालू किए गए थे। प्रथम कुमारगुप्त ने इस कार्य के निमित्त चौदह प्रकार की स्वर्ण मुद्रा प्रचलित की थी जो व्यापार के चरम सीमा का द्योतक है।

गुप्त युग के पश्चात् भारतीय व्यापार कई केन्द्रो मे सगठित होता रहा। हर्षवर्द्धन, द्वितीय पुलकेशी तथा उडीसा के गंग वंशी नरेशो ने वाणिज्य को प्रोत्साहित किया। इन राजाओं के सिक्को के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी नही है और पूर्व सदियो की तरह मुद्रा निर्माण का कार्य दिखलाई नही पडता। यद्यपि गुर्जर नरेशों, दक्षिण के चालुक्य तथा चोल शासको ने वाणिज्य मे पोत का प्रयोग किया था परन्तु अभिलेखो मे इसकी चर्चा नही के बराबर है। साहित्य ग्रंथो से विविध व्यवसाय तथा विदेशो से व्यापारिक सम्बन्ध का अनुमान लगाया जाता है। विदेशी यात्रियो ने भी विशेष रूप से इसकी चर्चा की है। उनमे चीनी तथा अरब यात्रियो ने पर्याप्त विवरण प्रस्तुत किया है। कथा साहित्य मे भी भारतीय वणिको के द्वीपान्तर गमन का उपाख्यान सुरक्षित है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रशस्तियो से अधिक वर्णन साहित्य मे मिलता है।

पहले कहा जा चुका है कि पूर्व मध्य युग (७००-१२०० ई०) के अभिलेख राजाओ तथा धनी व्यक्तियो द्वारा दान का वर्णन करते हैं। इसलिए उनमे वाणिज्य वार्त्ता के लिए स्थान नही है। तब भी कई स्थानो पर शासक द्वारा दान सम्बन्धी भूमि 'कर' तथा 'सामयिक कर' का उल्लेख किया गया है और इस तरह आय-व्यय का लेखा सम्मुख आता है। अभिलेखो मे इस बात का स्पष्ट वर्णन है कि भूमिकर दानग्राही ग्रहण करेगा तथा विभिन्न कर (टैक्स) मंदिर के पूजा निमित्त व्यय किया जायेगा। इसी प्रसग मे बाजार से चुगी तथा मेला मे क्रय-विक्रय से सम्बन्धित 'कर' वसूली का वर्णन है इस प्रकार गौण रूप से आर्थिक बातो की चर्चा मिलती है। वस्तुओ के क्रय-विक्रय के प्रसग मे माप तौल के अध्यक्ष का उल्लेख भी लेखो मे मिलता है। "प्रत्यापणं मानयैः" (ए० इ० ४ पृ० २४८) से उसी अध्यक्ष का बोध होता है जो माप को निश्चित करता तथा परीक्षण किया करता था।

'कर' सम्बन्धी विवरण

विभिन्न प्रशस्तियो मे वर्णित दान के प्रकरण मे तीन प्रकार की चुगी (कर) का उल्लेख है। सर्वप्रथम उस कर का वर्णन है जो बाजार मे बिकने वाले सामान पर लगाया गया था। पाल लेखों मे हाटक नाम के पदाधिकारी का उल्लेख है जो इस कार्य को सम्पन्न करता था (खालीमपुर दान पत्र—ए० इ० भा० ४) दूसरे स्थान पर कारखानो पर लगाए 'कर' का नाम मिलता है और तीसरे प्रकार का 'कर' मेला मे क्रय-विक्रय से सम्बन्धित था। इन करो को दान-ग्राही ग्रहण करता या दानकर्त्ता मदिर को समर्पित करता था। उसी आय से पूजा, राग-भोग का प्रबध होता था। बाजार के लिए 'हाट' तथा चुंगीघर के लिए 'मण्डपिका' शब्द लेखो मे मिलते है। 'कर' निश्चित करने का कोई विशेष नियम नही था परन्तु वस्तुओ के प्रकार तथा मात्रा के अनुसार कर मे विभिन्नता पाई जाती थी। बेचने तथा खरीदने वाले दोनो व्यक्तियो पर कर लगाया जाता था। इस सम्बन्ध मे विभिन्न सिक्को का भी नामोल्लेख है जिसका विवरण अगले पृष्ठो मे मिलेगा।

राजपूताना के अनेक लेखो में ऐसा विवरण उपलब्ध है। मथनदेव के लेख में अनाज के एक बोरे की बिक्री पर तीन विशोपक (रुपया के बीसवें भाग) 'कर' लगता था (ए० इ० ३ पृ० २६४) । एक विशोपक घास बोझ पर एक द्रम (चाँदी की मुद्रा) चीनी के एक बोरे पर एक वरणिक, चीनी के एक बोझ पर एक रुपया, बगाल के तागे की गाठ पर 'कर' के रूप मे वसूल किए जाते थे (ए० इ० १ पृ० ११४)।

उस समय सामान ढोने के लिए ऊँट, घोडा, बैल तथा बैलगाडी का प्रयोग होता था । इन पशुओ तथा गाडो पर सामग्री की मात्रा एक सी नही रहती, इस कारण 'कर' भी न्यून या अधिक लिया जाता था । यदि एक गाडी पर कुछ पैला (नाप के लिए प्रयुक्त) सामान लदा रहता तो दो रुपया चुगी ली जाती था । 'मार्गे गच्छतानामागताना वृषभाना शेकेषु'—मार्ग से से होकर बाजार मे आने वाली बैलगाडी का उल्लेख चहमान लेख मे अधिक है जिस पर मसाला लदा रहता था (ए० इ० भा० ११ पृ० ३७) । सम्भवत किराना सामग्री पर अधिक 'कर' देना पडता था क्योकि साधारण सामग्री जो मात्रा मे बीस पैला होती थी और बैलो पर लदी रहती थी उस पर दो रुपया ही टैक्स लगता था। यदि दस ऊंट तथा बीस बैलो के समूह (कारवाँ) पर लदा सामान (अन्न ?) बाजार मे आता था तो एक पैला 'कर' के रूप मे लिया जाता था (ए० इ० ११ पृ० ४३) । भरतपुर के समीप प्राप्त एक लेख मे वर्णन है कि घोडे पर लदी सामग्री पर एक द्रम चुगी लगती थी ए० इ० २२ पृ० १२७) ।

बाजार मे सामान संग्रह करने के लिए भवन (आढत) भी वर्तमान थे जहाँ व्यापारी गण सामग्री सुरक्षित रख देते थे। उससे सामान निकालने तथा रखने के कारण व्यापारी को 'कर' देना पडता था । नायक देवी के लेख मे गोदाम मे सुरक्षित सामान पर 'कर' का विवरण है । प्रति मन दो पैला अनाज 'कर' के रूप मे लिया जाता जो मदिर को अर्पित कर दिया जाता था। [ए० इ० ११ पृ० ६२ व ६७-मण्डपिकाया वस्तु मणं प्रति पाइला २]। चाहमान कालीन गोदाम मे रखने तथा बेचने के कारण छ द्रम 'कर' लिया जाता था [ए० इ० भा० १ पृ० ११४—मण्डपिकोत्पत्तिवनादृत्ता षट् प्रत्यह द्रम्मा.] मध्ययुग मे बाजार से सम्बन्धित मकान तैयार करके दान करने की प्रथा प्रचलित थी । उन दूकानो का किराया मंदिर मे अर्पित किया जाता था और उस आय से रागभोग का प्रबंध होता था [ए० इ० भा० १ पृ० १६७]। स्यात् उस तरह की दूकान (विथि) से दो विशोपक प्रतिमास किराया मिलता था । बाजार मे पत्तो की की बोझ पर पचास पंक्तियाँ तथा माली से पचास माला ग्रहण कर मदिर मे भेंट किया जाता था (इह पुष्पैर्माला पंचाशत् ५० माला प्रतिदिनं दातव्ये—ए० इ० १ पृ० १६०) । परमार नरेश चामुण्डराय के एक लेख (ए० इ० १४ पृ० ३०९) मे वर्णन है कि हाट मे बिकने वाले नारियल के प्रति भार से एक फल, सहस्र सुपारी पर एक सुपारी तथा कपडे की प्रति गाँठ पर डेढ रुपया 'कर' के रूप मे देना पडता था । कोई भी व्यापारी इस 'कर' के देने मे आगा-पीछा नही सोच सकता था ।

कहा गया है कि राजपूताने के बाजार मे करनाट, मध्यप्रदेश (गंगा-यमुना की घाटी), लाट (गुजरात) तथा तक्क (व्यास तथा सिन्ध नदियो का मध्यभाग) से आने वाले वणिक

व्यावसायिक कर

विष्णु मंदिर के निमित्त 'कर' देना अस्वीकार नही कर सकते थे। (इ० ए० भा० ५८ पृ० १६१-२) सम्भवत यह बाजार मेला के रूप मे संगठित था क्योकि सुदूर स्थानो से व्यापारी वहाँ एकत्रित होते थे। उस लेख मे वर्णन आता है कि हाथी के विक्रय पर एक द्रम, घोडे के विक्रय पर दो द्रम या एक द्रम (ए० इ० ११ पृ० ३३) तथा गाय या भैस के विक्री पर द्रम का चालीसवाँ भाग 'कर' लिया जाता था (इ० ए० भा० ५८ पृ० १६१) मेला सम्बन्धित क्रय-विक्रय के प्रसग मे ऐसी ही उल्लेख कई प्रशस्तियों मे पाया जाता है। पृयुदक मेले मे पशुओ के बेचने वाले दो द्रम तथा खरीदने वाले व्यक्ति को एक द्रम 'कर' के रूप मे देना पडता था (ए० इ० भा० १ पृ० १८५-७)।

व्यवसाय द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर भी 'कर' लगाया जाता और द्रव्य या सामान 'कर' के रूप मे ग्रहण किया जाता था। लेखो मे तैलिक श्रणी अथवा तेल के कारखानो (घाणक) से देवता के दीपार्थ (कर के रूप मे) तेल वसूल किया जाता था। प्राय प्रत्येक घाणक से दो पल तेल मिलता था (पलिका द्वयं घाणकं प्रति धर्माय दत्तं-ए० इ० भा० ११ पृ० ३५) दूसरे लेख मे प्रति दिन एक पल तेल अर्पित करने का विवरण मिलता है। (समस्त तैलिकाना घाणक घाणक प्रतिदिनं धर्मार्थं हेतो तैलपलिका प्रदत्ताः (ए० इ० १ पृ० १७७)। कभी तैलिक श्रेणी मे प्रति मास तेल का एक पल लिया जाता था (तैलिक श्रेण्या प्रति कोल्हू मासि मासि तैल पलिका दातव्ये—ए० इ० १ पृ० १६०)। साधारण व्यक्ति कभी तेल या घी पात्र मे रखकर बेचता था तो उसे प्रति तैल कूप (चमडे का पात्र) दो विशोपक 'कर' (ए० इ० २ पृ० २८०) और घी के विक्रेता को भी प्रति घडा (मिट्टी का पात्र) एक पल टैक्स देना पडता था (ए० इ० १४ पृ० ३०९)

शराब के कारखाने वाले भी नकद पैसा देवता के राग भोग के लिए देते रहे। राजपुताना के लेख मे प्रति सुराभाण्ड पर आधा द्रम 'कर' का वर्णन है (सुराभाण्ड प्रति मासान्मास विग्रह तुङ्गीय दातव्यं द्रमार्द्धं धूप दीप नैवेद्यार्थं—ए० इ० १ पृ० १७४) परमार लेख मे वर्णन है कि प्रति कारखाने को चार रुपया देना पडता था (इ० ए० भा० ५८ पृ० ३०९) मदिरा के व्यापारी से कर ग्रहण कर धार्मिक कार्य में व्यय करना अनुचित नही समझा जाता परन्तु देवपूजा में उस आय से कार्य सम्पन्न होता था।

पूर्व मध्य युग के शासक किसी धार्मिक कृत्य के लिए अस्थायी 'कर' भी लगाया करते थे। चहमान नरेश शिवरात्रि के अवसर पर आठ मुद्रा प्रति व्यक्ति (ए० इ० ११ पृ० ३१—प्रति वर्षक द्रम्माष्टकं प्रमाणेन) तथा देवयात्रा (रथ यात्रा) के सुअवसर पर चार द्रम का 'कर' आरोपित करते थे। (देव यात्रा निमित्त द्रा ४—ए०इ० भा० ११ पृ० ३५)। इसी वंश के एक लेख में तैलिक श्रेणी द्वारा रथ यात्रा के समय विशोपक देने का वर्णन मिलता हैं। परमार शासक चैत्रमास के बसंतोत्सव पर प्रत्येक व्यापारी से एक द्रम 'कर' के रूप मे वसूल करते थे (ए० इ० भा० १४ पृ० ३९०) तथा जनसाधारण से प्रति गृह एक द्रम (मुद्रा) 'कर' लिया जाता था।

अस्थायी कर

तत्कालीन करो की सूची मे एक प्रकार के विचित्र 'कर' का उल्लेख है जो विशिष्ट भोज (दावत) के समय उस व्यक्ति से ग्रहण किया जाता था। भोज (रनधनि) के आयोजक को एक रुपया देना पडता था। इसमे अधिक आश्चर्य जुआ पर लगाए कर से प्रकट होता है जिसमें सम्पूर्ण खेल में एक पेटक (पेव = दाव—एक बार जितना धन साहस कर लगाया जाय) 'कर' स्वरूप जुआरी को देना पडता था (इ० ए० ५८ पृ० १६१) किसी लेख में जुआ-गृह पर दो रुपया कर लगाने का उल्लेख मिलता है [ए इ भा १ पृ १४४] इससे अनुमान किया जा सकता है समाज मे घृणित कर्म मे जो 'कर' मिलता था उसे व्यक्तिगत कार्य में व्यय न कर शासक धार्मिक कृत्य के निमित्त दे दिया करता था। इस प्रकार अभिलेखो मे विभिन्न 'कर' का विस्तृत विवरण उपलब्ध है।

यद्यपि साहित्य ग्रथो मे सिक्को के विभिन्न नामो का उल्लेख मिलता है परन्तु अभिलेखो में कार्षापण (प्राकृत काहापन) का नाम सबसे पुराना है। सातवाहन तथा क्षत्रप के नासिक लेखो मे काहापणा या काहापन नाम से उस प्राचीन सिक्के का उल्लेख मिलता है जो 'पुराण' या 'धरण' नाम से प्रसिद्ध थे। अधिकतर चादी के सिक्के इस नाम से उल्लिखित थे और स्वर्ण मुद्रा की तरह १६ मासे तौल मे होते थे। सोने के लिए पाच रत्ती का माशा (तौल) तथा चांदी के लिए दो रत्ती का माशा निर्धारित किया गया था। भारत मे यूनानी शासन के समय चादी के सिक्के ड्रम कहे जाते थे और यह नाम इतना प्रचलित हो गया कि भारतीय लेखो मे द्रम शब्द से (जो ड्रम का विकृत रूप है) सैकडो बार उल्लेख मिलता है। अधिक प्रचार होने के कारण ही गुर्जर प्रतिहार, परमार, सेन आदि वशो की प्रशस्तियो मे इसका नाम आता है। भारतीय यूनानी, पल्लव तथा शक राजाओ ने उसके आधे तौल के बराबर अर्द्ध द्रम सिक्का प्रचलित किया जिसे गुप्त सम्राट्, हूण राजा, हर्ष वर्द्धन, मौखरि आदि ने चादी के सिक्को मे अनुकरण किया। द्रम नाम सबसे अधिक प्रचलित था और ईसा पूर्व तीसरी सदी से १३ वी सदी तक साहित्य ग्रंथो तथा अभिलेखो मे इस शब्द का प्रयोग मिलता है। भास्कराचार्य ने (१२ वी सदी) भी लीलावती मे इसी नाम का प्रयोग किया है।

सिक्को के विभिन्न नाम

नानाघाट तथा नासिक लेखो के वर्णन से पता चलता है कि काहापना (कार्षापण) अधिक संख्या मे तैयार किये जाते थे। सम्भवत. समाज मे स्वर्णमुद्रा की आवश्यकता न थी। नहपान के लेख से पता चलता है कि सोने चादी के सिक्को मे १ : १४ का अनुपात था। उसमे सत्तर हजार काहापन मूल्य मे दो हजार सुवर्ण के बराबर कहे गए हैं (ए इ भा ८)।

यद्यपि कुषाण नरेशो ने सोने का सिक्का सर्व प्रथम प्रचलित किया परन्तु कुषाण लेखो मे उस सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नही मिलता। पिछले कुषाणो के अनुकरण पर गुप्त सम्राटो ने सोने की मुद्रा तैयार कराई जिसका नाम साचो के लेख तथा दामोदरपुर ताम्रपत्रो मे 'दीनार' शब्द से अंकित है। यह नाम भी रोमन सिक्का दिनेरियस (Denarius) का विकृत रूप है। गुप्त नरेश रोमन माप तौल (१२० ग्रेन) का प्रयोग भी करने लगे थे। प्रथम कुमार गुप्त के शासन में अंकित वैग्राम ताम्रपत्र से तत्कालीन सोने चादी के सिक्कों का अनुपात निश्चित किया जा सकता है। उसमे वर्णन मिलता है कि तीन कुल्यावाप भूमि का मूल्य ६ दीनार था तथा एक

चौथाई कुल्यावाप जमीन (उर्वरा) आठ रूपक (चादी का सिक्का) में विक्रय होती थी (ए. इ भा० २१ पृ० ८१—षड्दीनारानष्ट च रूपकाना)। इस आधार पर एक दीनार १६ रूपक के मूल्य में बराबर था। उसका अनुपात ६१/२ . १ होता है। इससे स्वष्ट हो जाता है कि १२ वी सदी तक दीनार, रूपक तथा द्रम शब्दो का प्रयोग उत्तरी भारत के सिक्के के लिए होता था। स्मृतियो के अध्ययन से पता चलता है कि सोने की मुद्रा दीनार तथा चादी के सिक्के कार्षापण कहे जाते थे। दक्षिण भारत मे भी कार्षापण का प्रयोग चादी के सिक्को के लिए होता रहा। परन्तु तीसरी सदी के बाद चादी का मिलना कठिन हो गया। गौतमीपुत्र यज्ञश्री शातकर्णी ने चादी का सिक्का तैयार किया जो क्षत्रप अर्द्ध द्रम का अनुकरण मात्र था। स्यात् महाराष्ट्र मे क्षत्रपो को पराजित कर विजय-घोषणा के लिए यह कार्य आवश्यक था। तत्पश्चात् चोल, पाण्डया या केरल राज्यो में चादी के सिक्के नही मिलते।

पूर्व मध्यगुग (७००—१२०० ई०) की प्रशस्तियो तथा साहित्य ग्रथो मे 'द्रम' का अधिक प्रयोग है। सियादोनी तथा ग्वालियर के अभिलेखो मे 'द्रम' शब्द शासक के नाम मे जुडा है। विनायक पालीय द्रम अथवा आदिवाराह द्रम शब्दो से उस शासक के सिक्के का परिचय मिलता है जिसने (विनायकपाल तथा प्रतिहार भोज) उनका प्रचलन किया था। सियादोनी लेख मे 'कर' ग्रहण करने के प्रसंग मे विशोपक शब्द भी सिक्के के लिये उल्लिखित है। वह रूपक (सिक्का) का बीसवा भाग था जो संभवत. ताम्बे का सिक्का रहा होगा।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन नाम कार्षापण के अतिरिक्त अभिलेखो मे अधिकतर विदेशी सिक्को के नामो का विकृत रूप पाया जाता है। रूपक शब्द का प्रयोग चेदि तथा राजपूताने के लेखो मे मिलता है (इ० ए० ५८ पृ० १६१-२) जो कालान्तर में रुपया हो गया और आज भी उसी नाम से प्रचलित है।

•

अध्याय १०

तिथियां और सम्वत्

प्राचीन लेखो के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्रशस्तिकार अभिलेख उत्कीर्ण करते समय इस बात का ध्यान रखते थे कि उनमे तिथि का उल्लेख अवश्य हो। भारत का तिथि-क्रम इतिहास जानने मे उत्कीर्ण लेखो से अधिक सहायता मिलती है। तिथिया दो प्रकार से उल्लिखित मिलती है। पहला राज्य-वर्ष (Regnal year) का उल्लेख, दूसरे स्थान पर उन तिथियो की गणना होती है जिसे विद्वानो ने किसी सम्वत् से सम्बद्ध किया है। अशोक के धर्म लेखो मे अभिषेक के ८ वें वर्ष (अठ वर्ष अभिसिलस देवन प्रिअस प्रिअद्रशिस—तेरहवा शिला-लेख) १२ वें वर्ष (चौथाशिलालेख, छठा स्त० ले० बराबर गुहालेख) १३ वें वर्ष (पाचवा शि० ले०) १४ वें वर्ष (निगाली सागर लेख) २० वें वर्ष (देवानपियेन पियदसिन लाजिन वीसति वसाभिसितेन——हिद भगव जाते ति लुंमिनि गामे-रुम्मिनदेई स्त० ले०) २६ व वर्ष (चौथा व पाचवा शि० ले०) तथा २७ वें वर्ष (सत विसति वसाभिसितेन मे इदं धंम-लिपि लिखापिता ति एत देवानं पिये आहा-सातवा स्त० लेख) का उल्लेख है। वेसनगर गरुड स्तम्भ लेख शुगराजा भागभद्र के चौदहवें वर्ष मे स्थापित किया गया (कोसी पुतस भाग-भद्रस त्रातारस वसेन चतुदसेन राजेन)। हाथी गुम्फा लेख मे खारबेल के प्रथम से तेरहवे वर्ष तक की घटनाओ का वर्णन किया गया है (पचमे वसे ततिये पुनवसे—नवमे च वसे—तेरसमे च वसे आदि।)

मौर्यो के उत्तराधिकारी सातवाहन लेखो मे भी गोमतीपुत्र शातकर्णी का १८ वें वर्ष एवं २४ वें वर्ष का उल्लेख है (नासिक गुहालेख)। पुलमावि ने ७ वें, १९ वें २२ वे तथा २४ वे वर्ष मे लेख उत्कीर्ण कराया था (नासिक तथा कार्ले का गुहा लेख) तथा यज्ञ श्री शातकर्णी के नासिक गुहा लेख ७ वें वर्ष (सिरियन सानकणिस सवछरे सातमे ७) मे उत्कर्ण किया गया था। यह क्रम मध्य युग तक चलता रहा। हूण राजा मिहिर गुल के ग्वालियर लेख से पंद्रह वर्ष तक शासन का परिज्ञान होता है (अभिवर्द्धमान राज्ये पचदशाब्दे—का० इ० इ० भा० २ पृ० १६२)।

इस प्रकार मध्ययुग के पालवंशी अभिलेखों मे शासको के राज्य वर्ष का उल्लेख मिलता है। खालीमपुर ताम्रपत्र से पता चलता है कि धर्मपाल ने ३२ वर्ष तक राज्य किया। भागल-पुर ताम्रपत्र में नारायण पाल के ५४ वें वर्ष का उल्लेख है किन्तु इन तिथियो का किसी संबत् से सम्बन्ध नही है।

प्राचीन भारत मे दूसरे प्रकार के अभिलेखो मे शासको की तिथि किसी न किसी सम्वत् से अवश्य सम्बद्ध हैं। कुषाण नरेशों की तिथिया ३ से ८० तक अंकित हैं और प्रत्येक लेख सं० (सम्बत्) अथवा संवत्सर से आरम्भ होता है यानि तिथि का सम्वत् से सम्बन्ध

अवश्य है। यद्यपि उसका नाम स्पष्ट रूप से नही मिलता किन्तु यह विषय अज्ञात नही है कि उन सब लेखो की तिथिया शक सम्बत् (७८ ई०) से सम्बन्धित हैं। कुषाण के सामत पश्चिमी भारत तथा मथुरा के क्षत्रप शासक भी इसी सम्वत् मे अपने लेखों की तिथियां अंकित कराते रहे। उदाहरण के लिए नहपान के नासिक तथा जूनार गुहालेख क्रमश. ४२ तथा ४६ वें वर्ष (४६ + ७८ = १२४ ई०) मे उत्कीर्ण किए गए। रुद्रदामन के गिरनार लेख मे ७२ वर्ष का उल्लेख है यानी १५० ई० (७२ + ७८) मे वह लेख खोदा गया था। गुप्त सम्राटो के अभिलेख भी इसी रूप से उत्कीर्ण है। द्वितीय चन्द्रगुप्त का साँची लेख ९३ वर्ष मे, प्रथम कुमारगुप्त की करमदण्डा शिवलिङ्ग प्रशस्ति ११७ वर्ष में, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख १३६ वर्ष मे, इन्दौर ताम्रपत्र १४६ वर्ष मे, वैन्यगुप्त का गुणैघर ताम्रपत्र १८८ वर्ष में तथा भानुगुप्त का एरण स्तम्भ लेख १९१ वर्ष में खोदे गए थे। इन तिथियों को राज्य वर्ष कदापि नही माना जा सकता। अतएव इनको गुप्त सम्वत् ई० स० ३१९ से सम्बन्धित करते हैं। हर्ष वर्धन के ताम्रपत्र की तिथिया हर्ष सम्वत् (ई० स० ६०६) से जुडी है। यहा तक कि नेपाल के लेख भी हर्ष सम्वत् से ही सम्बन्धित है।

कई प्रशस्तियो मे तिथि न मिलने पर तीसरे मार्ग के सहारे काल ज्ञात होता है यानी प्राचीन भारत के शासको की तिथिया समकालीनता पर भी स्थिर की जाती है। अशोक के तेरहवे शिलालेख मे अनेक समकालीन विदेशी शासको के नाम उल्लिखित है। उनकी ज्ञात तिथियो के सहारे शासक के तिथियो का वास्तविक समय निर्धारित हो जाता है। यूनानी राजा आतियोकास द्वितीय ई० पू० २६१-४६ तक पश्चिमी एशिया में राज्य करता रहा। द्वितीय टालेमी उत्तरी अफ्रीका मे ई० पू० २८२-४७ तक शासन करता रहा। ये दोनो अशोक के समकालीन थे। इस तिथि २८२ मे से १२ वर्ष (अभिषेक के ८ वें वर्ष मे तेरहवा लेख खोदा गया तथा अशोक अभिषेक से चार वर्ष पूर्व सिंहासनारूढ हुआ था) घटा देने से ई० पू० २७० वर्ष अशोक के शासक होने की तिथि निश्चित हो जाती है। सातवाहन राजा गौतमी-पुत्र शातकर्णी भी क्षत्रप नहपान का समकालीन शासक था। नासिक लेख (पुलमावि के १९ वें वर्ष) तथा जोगलथम्बी के सिक्को के ढेर की परीक्षा यह बतलाती है कि शात-कर्णी ने नहपान को पराजित किया था। नहपान की तिथि ४६ शक सम्बत् (ई० स० ७८) से सम्बन्धित मानी जाती है। इसलिए नहपान की तिथि ई० स० १२४ स्थिर होती है। इस तिथि के समीप गौतमीपुत्र शातकर्णी भी राज्य करता होगा। इसके पुत्र पुलमावि को महा-क्षत्रप रुद्रदामन ने ई० स० १५० मे हराया था जो जूनागढ़ के लेख (तिथि ७२ यानी ७२ + ७८ = १५० ई०) स्पष्ट प्रकट होता है। इस प्रकार पिता (गौतमी पुत्र शातकर्णी) को तिथि १२४ से १३० ई० तथा पुत्र पुलमावि ई० स० १५० मानी जा सकती है। नासिक के १९ वर्ष वाले लेख से ज्ञात होता कि पुलमावि १३० ई० (पिता की मृत्यु) के समीप गद्दी पर बैठा और १९ वर्ष मे यानी १४९ ई० (१३० + १९) मे वह पराजित किया गया। मिहिर-कुल के सम्बन्ध मे इसी प्रकार से राज्यकाल का पता चलता है। गुप्त शासक भानुगुप्त का एरण स्तम्भ लेख १९१ (गु० स०) वर्ष मे यानी ५१० ई० (१९१ + ३१९) मे लिखा गया था जिसमे गोपराज की मृत्यु का वर्णन है। सेनापति गोपराज हूण युद्ध में मारा गया था और उसी के बाद तोरमाण का राज्य मध्य भारत मे स्थापित हुआ। उसने पन्द्रह वर्ष तक शासन किया

उसके पश्चात् मिहिरकुल पंद्रह वर्ष तक शासक रहा। ग्वालियर के १५ वें वर्ष की तिथि (अभिवर्द्धमान राज्ये पचदशाब्दे नृप-वृषस्य) ५४० ई० के समीप (५१० + १५ + १५) स्थिर हो सकती है। राज्य वर्ष मे तिथि खुदवाने की परिपाटी पाल लेखो मे भी वर्तमान थी जिसे अन्य तिथि के सहारे काल निर्णय करने मे उपयोगी मानते हैं। इसे चौथी रीति कह सकते है। निम्नलिखित राज्यवर्ष से गणना देखिये।

धर्मपाल	३२ वर्ष
देवपाल	३९ ,,
विग्रहपाल प्रथम +	
सूरपाल	३ ,,
नारायणपाल	५४ ,,
राज्यपाल	२४ ,,
गोपाल द्वितीय	१७ ,,
विग्रहपाल द्वितीय	२६ ,,
महीपाल प्रथम	४८ ,,
योग	२४६ वर्ष

दसवें पालनरेश प्रथम महीपाल का एक लेख सारनाथ से उपलब्ध हुआ है जिसकी तिथि वि० स० १०८६ (= १०८६-५७ = ई० स० १०२९) उल्लिखित है। अत २४३ वर्ष पीछे जाने पर धर्मपाल की तिथि (१०२९-२४३) ७८६ ई० के समीप निश्चित हो जाती है। इस प्रकार समकालीनता तथा ज्ञात तिथि मे या सम्वत् मे सम्बन्ध जोड कर राजाओ के शासनकाल का परिज्ञान होता है।

यो तो भारतवर्ष मे ईसा पूर्व ५७ वर्ष मे विक्रम सम्वत् चलाया गया (विस्तृत वर्णन आगे देखिए।) परन्तु इसमे तिथि का उल्लेख अधिक दिनो तक नही पाया जाता। ईसवी सन् के ७८ वर्ष मे कनिष्क ने एक सम्वत् चलाया जिसमे लेखो की तिथिया पाई जाती हैं। कुषाण वंशी राजाओ (कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव) के लेखो मे जो अंक (तिथि) मिलते है उनका सम्बन्ध इसी शक सम्वत् मे है। सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा लेख मे ३ वर्ष खुदा है तो कनिष्क के उत्तराधिकारी वासुदेव के मथुरा-प्रतिमा लेख मे ८० वर्ष पाया जाता है जिसकी तिथि क्रमश ई० स० ८१ (७८ + ३) तथा ई० स० १५८ (७८ + ८०) ज्ञात हो जाती है। पश्चिमी भारत के क्षत्रप राजाओ के सिक्को पर तिथि शक सम्वत् मे मिलती है। उन्ही सिक्को के अध्ययन से क्षत्रपो का इतिहास ज्ञात होता है। प्रथम रुद्रसेन के सिक्के पर १२१, पृथिवीषेण के १२२-१४४ तथा दामसेन के सिक्को पर १४५-१५८ तिथि का उल्लेख है जिन सबको शक सम्वत् से सम्बन्धित मानते है। गुप्त लेखो में भी वर्षाक उल्लिखित है जिनका सम्बन्ध गुप्त सम्वत् से था। उनके प्रशस्ति को छोड कर सिक्को पर भी इसी सम्वत् मे तिथिया अंकित है। सौराष्ट्र के बलभी लेखो मे इसी गुप्त सम्वत् का प्रयोग है जिसे भ्रमवश बलभी सम्वत्

का नाम दिया गया था (गुप्त सम्वत् का विवरण आगे दिया जायगा)। पिछले गुप्त राजाओ के लेखों मे जिस तिथि (वर्ष) का उल्लेख है उसका सम्बन्ध गुप्त सम्वत् से नही है। सम्भवत. सातवी सदी के आरम्भ से उत्तरी भारत मे हर्ष सम्वत् (ई० स० ६०६) का प्रयोग होने लगा था। बासखेडा का ताम्रपत्र, गुप्त राजा आदित्यसेन का शाहपुरलेख (६६ वर्ष) तथा विष्णुगुप्त का मंगराव लेख (वर्ष ११७) आदि हर्ष सम्वत् से सम्बन्धित है और उसी गणना पर उनकी तिथि निश्चित हो जाती है। नेपाल के अनेक लेखो मे तिथि हर्ष सम्वत् मे ही उल्लिखित है। मध्यप्रदेश तथा मध्यभारत के सैकडो लेख कलचरी सम्वत् से सम्बन्धित हैं (का० इ० इ० भा० ४ खण्ड २)। इस प्रकार लेखों की तिथिया निश्चत करने के लिए अथवा तिथियुक्त घटनाओ के वर्णन निमित्त प्रशस्तिकार ने अधिकतर किसी सम्वत् मे सम्बन्धित अको का उल्लेख किया है। तुलना मे पहली प्रणाली (राज्य वर्ष) मे समकालीनता स्थिर करना आवश्यक था पर किसी सम्वत् से सम्बन्धित तिथि द्वारा भी 'सरलतापूर्वक शासक का राज्य-काल निश्चित हो जाता है। पहली शैली मे 'वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस' आदि या 'प्रवद्धमान विजय राज्य' वाक्य उल्लिखित मिलते है।

प्राचीन भारत मे तिथि वार की गणना मे विचित्रता दिखलाई पडती है। अभिलेखो का अध्ययन इस विषय के समझने मे अधिक सहायत करता है। ईसा पूर्व सदियो में भारत मे यही रीति काम मे लाई गई थी जिसमें मास, पक्ष एवं वार का उल्लेख था। सम्भवतः इस प्रकार की गणना यूनान ने अनुकरण की गयी थी। नई ब्राह्मी उत्तर पश्चिम लेखो मे (लूडर संख्या ९८७ १००१ १०२१, १०२४, ११००, ११०५, ११२०, ११४७, ११८६ आदि) ऋतु, पक्ष तथा वार का उल्लेख है। सातवाहन के नासिक तथा कार्ले अभिलेखो में ग्रीष्म, वर्षा या जाडे की ऋतु के अतिरिक्त पक्ष तथा वार (दिन) की सख्या मिलती है। इसके विपरीत भारतीय- यूनानी लेख (शिनकोट लेख-ए० इ० १४ पृ० ७) मे वैशाख मास के २५ वें दिन का उल्लेख है। ईसवी सन् के पश्चात् शक, कुषाण तथा क्षत्रप लेखो मे मास का नाम तथा तिथि सख्या निश्चित रूप से मिलती है। परन्तु ऋतु तथा पक्ष का सर्वथा अभाव नही है। (ए० इ० भा० १ न० ४, ज० यू० पी० हि० सो० भा० ११ पृ० ६६-६७) उत्तरी पश्चिमी भू भाग के खरोष्ठी लेखो मे दूसरी सदी के पश्चात् मास नाम तिथि सख्या तथा वार का प्रयोग मिलता है। (का० इ० इ० भा० २ पृ० ६२-६६ पृ० ७०, ७७, १२७, १४९)। उन दिनो वर्ष को तीन प्रधान विभागो मे-वर्षा, शीत तथा उष्ण–विभक्त किया गया था और पक्ष द्वारा समय का उल्लेख किया जाता था, उदाहरण के लिए—वास पखे (वर्षा) हेमतान पखे (जाडा) या गिहान (गिम्ह) पखे (ग्रीष्म)। प्रत्येक ऋतु के चार मास तथा प्रत्येक मास मे दो पक्ष की गणना द्वारा आठ पक्ष को ऋतु नाम के साथ उल्लेख किया जाता था। सम्भवत मास नाम से कोई गणना न होती थी यानी चैत्र से फाल्गुन तक के बारह मासो का नाम अज्ञात था। निश्चित समय बतलाने के लिए पक्ष तथा तिथि से काम लिया जाता था। यदि जेष्ठ कृष्ण पक्ष १० के अवसर पर किसी बात का उल्लेख करना होता तो गिम्ह पखे ५ दिवसे १० से काम चल जाता था। ग्रीष्म चैत्र से प्रारम्भ होता था इसलिए चैत्र-वैशाख के चार पक्ष तथा

ज्येष्ठ प्रथम पक्ष मिलाकर पाच पक्ष हो जाते थे। इसलिए उससे ज्येष्ठ कृष्ण १० की तिथि समझी जाती थी। गिम्हाण पखे वितीय दिवसे १३. से चैत्र शुक्ल १३ का ज्ञान होता था। इसी प्रकार वर्षा या हेमंत से सम्बन्धित पक्ष व वार कहने से ठोक समय का ज्ञान हो जाता था।

गिह्मान पखे २ दिवसे १० = चैत्र शुक्ल १०
ग्री २ दिव ३० = चैत्र शुक्ल पूर्णिमा
वास पखे २ दिवसे ३ = श्रावण शुदि ३
हेमत पखे ३ दिवसे १ = पौष कृष्ण १
हेमंत पखे २ दिव १ = मार्ग शीर्ष शुक्ल १

इस रूप से सातवाहन नरेशो ने वर्ष, पक्ष के द्वारा (नासिक लेख) तिथि का ज्ञान कराया तथा गोतमी पुत्र शातकर्णी के पश्चात् लेखो मे तिथियाँ मिलने लगी। शक क्षत्रप युग मे पहलो सदी से ही भारतीय मास का उल्लेख प्रशस्तियो में है। आश्चर्य तो यह है कि क्षत्रपो के महा-राज कुषाण नरेश ऋतुओ के पक्ष गणना से ही समय का निरूपण करते रहे। हुविष्क के मथुरा प्रतिमा लेख मे गृ १ दि० ८ (ग्रीष्म पक्ष १ = चैत्र कृष्ण ८) हेमत मास १ (मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष) का उल्लेख पाया जाता है। परन्तु साथ ही विशिष्ट मास अंकित करने का कार्य भी प्रारम्भ हो गया था। कनिष्क के मानिकियाला शिलालेख (१८ वें वर्ष) मे आपाढ, (अषडस मसस) जेदा लेख में कार्तिक, आरा की प्रशस्ति (४१ वें वर्ष) मे ज्येष्ठ (जेठस मसस) का नाम मिलता है। पह्लव गुदफरस के लेखो मे भी 'वेशखस मसस' तथा 'श्रवणस मसस के नाम आते है। नहपान के नासिक लेख में वेसाख मासे, कातिक शूधे पनरस (शुदि १५), रुद्रदामन के आडो (५२ वर्ष) मे फगुण वहुलस द्वितीय वारे २ (फाल्गुण कृष्णपक्ष २) मार्ग शीर्ष बहुल प्रतिपदि (जूनागढ़ शिलालेख) तथा रुद्रसिंह के गंडा लेख मे 'वैशाखा शुद्धे पंचम घण्यतिथौ रोहिणी नक्षत्र मूहूर्ते' आदि वाक्यो का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि ई० सं० १२५ (नहपान की तिथि) से ई०स० १८१ तक (रुद्रसिंह की तिथि) भारतीय कालगणना मे आमूल परिवर्तन हो गया था। आश्चर्य यह है कि कौशाम्बी के मघ नरेश के लेख मे वर्षा पक्ष ३ दिवस ५ उल्लेख मिलता है। स्यात् तीसरी सदी के बाद उत्तरी भारत मे समुचित मास, पक्ष, एव बार की गणना आरम्भ हुई हो। दक्षिण मे ऋतु पक्ष से ही गणना होती थी। चौथी सदी के इच्छाकु नरेश विरुपाक्षदत्त के नागार्जुनी कोण्डा लेख मे प्राचीन ढंग के ऋतु तथा पक्ष का प्रयोग मिलता है (स ६ वा दि १० यानी सम्वत् ६ वर्षा पक्ष ६ दिवसे १०)। पल्लव राजा शिवस्कन्द वर्मन के अभिलेख मे इसी प्रकार ऋतु पक्ष के सहारे गणना की गई है। विदर्भ के वाकाटक लेख भी इसी श्रेणी में रक्खे जाते हैं। कालान्तर में उत्तरी भारत के शासक भारतीय मास का नाम, पक्ष नाम, तिथिनाम, नक्षत्रनाम का प्रयोग करने लग गए। यहा यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि उत्तर पश्चिम के लेखो में यूनानी मास के भी नाम सम्मिलित कर लिए गए थे। कनिष्क के कुर्रम लेख (वर्ष २१) मे अवदुनस तथा पटिक के तक्षशिला ताम्रपत्र में पनेमस के नाम उल्लिखित है।

गुप्त युग में भी मास पक्ष और तिथि का नामोल्लेख मिलता है। शुल्कपक्षे पंचम्या (मथुरा का स्तम्भ लेख) आषाढ मास शुल्केकादश्याम् (उदयगिरि का लेख), सहस्य मास (पौष) शुक्लस्य प्रशस्ते हि त्रयोदशे (मदसोर का लेख) फाल्गुण मासे (इन्दौर का ताम्रपत्र) वैशाख

मास समम्या मन्के श्यामगते (बुधगुप्त का मरनाथ बुद्ध प्रतिमा लेख) आदि रूप में मास का उल्लेख किया गया है।

गुप्त सम्राटों के समकालीन परिव्राजक शासक सक्षोभ के खोह ताम्रपत्र मे—"सम्वत्सरे चैत्र मास शुक्ल पक्षे त्रयोदश्या" का उल्लेख है। नेपाल के चागुनारायण के स्तम्भ लेख मे ज्येष्ठ मास शुक्ल पक्षे प्रतिपदि' वाक्य का उल्लेख यह बतलाता है कि चौथी सदी से प्राय नियमित रूप से मास पक्ष, व तिथि का नाम अंकित होने लगा। उत्तर-गुप्त युग मे भी सम्वत् से सम्बन्धित लेखो मे मास, पक्ष व वार का उल्लेख है--कातिक वदी १ (वामखेडा प्रशस्ति) चैत्र वदी ५ (धरसेन का वलभी लेख) तथा मार्ग शीर्ष पंचमी (अपराजित की उदयपुर लेख) आदि। पूर्व मध्ययुग से प्रतिहार अभिलेखों मे उचित रीति से—मास तथा तिथि उल्लिखित है। गहड-वाल लेख (माघ सुदी ५—कमौली दानपत्र) तथा परमार अभिलेख (आषाढ बदि २—जयसिंह की उदयपुर प्रशस्ति) मास तथा वार की चर्चा करते है। पाल तथा सेन लेखो मे इस प्रकार का मास तथा वार का उल्लेख नही है। स्यात् उनमे विशिष्ट सम्वत् का प्रयोग न होने से विभिन्न रीति अपनायी गई जो गुप्त कालीन लेखो मे प्रयुक्त थी।

यह पुनरावृति होगी कि ईसवी सन् के पश्चात् अधिकतर लेखो म उल्लिखित वर्षांक किसी न किसी सम्वत् से (गणना) से सम्बन्धित है। अत्यन्त प्राचीन युग मे किसी प्रकार की गणना आरम्भ हुई या नही, इस सम्बन्ध मे यथार्थ कहना कठिन है। परन्तु जैन ग्रंथो मे महा-वीर-निर्वाण सम्वत् के नाम से एक गणना का विवरण पाया जाता है। श्वेताम्बर लेखक सूरी ने अपनी पुस्तक 'विचार श्रेणी' मे लिखा है कि महावीर तथा विक्रम सम्वत् मे ४७० वर्ष का अन्तर है। यानी महावीर सम्वत् ४७० + ५७ = ई० पू० ५२७ वें वर्ष मे प्रारम्भ किया गया होगा। नेमिचन्द्रा-चार्य ने भी इस गणना के सम्बन्ध मे लिखा है महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष बाद शक लोगो की गणना आरम्भ की गई। अतएव महावीर निर्वाण सम्वत् ६०५-७८ ई० = ई० पू० ५२७ मे स्थिर हो जाता है। दिगम्बर जैन लोगो की परम्परा पर विश्वास नही किया जा सकता क्योंकि उन्होंने महावीर निर्वाण तथा शक सवत् मे ४६१, ७९५ या ७९३ वर्ष का अन्तर बतलाया है।

सम्वत्

हाथी गुम्फा के लेख मे एक वाक्य 'पनतरिय सठ वस सते राज मुरिय काले' उल्लिखित है जिसका विद्वानो ने विभिन्न अर्थ किया है। स्तेन कानो ने उसे 'मौर्यकाल (सम्वत्) के १६५ वें वर्ष के अर्थ मे अनूदित किया। उनका मत था कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक सम्वत् चलाया था जो खारवेल के समय कलिङ्ग मे प्रचलित था। मूल पाठ को भी कुछ विद्वान् विवादास्पद मानते है। 'पान तरीय सत सहहेहि, मुखिय कल वाच्छिन' को शुद्ध पाठ मानते हैं जिसका अर्थ है कि कई सहस्र मुद्रा व्यय करके स्तम्भ प्रतिष्ठापित किया और प्रजा को मुख्य कला—गीत नृत्य-आदि से प्रसन्न किया। इस सवत् के मानने मे एक दूसरी कठिनाई है कि इस गणना (१६५ मौर्य काल) मे खारवेल की तिथि ३२१ – १६५=ई० पू० १५६ हो जाती है (जब ई० पू० ३२१ मौर्य काल माना जाय) जहा खारवेल ई० पू० पहली सदी मे शासन करता रहा। तीसरे कठि-नाई यह है मौर्य संवत् के सम्बन्ध मे साहित्यिक अथवा लेखो का प्रमाण उपलब्ध नही है।

ईसा पूर्व सदी मे प्राचीन भारत मे एक संवत् की स्थापना हुई जिसके संस्थापक के

विषय मे गहरा विवाद है। साहित्यिक तथा प्रशस्तियो के आधार पर यह कहा जाता है कि ई० पू० ५७ वर्ष मे एक गणना प्रारम्भ हुई जिसके तीन पृथक-पृथक नाम मिलते है। (१) कृत सवत् (२) मालव सवत् तथा (३) विक्रम संवत् या सवत्सर। समस्त प्रमाणो के अध्ययन से यह पता चलता है कि तीनो गणना का आरम्भ ई० पू० ५७ वर्ष से हुआ। ऐसी परिस्थिति में यह विचारणीय विषय है कि तीनो नाम एक ही गणना (सवत् या काल) के लिए प्रयुक्त मिलते है अथवा तीनो एक गणना के विभिन्न नाम है। इसे जानने के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि एक गणना की तीन संज्ञा क्यो कर दी गई?

विक्रमी सम्वत्

साधारणतया इसका समाधान यो किया जाता है कि मालव के गणमुख्य विक्रमादित्य ई० पू० मे शासन करते थे जिन्होंने आततायी शक लोगो का परास्त किया और देश मे सुख शान्ति का राज्य हो गया। इसे दूसरे शब्दो मे कृतयुग कहने लगे (वैभव पूर्ण समय)। ई० पू० ५७ वर्ष मे मालव गण द्वारा विजय के उपलक्ष मे एक सम्वत् चलाया गया जो कृत (सत) युग की परिस्थिति हो जाने के कारण कृत (सम्वत् के) नाम से पुकारा गया। कालान्तर मे शक शासको ने सिन्धु, सुराष्ट्र तथा अवन्ति के भू भाग पर अधिकार कर लिया। अवन्ति के उत्तर पूरब भूभाग के निवासी मालव गण अपने शक्ति तथा प्रतिष्ठा को पुनर्जीवित करने मे दत्त-चित्त थे। अभिलेखो से पता चलता है कि इस गणना के साथ मालव नाम जोड दिया गया और इसी कारण वह सम्वत् मालवा सम्वत् नाम से विख्यात हुआ।

राजपूताना तथा मध्यभारत के लेखो से निम्न प्रकार के उद्धरण इस कथन को प्रमाणित करते है—

कृतयोर्द्वयो वर्षशतयोर्द्व्य। (नदसा यूपलेख)

कृते हि २०० + ८० + ४

कृते हि २०० + ९० + ५ फाल्गुन शुक्लस्य ५ (बडवा यूप लेख)

कृते हि ३०६ + ३० + ५ (बर्नाला प्रशस्ति)

कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टा विंशेषु

श्री मालव गणाम्नाते प्रशस्ते कृत सज्ञिते (मदसोर लेख नरवर्मन-वर्ष ४६१)

इसमे कृत तथा मालव नाम एक ही स्थान पर उल्लिखित है।

इन सब उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है कि मालव गण के नाम की गणना पहले कृत नाम से प्रसिद्ध थी। इस आधार पर यह भी ज्ञात होता है कि छठी सदी से पूर्व के लेखो मे कृत सज्ञा से ही विक्रम सम्वत् प्रसिद्ध था।

छठी सदी के कई लेखो मे मालव सम्वत् का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम कुमार गुप्त के मदसोर लेख मे मालव गणना (सम्वत्) में तिथि ४९३ मिलती है—

मालवाना गणस्थित्या याते शत चुष्टये

त्रिनवत्यधिकेऽब्दानाम्रितौ सेव्यघनस्तने।

मालवा के राजा यशोधर्मन के मदसोर वाली प्रशस्ति मे उसी सम्वत् का उल्लेख निम्न शब्दो मे पाया जाता है—

पञ्चसुशतेषु शरदा यातेष्वेंकान्नवति सहितेषु
मालवगण-स्थिति बशात्काल—ज्ञानाय लिखितेषु

(मालवगण के स्थापना के बाद ५८९ वसत । ज्ञान के लिए लिखा गया) एक तीसरे लेख मे

संवत शतै यातै सपञ्च—
नवत्यर्गलैः सप्तभिर्मालिवेशा''

(मालब मुख्य के ७९५ वें वर्ष मे) का उल्लेख मिलता है। दसवी सदी तक के ग्यारसपुर (मालवा) के लेख मे–''मालव कालाच्छरदाँषट्'' मालव शब्द ही व्यवहृत होता रहा।

मालव (कृत) सम्वत् का प्रयोग उत्तर पश्चिम भारत के लेखो मे आरम्भ हुआ। इसके पश्चात् मालवा में प्रचलित रहा। उत्तर प्रदेश मे सर्वप्रथम ईशान वर्मा की हरहा प्रशस्ति में मालव सम्वत् का प्रयोग दीख पडता है। सम्भवत बडवा यूप लेख मे उल्लिखित मौखरि लोगो ने मध्यप्रदेश मे आकर इस सम्वत् का प्रचार किया। हरहा के मौखरि तथा राजपूताना (बडवा) की शाखा द्वारा उत्तरी भारत मे सम्वत् का प्रसार हुआ।

नवी शताब्दी के पश्चात् लेखो मे ''विक्रम नृप कालातीत सम्वत्सर'' ''श्री विक्रमादित्योत्पादित सम्वत्सर'' या ''श्री विक्रमादित्य काले,'' ''विक्रमाख्यस्य वैशाखस्य,'' ''विक्रमकाले गते तु शुचिमासे'' या ''विक्रम सवत्सर'' के वाक्य मिलते है। इसलिए यह प्रकट होता है कि उस काल (सम्वत्) का तीसरा नाम विक्रम सम्वत् पडा। तात्पर्य यह है कि तीनो नाम एक सम्वत् के लिए प्रयुक्त होते रहे।

पाल (भागलपुर ताम्रपत्र) प्रतिहार परमार, चेदि तथा चहमान लेखो मे केवल सम्वत् शब्द का प्रयोग मिलता है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि वैभवपूर्ण काल के (कृतयुग) कारण गणना का कृत नाम पडा हो जो आगे चलकर मालव गण के नाम से सम्बन्धित कर दिया गया। ईसवी चौथी सदी में गुप्त सम्राट द्वितीय चन्द्रगुप्त (जिसकी पदवी विक्रमादित्य की थी) ने मालवा तथा काठियावाड के शक क्षत्रप शासको को परास्त किया और वह भाग पश्चिम को गुप्त साम्राज्य मे मिला लिया। पहले शक लोगो को परास्त कर ही यह गणना (सम्वत्) पारम्भ हुई। पुन उन्ही शको को गुप्त सम्राट् विक्रमादित्य ने पराजित किया। सम्भवत इस विजय के स्मारक मे प्राचीन सम्वत् का नाम बदल कर विक्रम-सम्वत् कर दिया गया। शकारि चन्द्रगुप्त के विजय का उल्लेख भिलसा के समीप उदयगिरि की गुहा लेख मे पाया जाता है (कृत्स्न पृथ्वी जयार्थेन राज्ञैवेह सहागत) कि राजा के साथ सेनापति वीरसेन भी मालवा मे आया था। यही नही शक विजय के कारण ही द्वितीय चन्द्रगुप्त ने सर्वप्रथम चादी का सिक्का (अर्द्धद्रम) चलाया जो सर्वथा क्षत्रप सिक्को का अनुकरण था। अतएव इसमे सदेह नही कि शको का अतिम पराजय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के हाथो हुआ था। इस कारण सम्वत् के साथ विक्रम का नाम जोडना स्वाभाविक था। 'मालव सम्वत्' विक्रम सम्वत् के नाम मे पुकारा जाने लगा जिसका उल्लेख प्रशस्तियो मे पाया जाता है। मालव, आर्जुनायन तथा यौधेयगण राज्यों को चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त ने ही नष्ट कर दिया था (प्रयाग का स्तम्भ लेख) विक्रमादित्य द्वारा शको के पराजय होने

पर भी मालवा की जनता मालव सम्वत् का प्रयोग करती रही। यही कारण है कि कुमारगुप्त को भी मदसोर वाले लेख मे मालवा सम्वत् का प्रयोग करना पडा जब कि उसके अन्य सभी लेख गुप्त सम्वत् मे तिथियुक्त है। यशोधर्मन का मंदसोर लेख (मा० स० ५८९ = ई० स० ६४६) की तिथि मालव सम्वत् मे दी गई है। लेखो मे ८वी सदी के पश्चात् विक्रम सम्वत् के प्रयोग का एक यह भी सम्भावित कारण है कि उस सदी के बाद जनता मे गणराज्य की कल्पना सदा के लिए लुप्त हो गई। राज्यतत्र का बोलबाला हो जाने से लोगो ने भारतीय सस्कृति के रक्षक विक्रमादित्य को आदर्श सम्राट् मान कर विक्रम पदवी को प्राचीन सम्वत् के साथ जोड दिया। किन्तु चौथी सदी मे मालवा के विजित हो जाने पर भी सम्वत् के साथ विक्रम नाम ९वी सदी के बाद ही पाया जाता है। उत्तरी भारत मे गुर्जर प्रतिहार शासको के द्वारा वि० स० की लोकप्रियता बढी। विहार प्रदेश मे सर्वप्रथम वि० स० ८९८ का उल्लेख मिथिला के विद्वान् वाचस्पति मिश्र ने 'न्याय सूचि' मे किया है।

सस्थापक

विक्रम सम्वत् के आदि सस्थापक का प्रश्न आज भी विवादास्पद है। मार्शल का कथन था कि शक राजा अयस ने ई० पू० ५७ मे यह गणना आरम्भ की। गोपाल स्वामी ऐयर चष्टन को इसका सस्थापक मानते है। डा० जायसवाल का मत था कि आन्ध्र नरेश गौतमी पुत्र सातकर्णि ने शको को पराजित कर इसे आरम्भ किया था। डा० अलतेकर आदि कृत नाम को व्यक्तिगत नाम मानते है। कृत नामधारी राजा अथवा सेनापति के द्वारा इस सम्वत् की स्थापना की गई होगी, इसीलिए उस गणना का नाम कृत[1] सम्वत् रक्खा गया। इन सब विभिन्न मतो का मूल कारण यह है कि ई० पू० ५७ वर्ष मे मालवा के शासक विक्रम नामक राजा की स्थिति सिद्ध न हो सकी है। विक्रम नाम से किसी ऐतिहासिक पुरुष के सम्बन्ध मे स्पष्ट ज्ञान नही है जिसने किसी विजय के याद मे काल गणना आरम्भ किया हो। इतने विवेचन के पश्चात् भी विक्रम सम्वत् के विषय पर अभी तक पर्याप्त प्रकाश नही पड सका है।

आरम्भ काल

विक्रम सम्वत् किस समय आरम्भ किया गया इस विषय मे अभिलेखो तथा साहित्यिक उल्लेखो द्वारा प्रकाश पडता है। मेरुतुंगाचार्य की पाटावली मे महावीर निर्वाण के ४७० वर्ष बाद विक्रम सम्वत् का आरम्भ बतलाया गया है (निर्वाण ई० पू० ५२६-४७० यानी ई० पू० ५७ वर्ष) कालिकाचार्य कथानक (तेरहवी सदी) मे ई० पू० ५७ वर्ष मे विक्रम द्वारा शक पराजय की बात उल्लिखित है। विक्रम काल के १३५ वर्ष मे शक-सम्वत् आरम्भ हुआ, यानी १३५-७८ ई० = ई० पू० ५७ मे विक्रम सम्वत् आरम्भ ज्ञात है। गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त के मदसोर लेख मे ४९३ मालवा सम्वत् की तिथि दी गई है। उसके करमदण्डा लेख की तिथि ११७ गु० स० है यानी वह ११७ + ३२० = ई० स० ४३७ मे शासक था। अतएव ई० स० ४३६ तथा मालव सम्वत् ४९३ एक ही वर्ष होगा (ई० स० ४३६ = मालव सम्वत् ४९३) इसके अनु-

---

[1] फलत जो कृत नाम से ज्ञापित हुआ मालव शब्द से भी प्रचलित हुआ, वही अद्यावधि विक्रम सम्वत् है। कृत शब्द कार्तिक वाची हो सकता है जो नाम (वर्षारम्भ) नक्षत्र कृत्तिका मे सम्बन्धित है। आरम्भ से कृत्तिका गणना का माध्यम होने के कारण सम्वत् कृत नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सार मालव सम्वत् ४९३–४३७ = ५७ ई० पूर्व मे आरम्भ माना जा सकता है। दोनो आधार पर विक्रम सम्वत् का आरम्भ ई० पू० ५७ में सिद्ध होता है। उत्तरी भारत मे यह सम्वत् चैत्र शुक्ल से तथा दक्षिण भारत मे कार्तिक शुक्ल १ से प्रारम्भ मानते हैं। बगाल को छोडकर समस्त भारत मे आज भी विक्रम काल (सम्वत्सर) प्रयुक्त होता है। बंगाल के सम्वत् को फसली कहते हैं जो हिजरी का ही एक सुसस्कृत रूप है।

शक सम्वत्

इस विषय का उल्लेख किया गया है कि कुषाण वशो लेखो, पश्चिमी भारत के क्षत्रप प्रशस्तियो तथा सिक्को पर एक ही सम्वत् का प्रयोग मिलता है तथा उसी के सहारे आध्र लेखों की भी तिथिया (राज्य वर्षांक मे) क्षत्रप समकालीनता के आधार पर निश्चित हो जाती है। यह भारतीय गणना नही थी, क्योकि शक लोगो द्वारा मालवगण को परास्त कर मालव-सम्वत् का प्रयोग असंगत था, इस कारण यह मानना उचित होगा कि शक नरेशों ने पृथक सम्वत् की स्थापना की। उस शक सम्वत् की स्थापना कब और किसके हाथो हुई ? जैन ग्रथ प्रभावक चरित' मे कालिकाचार्य कथा तक उल्लिखित है कि शक लोगो ने अपना सम्वत् चलाया था। शक लोगो ने विक्रम के उत्तराधिकारी को विक्रमादित्य के १३५ वर्ष मे मार डाला। साहित्य मे उसी काल से शक गणना का आरम्भ मानते है। विक्रमादित्य द्वारा सस्थापित काल ई० पू० ५७ मे १३५ जोडने मे शक-काल ई० स० ७८ मे स्थापित सिद्ध हो जाता है (ई० पू० ५७ – १३५ = ई० स० ७८)। कुछ विद्वानो का मत है कि रुद्रदामन (ई० स० १५०) के पितामह चष्टन शक वश का प्रथम महाक्षत्रप हुआ और सम्भवत उसी ने इस गणना को आरम्भ किया। परन्तु इसका कोई सबल प्रमाण नही है। अधिकतर यह विचार यथार्थ ज्ञात होता है कि कनिष्क ने इस सम्वत् को आरम्भ किया था जो कालान्तर मे 'शक काल' से प्रसिद्ध हुआ। शक सम्वत् से सम्बन्धित लेखो मे निम्न प्रकार का उल्लेख पाया जाता है—

(१) शक नृपति राज्यभिषेक सवत्सर (इ० ए० भा० ९ पृ० ५८)
(२) शक नृपति सवत्सर (वही भा ६ पृ ६ ७३)
(३) शक नृप सवत्सर (वही १२ पृ० १६)
(४) शक सम्वत् (ए० इ० भा० १ पु० १६)
(५) शक या शाके (वही पृ० ३४३)
(६) शक नृप काल (ए० इ० भा० ३ पृ० १०९)

इस आधार पर कहना न्याय सगत होगा कि पाचवी सदी से बारहवी सदी तक के लेख शक-काल (सम्वत्) का उल्लेख करते हैं। पश्चिमी भारत मे क्षहरात शक नहपान के लेख मे शक काल प्रयुक्त मिलता है। क्षत्रपो के सिक्को पर भी तिथि इसी सम्वत् से सम्बन्धित है। उस तिथि का आरम्भ जीवनदामन के सिक्को से होता हैं। १००, १०२, ११९ आदि अंक मिलते हैं। रुद्रदामन के जूनागढ लेख में ७२ की तिथि मिलती हैं जो ई० स० १५० (७२ + ७८) मानी जाती है। यह तो सही है कि शक क्षत्रप आरम्भ मे सामत रहे अत अपने सम्राट् कुषाण के काल का प्रयोग करने लगे। उनके द्वारा अधिक प्रयोग होने के यह गणना शक काल के नाम से प्रसिद्ध हो गयी। यह सही है कि कुषाण राजा कनिष्क (ई० स० ७८ मे) के गद्दी

पर बैठने के कारण उस गणना का आरम्भ हुआ हो जो आज तक शक-काल के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्वत् के सस्थापक के विषय मे बडा ही मतभेद है। फ्लीट तथा केनेडी कनिष्क को इसका सस्थापक नही मानते। उनके कथनानुसार उसने विक्रम सम्वत् की स्थापना की थी। फरगुसन, आल्टेन बर्ग, बनैर्जी तथा राय चौधरी का मत है कि कनिष्क ने ही सन् ७८ मे शक सम्वत् को आरम्भ किया था। कुषाण वंश के लेखो मे ३-९३ वे वर्ष की तिथि अंकित है जो सम्वत् मे दी गई है। इस आधार पर कनिष्क ई० स० ७८ मे ई० स० १०९, वशिष्क ई० स० १०२-६ तक, हुविष्क ई० स० १०६-३८ तक तथा वासुदेव ई० स० की दूसरी शती का शासक प्रकट होता है। कुषाण साम्राज्य के अवनति पश्चात् भी शक सम्वत् का प्रयोग उत्तरी भारत मे मिलता है। कौशाम्बी के मग राजाओ ने अपने लेखो मे 'शक-सम्वत्' का प्रयोग किया था। कौशाम्बी नरेशो के लेख मे ८७, ८८ तथा ८९ तिथिया (= १६५, १६६, १६७ ई०) कोसम अभिलेख मे १०७, १३०, १३७ शक-काल (= १८५, २०८ तथा २१५ ई०) का उल्लेख मिलता है। कौशाम्बी के समीप गिजा मे वर्णन आता है कि शक काल ५२ = १३० ई० मे भीमसेन शासन करता था। कौशाम्बी से दूर रीवा के बदोगढ लेख मे पोथसिरि नामक राजा के लेख मे शक-काल सम्बंधी तिथि अकित है। (ए० इ० भा० २४ पृ० १४६) झाँसी (प्रयाग के समीप) तथा बैजनाथ (कागडा) लेखो मे शक सम्वत् का प्रयोग हुआ है। कैलवान् लेख (ए० इ० भा० ३१ पृ २२९) की तिथि १०८ है जो सभी शक सम्वत् सन् ७८ स सम्बन्धित है। पूर्वी मालवा का अभिलेख वाशिष्क के २८ वे बर्ष मे उत्कीर्ण हुआ जिसकी तिथि शक-सम्वत् मे मानने मे ही निश्चित काल ज्ञात होता है। डा० मजूमदार का कथन (शक-सम्वत् ई० स० २८४ मे आरम्भ हुआ था) मानने से चौथी सदी तक मालवा मे कुषाण शासन की स्थिति प्रकट होती है। किन्तु द्वितीय चन्द्रगुप्त ने उस प्रदेश पर गुप्त शासन चौथी सदी के आरम्भ मे ही स्थापित किया था जो उसके साची तथा उदयगिरि अभिलेखो के आधार पर सिद्ध हो जाता है। मध्य एशिया के रूसी पुरातत्व सम्बन्धी पत्रो की तिथिया (२०७ तथा २३१) भी कनिष्क सम्वत् सन् ७८ मे जुडी है। अत यह सिद्ध होता है कि कनिष्क ने ई० स० ७८ मे शक-सम्वत् की स्थापना की। अन्य विचार तथ्यहीन है। शक युग के इतिहास पर अधिक प्रकाश पडने पर हम इसी निर्णय पर पहुच सके हैं। इनके स्थापना के पाच सौ वर्षो के बाद ही लेखो मे 'शक-नृप-काल' या 'शकाब्द' का उल्लेख मिलता है जो यह सिद्ध करता है कि शक द्वारा काल स्थापना की परम्परा लोगो को ज्ञात थी। चालुक्य नरेश द्वितीय पुलकेशी के अयहोल लेख म भी इस प्रकार की रचना मिलती है।

पञ्चाशत्सु कलौ काल षट्सु पञ्चशतासु च
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्

दक्षिण तथा पश्चिमी भारत मे शक तथा कुषाण मे भ्रम हो गया। मध्ययुग मे शक काल से विदेशी भावना जाती रही। उज्जैन के प्रसिद्ध ज्योतिषी एवं गणितज्ञ वराह मिहिर ने शक काल का प्रयोग ग्रथो मे किया तथा गुजरात के जैन लेखक भी शक सम्वत् का प्रयोग करते रहे। इस सम्वत् का प्रयोग दक्षिण के कन्नड तथा करनाट लोगो ने किया। करनाट क्षत्रिय बगाल मे निवास कर सेन बंश के नाम से प्रसिद्ध हुए। उत्तरी विहार, के लिच्छवी

एवं नेपाल मे शक काल का प्रयोग मिलता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा कौशाम्बी का वर्णन किया जा चुका है। दक्षिण के प्रसिद्ध राजा सालिवाहन (सातवाहन) का नाम कालान्तर मे जोड दिया गया। इस कारण दक्षिण के यादव नरेश कृष्ण के ताम्रपत्र मे ११७२ शक काल तथा उदभट्ट काव्य मे सालिवाहन शक ११४४ का प्रयोग मिलता है। अतएव यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारत के शक काल को (श० का० ५५६), (ए० इ० भा० ६ पृ० १) शालिवाहन-शक की संज्ञा दी गई है। चौदहवी सदी के लेखो मे शालिवाहन शक-काल का उल्लेख है जो सम्भवत: दक्षिण मे शक सवत्सर (वर्ष) का द्योतक था। दक्षिण की राजनीतिक परम्परा मे शालिवाहन (सातवाहन) नरेश प्रसिद्ध थे अतएव उस सवत्सर के साथ शालिवाहन नाम जोड देना उचित ही था। सारे भारत मे इस शक-काल की गणना का समान प्रयोग होता रहा है। यही कारण है कि हमारी सरकार ने शक-सम्वत् का राष्ट्रीय-सम्वत् मान लिया है।

गुप्त सम्वत्

भारतीय ऐतिहासिक गवेषण मे विद्वानो को अमुक राजा या राजवंश के काल निर्णय मे अत्यन्त कठिनाइयो का सामना करना पडा था। पूर्वकाल मे भारत के विभिन्न-प्रान्तो मे अनेक सम्वत् प्रचलित हुए थे, जिन्हे निश्चित समयो पर पृथक-पृथक राजाओ ने स्थापित किया था। इन सम्वतो के आधार पर भारत का तिथि-क्रम युक्त शृंखला-बद्ध इतिहास लिखने मे बड़ी सहायता मिली है। गुप्त लेखो मे 'गुप्त काल' और गुप्त वंश की राज्य-परम्परा का स्पष्ट उल्लेख है जिससे काल निर्णय मे सरलता हो जाती है। यह सवत् (गुप्त-सवत) किस राजा ने आरम्भ किया इस विषय मे लिखित प्रमाण अलभ्य है।

प्राय समस्त गुप्त लेखो मे एक प्रकार की तिथि का उल्लेख मिलता है जिस से उस सम्राट की शासन अवधि स्थिर की जाती है। सब तिथियो के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि तिथि का क्रम शनै शनै एक शासक से उसके उत्तराधिकारी के लेख मे बढता जाता है। गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के लेखो मे ८२ या ९३ आदि तिथिया उल्लिखित है[1] तो उसके पुत्र प्रथम कुमारगुप्त की प्रशस्तियो मे ९६, ९८, ११७, १२९ आदि तिथियाँ मिलती है[2]। इन अंको से यह अर्थ नही निकाला जा सकता कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने ९३ वर्ष तक शासन किया तथा प्रथम कुमारगुप्त १२९ वर्ष तक राज्य करता रहा। यदि इन अको पर विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त सम्राट् किसी अमुक समय से काल गणना करते थे। ये अक यही सूचित करते है कि गुप्त नरेश ९३ वे वर्ष तथा १२९ वे वर्ष मे शासन करते रहे।

कतिपय लेखो तथा ग्यारहवी शताब्दी के मुसलमान इतिहासज्ञ अलबेरूनी के वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्तो के नाम से किसी समय की गणना होती था, जिसे 'गुप्त-काल' या गुप्त-सवत्' कहते है। इस वंश के लेखो की समस्त तिथिया इसी गुप्त सवत् मे दी गई है। गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त के जूनागढ लेख मे स्पष्ट रीति से उल्लेख है कि इस प्रशस्ति की तिथि 'गुप्त-काल' (गुप्त-संवत्) मे दी गई है।

गुप्त-सवत् का नामोल्लेख

---

[1] श्री चन्द्रगुप्तस्य विजय राज्य सम्वतसरे (का० इ० इ० भा० ३ न० ५ ७)

[2] 'श्री कुमारगुप्तस्य अभिवर्धमान विजयराज्ये सवत्सरे पण्णवते' वही न० ८, १०, ११

सवत्सराणामधिके शते तु त्रिशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव ।
रात्रौ दिने प्रौष्ठापदस्य षष्ठे गुप्तप्रकाले गणना विधाय[१] ॥

गुप्त नरेश द्वितीय कुमारगुप्त तथा बुधगुप्त के सारनाथ वाले लेख में भी गुप्त-संवत् का नामोल्लेख मिलता है[२] ।

'वर्षे शते गुप्ताना सचतु पचाशदुत्तरे भूमि ।
शासति कुमारगुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयायाम्'
'गुप्ताना समतिक्रान्ते सप्तपचाशदुत्तरे ।
शते समाना पृथिवी बुधगुप्ते प्रशासति' ॥

बगाल के गौड नरेश शशाके के गजाम लेख मे "गौप्ताब्दे वर्ष शतत्रये" की तिथि उल्लिखित है। (ए० इ० भा० ६ पृ० १४३)

ईसा की दसवी शताब्दी के मोरवि ताम्रपत्र मे भी तिथि का उल्लेख गुप्त सवत् मे पाया जाता है। उस ताम्रपत्र मे 'गौप्ते' शब्द से स्पष्ट प्रकट होता कि गुप्त लोगो की भी कुछ काल-गणना थी[३]

'पञ्चाशीत्या युतेतीते समानां शतपञ्चके
गौप्ते ददावदो नृप सोपरागेर्कमण्डले' ॥

गुप्त सम्राटो के सामत परिव्राजक महाराजाओ के लेखो मे तिथि का उल्लेख 'गुप्तनृपराज्यभक्तौ' के साथ मिलता है[४] । अत यह निर्विवाद है कि गुप्त सवत् की अवश्य स्थापना हुई जिस समय से गुप्तो की काल गणना प्रारम्भ हुई ।

ग्यारहवी शताब्दी मे महमूद गजनवी के समकालीन इतिहास अलबेरूनी भारत आया। उसने भारत के अनेक विषयो का वर्णन अपनी पुस्तक मे किया है। भारतीय सवतो की वार्ता को उसने अछूता नही छोडा, परन्तु अक्षरश उसके वर्णन को सत्य नही माना जा सकता। अलबेरूनी ने गुप्त-सवत् के बारे मे भिन्न विवरण दिया है—'लोग कहते है कि गुप्त शक्तिशाली तथा क्रूर नरेश थे। जब उस वश की समाप्ति हुई उसी समय से इस सवत् की गणना होने लगी। यह भी ज्ञात होता है कि बलभ प्रतापी राजा था क्योकि बलभी सवत् के समान गुप्त काल की गणना शक काल के २४१ वर्ष ($६^{३} + ५^{२} = २१६ + २५ = २४१$) बाद प्रारम्भ होती है[५]' ।

अलबेरूनी का कथन

---

१. गु० लें० न० १४ ।

२ आ० स० रि० १९१४ १५ ।

३ गु० ले० भूमिका ९७। इस ताम्रपत्र के गोप्ते को समता फ्लीट किना ग्राम से बतलाते है, परन्तु परन्तु यह निर्विवाद है कि इसका सम्बन्ध गुप्त लोगों से है। (कलेक्टेड बकस आफ र भण्डारकर भा० ३ पृ० ३१३—४) ।

४. गु० लें० न० २२, २३, २५ आदि ।

5. As regards the Gupta Kala, people say that the Guptas were

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस गुप्तकाल या गुप्त-सवत का उल्लेख किया गया है, वह किस समय चलाया गया तथा इसके प्रतिष्ठाता कौन थे ?

इस सवत के समय निर्धारित करने मे अलबेरूनी से बहुत सहायता मिलती है। अनेक सवतो की समानता दिखलाते हुए अलबेरूनी से (१) १०८८ विक्रम संवत् (२) ९५३ शक सवत् (काल) तथा (३) वलभ काल = गुप्त काल का उल्लेख किया है, जिससे कथन की पुष्टि होती है कि गु० स० शक काल से २४१ वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ था। अलबेरूनी के इन संवतो की तिथि गणना वैज्ञानिक रीति से सही है, परन्तु उसके समस्त वर्णन जनश्रुति के आधार पर लिखे गये है। उसके कथन से ज्ञात होता है कि गुप्त-सवत् उस वश के नष्ट होने पर प्रारम्भ हुआ। वल्लभ, जो वलभी नगर (सौराष्ट्र मे स्थित) का शासक था, उस वश का अंतिम नरेश था। वलभी सवत् उसी के नाम से प्रारम्भ हुआ। अलबेरूनी का समस्त विवरण जनश्रुति के कारण अविश्वसनीय है। उसकी अप्रामाणिकता के लिए अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते है। अलबेरूनी लिखता है कि शक काल विक्रमादित्य द्वारा शक पराजय के समय से प्रारम्भ हुआ[1], परन्तु चालुक्य-प्रशस्तिकार रविकीर्ति ने शक सवत् का आरम्भ शक राजा के सिंहासनारूढ होने के समय से बतलाता है[2], जो वस्तुत ठीक सिद्धात है। इसी प्रकार गुप्तो के विषय मे भी उस इतिहासज्ञ ने असत्य बाते लिख डाली। यदि वलभी लेखो पर ध्यान दिया जाय तो अलबेरूनी का कथन सर्वथा अग्राह्य हो जाता है।

वलभी मे मैत्रको के सेनापति भट्टारक ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। उसके तीसरे पुत्र प्रथम ध्रुवसेन के एक लेख मे २०६ तिथि का उल्लेख मिलता है[3]। यदि वलभी राज्य स्थापन के अवसर पर वलभी सवत् का आरम्भ हुआ हो तो यह कहना असम्भव है कि वलभी वश के सस्थापक (भट्टारक) के २०६ वर्ष पश्चात् उनका पुत्र प्रथम ध्रुवसेन शासक हुआ। अतएव इस तिथि का वलभी सवत् से कुछ भी सम्बन्ध प्रकट नही होता। ऐसी परिस्थिति मे वलभी राज्य मे किसी अन्य सवत् का प्रचार मानना आवश्यक है जिसमे उस वश की तिथिया मिलती है। ऐतिहासिक पण्डितो ने वलभी लेखो की तिथियो को गुप्त-सवत् से सम्बद्ध किया है। इस विवाद का परिणाम यही ज्ञात होता है कि गुप्तो के अधीनस्थ मैत्रको ने (स्वतन्त्र होने के समय से) वलभी मे प्रचलित गुप्त-सवत् को वलभी सवत् का नाम दे दिया। अत यह कहना युक्तिसगत होगा कि वलभी सवत नामक कोई स्वतन्त्र गणना नही थी, परन्तु गुप्त संवत् का दूसरा नाम है। इस आधार पर अलबेरूनी का वर्णन अग्राह्य है, किन्तु तिथि उल्लेख प्रमा-

---

wicked and powerful people When they ceased to exist this date was used as the epoch of an Era. It seems that Valabha was the last of them, because the era of the Guptas falls, like that of the Valabha era, 241 years later than the Saka Kala.

—आलबेरूनी इंडिया, भा० २ पृ० ७।

१ आलबेरूनी इंडिया, भा० २ पृ० ६।

२ पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् —अयहोल का लेख शक सवत् ५५६—इ० भा० ६ पृ० १।

३ इ० हि० क्वा० भा० ४ पृ० ४६०।

णयुक्त है। उसके कथनानुसार गुप्त सवत् भी शक काल से २४१ वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ जो अन्य प्रमाणो से भी सिद्ध होता है। कुछ जैन ग्रथो से भी इसको पुष्टि होती है कि गुप्त-संवत् शक काल से २४१ वर्ष पश्चात आरम्भ हुआ था।

जैन ग्रथों के आधारपर गु० स० तथाश० का० का अन्तर (२४१ ई०)

आठवी शताब्दी के प्रथम लेखक जीनसेन ने वर्णन किया ह कि भगवान् महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह पश्चात् शक राजा का जन्म हुआ तथा शक के अनन्तर और गुप्तो के २४१ वर्ष शासन के बाद कल्किराज का जन्म हुआ[1]। द्वितीय ग्रथकार गुणभद्र ने उत्तर पुराण मे (८९८) लिखा है कि महावीर निर्वाण के १००० वर्ष बाद कल्किराज पैदा हुआ[2]। जीनसेन तथा गुण भद्र के कथन का समर्थन तीसरे जैन लेखक नेमिचन्द्र करते है[3]।

नेमिचन्द्र त्रिलोकसार मे लिखते है कि शकराज महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह के बाद तथा शककाल के ३९४ वर्ष ७ माह के पश्चात् कल्किराज पैदा हुआ[4]।

इनके योग से—वर्ष	माह
६०५	५
३९४	७
१०००	००

वर्ष होते है। इन तीनो जैन ग्रथाकारो के कथनानुसार शक काल तथा कल्किराज का जन्म निश्चित हो जाता है। इस शक काल की तिथि को विक्रम सवत् म परिवर्तन करने से शक,

१. गुप्ताना च शतद्वयम्
एक त्रिशच्च वर्षाणि कालाविदभिरुदाहृतम।
द्विचत्वारिशदेवात कल्किराजस्य राजता।
ततोऽजितमयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थित।
वर्षाणि षट्शती त्यक्त्वा पञ्चाग्रा मासपञ्चकम्।
मुक्ति गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत।—जीनसेनकृत हरिवंश अध्याय ६०

२. इ० ए० भा० १५ पृ० १४३।

३ नेमिचन्द्र की तिथि दशवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे मानी जाती है। एक लेख से नेमिचन्द्र चामुण्डराय का राजकाल ज्ञात होता है--

त्रिलोकसार प्रमुखप्रबन्धान्।
(विरच्य सर्वान्) गुप्तम नेमिचन्द्र
विभाति सैध्यान्तिकसार्वभौम।
चामुण्डरायचित वन्यपाद पद्म --(नागर लेख २० का० भा० ८)

यह (चामुण्डराय), गग राजा रासमल्ल चतुर्थ का ९० स (९७७ के लगभग मन्त्री था जो श्रवण बलगोला की प्रशास्त से पता चलता है (राइस—बेलगोला का लेख भूमिका पृ० २८। इस आधार पर नेमिचन्द्र की तिथि निश्चित की गई है।

४. पण छस्सय वस पणमास जुदं गमिय वीरणि वुइदो सगराजो सो कल्किचदुण वतिय महिय सगमासं (त्रिलोकसार पृ० ३२)

विक्रम तथा ई० स० मे समकालीनता बताई जा सकती है जिसके कारण गुप्त काल को निश्चित करने मे सरलता हो जाती है। ज्योतिषसार के आधार पर यह ज्ञात है कि शक काल में १३५ जोडने से वह तिथि विक्रम संवत् में परिवर्तित हो जाती है[1]। शक काल के ३९४ वर्ष पश्चात् कल्किराज पैदा हुआ जो ५२९ विक्रम (३९४ + १३५) होता है[2]। गुप्त सम्राट् प्रथम कुमारगुप्त के मदसोर के लेख मे दूसरी तिथि मालव-सवत् ५२९ का उल्लेख है[3]। मंदसोर लेख की पहली तिथि ४२९ वि० दूसरी तिथि से ३६ वर्ष पूर्व है। अतएव प्रथम कुमारगुप्त शक ३५८ (४९३-१३५) मे बन्धुवर्मा के साथ शासन करता था[4]।

विक्रम तथा शक काल का सम्बन्ध

गुण भद्र के कथनानुसार कल्किराज का शक ३९४ के पश्चात् माघसंवत्सर प्रारम्भ होता है[5]। वराहमिहिर ने भी कुछ निम्नलिखित व्यतीत शक संवत्सरो का वर्णन किया है[6] —

शक तथा गुप्त काल का सम्बन्ध

शक	३९४	व्यतीत	माघ	सवत्सर
,,	३९५	,,	फाल्गुन	,,
,	३९६	,,	चैत्र	,,
,,	३९७	,,	वैशाख	,,

शक ३९७ के वैशाख सवत्सर का उल्लेख परिव्राजक महाराज हस्तिन् के खोह लेख १५६ मे मिलता है।[7] इस आधार पर शक तथा गुप्त काल मे निम्नलिखित समता तैयार की जा सकती है —

शक ३९४ = माघ	सवत्सर = गुप्त-सवत	१५३	व्यतीत
,, ३९५ = फाल्गुन	,, = ,, ,,	१५४	,,
,, ३९६ = चैत्र	,, = ,, ,,	१५५	,,
,, ३९७ = वैशाख	,, = ,, ,,	१५६	,,

१. स एव पञ्चाग्निकुभियुक्त स्याद्विक्रमस्य हि रेवाया उत्तरे तीरे सवन्नाम्नाति विश्रुत (ज्योतिषसार)

२. साधारणतया यह सर्व प्रसिद्ध है कि शक काल में ७८ जोडने से ई० स० तथा ई० सन् में ५७ जोड़ने पर विक्रम सवत् बनता है ३९४ + ७८ + ५७ = ५२९

३. सवत्सरशतेषु पञ्चसु विशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु यातेष्वाभिरम्य तपस्यमासशुक्ल द्वितीयायाम् (गु० ले० न० १८)।

इस आधार पर मालवा तथा विक्रम सवत् में समानता स्थापित होता है। (ईसा ५७)।

४ मालवाना गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दाना रितौ सेव्य घनस्वने।
सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नि त्रयोदशे।—(गु० ले० न० १८)।

५ चतुर्मुखाह्वय कल्किराजोऽर्जित भूतले।
उत्पत्स्येह मघा सवत्सरेयोगममागमे।—(उत्तरपुराण ७६।३९६)।

६ फ्लीट—का० इ० इ० भा० ३ परिशिष्ट ३ पृ० १६१।

७ शतपञ्चशतोत्तरेब्दे शते गुप्तनृपराज्यभुक्तौ महावैशाखसवत्सरे कार्त्तिकमासशुक्ल पक्षतृतीयाम्। गु० ले० २१।

इस समता से यह ज्ञात होता है कि गुप्त-सम्वत् की तिथि मे २४१ जोडने से शक काल मे परिवर्तन हो जाता है। इस विस्तृत विवेचन के कारण अलबेरूनी के कथन की सार्थकता ज्ञात हो जाती है। यह निश्चित हो गया कि शक काल के २४१ वर्ष पश्चात् गुप्त सम्वत् का आरम्भ हुआ।

गुप्त-सम्वत् तथा शक काल मे २४१ वर्ष का अन्तर स्थिर हो जाने पर, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शक-काल के २४१ वें वर्ष या २४१ वर्ष व्यतीत होने पर गुप्त काल (सम्वत्) प्रारम्भ हुआ। फ्लीट महोदय का मत है कि गुप्त सम्वत् शक काल के २४१ वे वर्ष मे आरम्भ हुआ उनके कथनानुसार दोनो सम्वतो मे २४२ वर्ष का अन्तर पडता है[२]। उदाहरणार्थ उसने बुधगुप्त के एरणस्तम्भलेख[३] की तिथि गु० स० १६५ एव शक काल ४०७ (१६५ + २४२) से समता बतलाई है। यदि वैज्ञानिक रूप से विचार किया जाय तो फ्लीट की धारणा तथा कथन सर्वथा निराधार प्रकट होते है।

फ्लीट का मत

जैनग्रथकार नेमिचन्द्र के कथनानुसार यह ज्ञात होता है कि शक काल के ३९४ वर्ष ७ माह व्यतीत होने पर कल्किराज का जन्म हुआ। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ३९५ वें वर्ष मे ७ माह बीतने पर कल्किराज का जन्म हुआ। ऊपर तुलनात्मक प्रसग मे दिखलाया गया है कि—

मत का खण्डन

शक	३९४ = माघ	सवत्सर = गु०	स०	१५३	व्यतीत
,,	३९७ =	= ,,	,,	१५६	,,

अतएव शक काल तथा गु० स० मे २४१ वर्ष का अन्तर ज्ञात होता है, २४२ वर्ष का नहीं।

शून्य गु०	स०	=	शक	२४१
१ ,,	,, प्रचलित =		,,	२४२

इस उपर्युक्त कथन की पुष्टि लेखो मे होती है। गुप्त प्रशस्तियों मे भी इसके अनेक प्रमाण मिलते है। गुप्त राजा द्वितीय कुमार गुप्त के सारनाथ लेख की तिथि गु० स० १५४ है[३], जो शक काल ३९५ व्यतीत (१५४ + २४१ मे) परिवर्तन हो सकता है। इसके अतिरिक्त बुध गुप्त के सारनाथ प्रतिमा लेख मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि गु० स० १५७ वर्ष व्यतीत होने पर शासन करता था[४]। इस स्थान पर पूर्व समता को ध्यान मे रखने तथा ज्योतिषसार के आधार पर एक नवीन तुलनात्मक वृत्त तैयार हो सकता है। यह निम्न प्रकार है —

लेखो का प्रमाण

---

१ फ्लीट गु० लें० भूमिका ८४।

२ का० इ० इ० भा० नं० ४०।

३. वर्षे शते गुप्तानां सचतुः पञ्चाशदुत्तरे भूमिम्। शासति कुमारगुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयायाम्।

४. गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्त पञ्चाशदुत्तरे।
शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति।

मालव-संवत्	शक काल	गुप्तसंवत्
५२९ व्यतीत	३९४ व्यतीत	१५३
५३० ,,	३९५ ,,	१५४
५३१ ,,	३९६ ,,	१५५
५३२ ,,	३९७ ,,	१५६
५३३ ,,	३९८ ,,	१५७ व्यतीत[1]

इस तुलना मे यही परिणाम निकलता है कि शक काल तथा गुप्त संवत् मे २४१ का ही अन्तर है। इन प्रमाणो के आधार पर यह प्रकट होता है कि व्यतीत गुप्तवर्ष संवत् मे २४१ जोड़ने से व्यतीत शक काल तथा प्रचलित गु० स० मे २४१ से प्रचलित शक काल मे परिवर्तन होता है[2]। अलबेरूनी ने दोनों संवतों का अन्तर बतलाते हुए विक्रम, शक काल तथा वलभी (गुप्त) संवत् मे तीन तिथियो का उल्लेख किया है[3]।

मालवा स०	श० का०	वलभी (गु०) स०
१०८८	९५३	७१२

यदि उपर्युक्त तुलना पर ध्यान दिया जाय तो प्रकट होता है कि लेखो तथा अलबेरूनी कथित संख्या (२४१) का ही अन्तर गु० स० तथा शककाल मे पाया जाता है।

मालव-संवत्	शक काल	गुप्त-संवत्
५२९	३९४	१५२
१०८८	९५३	७१२

गुप्त लेख के अतिरिक्त वेरावल लेख के अध्ययन से भी गु० स० तथा श० का० के अन्तर (२४१ वर्ष) पर प्रकाश पड़ता है। कर्नल टाड ने वेरावल नामक स्थान से गुजरात के चालुक्य नरेश अर्जुनदेव के लेख का पता लगाया था[4]। इस लेख की विशेषता यह है कि इसमे चार संवतो मे तिथि उल्लिखित है। प्रशस्तिकार ने विक्रम १३२० वलभी ९५४, हिजरी ६६२ तथा सिंह संवत् १५१ तिथियो का उल्लेख किया है[5]। दीवान बहादुर तिलाई के गणनानुसार आषाढ बदी १२ रवि शक-काल ११८६ तथा विक्रम १३२१ एक ही वर्ष मे पड़ता है[6]। लेखो मे वर्ष तथा इस गणना मे भिन्नता इसलिए होती है कि वेरावल के

वलभी व गुप्त संवत् की एकता

[1] बुध गुप्त के सारनाथ के लेख से स्पष्ट हो जाता है कि वह गुप्तों के १५७ वर्ष व्यतीत होने पर सप्तमी वैसाख में शासन करता था, या उस समय को प्रचलित १५८ वर्ष कह सकते है। इस नरेश का एक दूसरा लेख (एरण) आठ वर्ष के बाद गु० स० १६५ का है (गु० ले० न० १९)। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि वह राजा गु० स० १६५ अषाढ १२ में राज्य करता था। इसमे भी आषाढ मास में व्यतीत गु० स० १६५ यानी प्रचलित १६६ ज्ञात होता है।

२. कलेक्टेड वर्कस आफ सर भण्डारकर भा० ३ पृ० ३६७।

३. अलबेरूनी ग्रन्थ भा० २ पृ ७।

४. एनल्स आफ राजस्थान भा० १ पृ० ७०५।

५ श्रीनृपविक्रम १३२० तथा श्रीमद्वलभी स० ९४५ तथा श्रीसिंह स० १५१ वर्षे अषाढ बदी १२ रवि (इ० ए० भा० ११ पृ० २४२)।

६. इंडियन क्रानालोजी टेबुल १० पृ० ०२।

लेख में दक्षिण भारत की प्रणाली के अनुसार विक्रम १३२० तथा वलभी ९४५ कार्तिकादि में उल्लिखित है। अतएव—

विक्रम	शक	वलभी
१३२१ =	११८६ =	९४५

इसमें से ७९२ घटाने पर

वि०	शक	वलभी
५२९ =	३९४ =	१५३

तथा इसमें से ३६ घटाने पर

वि०	श०	वलभी
४८३	३५८	११७

हो जाता है। इस गणना में वलभी ११७ तथा गुप्त नरेश प्रथम कुमारगुप्त की करमदण्डा की प्रशस्ति की तिथी (गु० स० ११७) समान है[1]। अतः ज्ञात होता है कि वलभी तथा गुप्त-संवत् में कोई विभिन्नता नहीं है। इस वेरावल लेख की समता

वि०	श०	वलभी
१३२१	११८६	९४५

तथा उसकी तुलना से

मा० स०	श०	वलभी (गु० स०)
५२९	३९४	१५३

२४१ वर्ष का ही अन्तर है, जो ऊपर बतलाया गया है।

खेरा का ताम्रपत्र

खैरा ताम्रपत्र आठम लेख है जिसमें शक काल तथा गुप्त संवत् के अन्तर (२४१) पर प्रकाश पड़ता है। इस लेख की तिथि वलभी संवत् ३३० मिलती है[2] जिसका उल्लेख निम्न प्रकार है—

सं० ३३० द्वि० मार्ग शीर्ष शु० २

इस वलभी संवत् में २४१ जोड़ने से शक काल में परिवर्तन हो जाता है।

वलभी	शक काल
३३०	५७१

ज्योतिष गणना के आधार पर शक ५७१ अधिक मार्गशीर्ष में पड़ेगा[3]। अतएव

वलभी	शक काल
३०० प्रचलित =	५७१ प्रचलित

के समान है। इसी तुलना से इस तिथि का स्थान निश्चित हो जाता है।

मा० स०	श०	गु० (वलभी) स०
५२०[4]	३९४[4]	१५३[4]

१. ए० इ० भा० १० पृ० ७० ।

२. गु० ले० भूमिका पृ० ९३ ।

३. भट्टारकार कामेमोरेशन वाल्युम पृ० २०० ।

४. देखिए ऊपर की तिथि ।

७०६	५७१[1]	३३०[1]
१३२१[2]	११८६[2]	९४५[2]

अतएव इन समस्त लेखों तथा अलबेरूनी के कथन के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि गु० स० में २४१ जोडने पर श० का० बनता है। व्यतीत तथा प्रचलित में जोडने से क्रमश व्यतीत तथा प्रचलित श० का० में परिवर्तन होता है।

चैत्रादि वर्ष का प्रचार

फ्लीट का मत था कि गु० स० शक काल के २४१ वर्ष बाद नहीं परन्तु २४२ वर्ष पश्चात् प्रारम्भ हुआ[3]। परन्तु ऊपर कथित विस्तृत विवेचन के सम्मुख फ्लीट महोदय का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। फ्लीट ने डा० कीलहार्न के कथन का समर्थन करते हुए यह भूल की कि दक्षिण भारत की तरह उत्तरी भारत में भी मालव संवत् का प्रारम्भ कार्तिक से हुआ[4], चैत्र से नहीं। परन्तु यदि गुप्त लेखों का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि मालव संवत् चैत्र से प्रारम्भ होता है[5]। द्वितीय कुमार गुप्त के सारनाथ लेख से पता चलता है कि गु० स० १५४ व्यतीत यानी गु० स० १५५ के ज्येष्ठ द्वितीया को वह मूर्ति स्थापित की गई थी[6]। इसी प्रकार बुध गुप्त के सारनाथ तथा एरण के लेखों में भी यही बातें प्रमाणित होती हैं। इन लेखों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि राजा व्यतीत गु० स० १५७ तथा १६५ या प्रचलित १५८ वैशाख तथा प्रचलित १६६ आषाढ़ में शासन करता था। इतना ही नहीं, यशोधर्मन के मंदसार के लेख (मा० स० ५८९) में यह वर्णन मिलता है कि संवत् वसंत (चैत्र तथा वैशाख) से प्रारम्भ होता है[7]। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि गुप्तों के शासनकाल में मालव संवत् चैत्र से प्रारम्भ होता था, कार्तिक में नहीं। वेरावल लेख के आधार पर प० गौरीशंकर ओझा ने दिखलाया है कि विक्रम संवत् चैत्रादि है। वेरावल लेख के अनुसार वि० स० तथा गु० स० का अन्तर ३७५ (१३२०-९४५) आता है, परन्तु यह लेख काठियावाड़ में स्थित होने के कारण वि० स० कार्तिकादि है जो चैत्रादि १३२१ होता है इस कारण वि०

१. खेरा नागपुर का तिथि।
२. वेरावल लेख का तिथि।
३. गु० ले० भूमिका पृ० ८४।
४. इ० ए० भा० २० पृ० ३२, गु० ले० भूमिका पृ० ६८।
५. भण्डारकर कामेमरेशन वालुम पृ० १८७-८८।
६. आ० स० रि० १९१३-१४।
७. पञ्चसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्ननवति सहितेषु।
मालवगणस्थितिवशात् कालज्ञानाय लिखितेषु।
यस्मिन् काले कलमृदुगिरां कोकिलानां प्रलापा।
भिन्दन्तीव स्मरशरनिभा प्रोषितानां मनांसि।
भृङ्गालीनां ध्वनिरनुवनं भारमन्द्रश्च यस्मिन्,
नाधूतज्यं धनुरिव नदच्छ्रूयते पुष्पकेतोः॥
प्रियतमकुपितानां रामयन्बद्धरागं, किसलयमिव मुग्धं मानसं मानिनीनां।
उपनयति नभस्वान्मानभङ्गाय यस्मिन्, कुसुमसमय मासे तत्र निर्मापितोऽयम
—(का० इ० इ० भा० ३ नं० ३५)

स० तथा गु० स० का अन्तर ३७६ होगा[1]। गुप्त सम्वत् मे ३७६ जोड़ने से चैत्रादि वि० स०, २४१ मिलाने से श० का० तथा ३१९-२० मिलाने से ई० स० होता है।

अंतिम परिणाम गुप्त संवत् पर इस विस्तृत विवरण से निम्न परिणाम निकलते है।

(१) मालव तथा शक सवत् चैत्र से प्रारम्भ होता है।

(२) गुप्त तथा वलभी सवत् एक ही है। दोनो के भिन्न भिन्न नाम होने के कारण समय मे तनिक भी भिन्नता नही है।

(३) वलभी या गु० स० शक काल के २४१ वर्ष के पश्चात् आरम्भ होता है। शक काल के व्यतीत तथा प्रचलित होने का निर्णय गु० स० पर अवलम्बित है।

(४) गुप्त सवत् भी चैत्र से प्रारम्भ होता है। चैत्रादि होने के कारण गुप्त सवत् का ई० स० ३१८–१९ से गणनारम्भ हुआ। इसका प्रारम्भिक वर्ष ई० सन् ३१९-२० (७८ + २४१) से लिया जायगा।

गु० स० ० व्यतीत = शक २४१ व्यतीत

,, ,, १ प्रचलित = ,, २४२ प्रचलित

यदि समस्त सवतो के इतिहास पर ध्यान दिया जाय तो विदित होता है कि अमुक सवत् का प्रारम्भ किसी काल विशेष पर हुआ था या उस वश के किसी घटना के स्मारक मे सवत्सर चलाया गया। गुप्त-वश मे भी ऐसी ही घटना उपस्थित हुई जिस कारण से वश नाम के साथ (गुप्त) सवत् का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। गुप्त-वश के आदि

गुप्त-सवत् के सस्थापक दो नरेश-गुप्त एव घटोत्कच का नाम इतिहास मे प्रसिद्ध नही है। वे साधारण सामन्त के रूप मे शासन करते थे। गुप्तो के तीसरे राजा प्रथम चन्द्रगुप्त ने अपने बाहुबल से राज्य का विस्तार किया तथा इसी ने सर्व प्रथम 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की। बहुत सम्भव है कि सिहासनारूढ होने पर इसने यह पदवी धारण की रही तथा उसी के उपलक्ष मे (अपने वश के नाम के साथ) गुप्त सवत् की स्थापना की। इस की पुष्टि गुप्त लेखो मे उल्लिखित तिथियो से भी होती है। प्रथम चन्द्रगुप्त के पौत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के लेखों मे ८२, ९३ की तिथियाँ मिलती है। इस आधार पर विद्वानो का अनुमान सत्य ज्ञात होता है कि प्रथम चन्द्रगुप्त प्रतापी शासक था और उसी के राज्यारोहण पर सवत् चलाया गया। पितामह तथा पौत्र के बीच तीन पीढियों मे ९३ वर्ष का अन्तर युक्त-युक्त है। इस सवत् का प्रारम्भ ई० स० ३१९-२० मे होता है। एलन के मतानुसार गुप्त सवत् (अन्य सवतो की भाँति) राज्यवर्षों युक्त गणना की परिपाटी के कारण प्रचलित हो गया। प्रथम चन्द्रगुप्त के प्रचलित किये हुए राज्य-सवत् का प्रयोग उसके उत्तराधिकारी वशज करने लगे, जो आगे चलकर गुप्त सवत् के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसमे तनिक भी सदेह नही है कि गुप्त सवत् या गुप्त-काल नाम सवत्सर का प्रारम्भ ई० स० ३१९-२० से हुआ। इसी मे समस्त गुप्त लेखो तथा समकालीन प्रशस्तियो की तिथिया उल्लिखित हैं। यह सवत् लगभग ६०० वर्ष तक प्रचलित रहा और गुप्तवश के नष्ट हो जाने पर काठियावाड मे बलभी सवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

---

१. प्राचीन लिपिमाला पृ० १७५।

बलभी सम्वत्

गुप्त सम्वत् की चर्चा करते समय इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि अलबेरूनी के कथनानुसार वलभ नामक राजा ने बलभी सम्वत् चलाया जो शक काल के २४१ वें वर्ष प्रारम्भ हुआ। गुप्त सम्वत् के समान ही यह गणना थी। गुजराज के बलभी नरेशो के लेख मे जो सम्वत् मिलता है वह गुप्त सम्वत् ही है। सौराष्ट्र मे गुप्त सम्वत् का प्रयोग होता था और वहा गुप्त शासन के समाप्त हो जाने पर बलभी के राजा ने उसी गणना का नाम परिवर्तित कर 'बलभी सम्वत्' रख दिया।

हर्ष-सम्वत्

थानश्वर के पुष्पभूति वश के अन्तिम सम्राट् हर्ष ने भी एक गणना प्रारम्भ की थी जिसे 'हर्ष-सम्वत्' के नाम से पुकार सकते है। इस गणना के साथ हर्ष का नाम जुडा नही मिलता। उसके ताम्रपत्र लेखो की तिथिया मे दी गई है। बासखेरा ताम्रपत्र मे "सम्वत् २० + २ कातिक वदी १" उल्लिखित है (ए० इ० भा० ४ पृ० २०८) उसी का मधुवन ताम्रपत्र पचीसवे वर्ष मे लिखा गया था (सवत् २० + ४ मार्गशीर्ष) उत्तरी भारत तथा नेपाल मे भी इस गणना का (हर्ष-सम्वत्) प्रयोग होता रहा जो कालान्तर मे लुप्त हो गया और विक्रम सम्वत् प्रयुक्त होने लगा। पिछले गुप्त नरेश आदित्यसेन का शाहपुर वाला लेख मे ६६ वर्ष अंकित है। फ्लीट के मतानुसार यह हर्ष-सम्वत् से सम्बन्ध रखता है इसी के सहारे आदित्यसेन की तिथि ई० स० ६७२ (६०६ + ६६) मानी जाती है। इसकी प्रामाणिकता साहित्य के आधार पर भी सिद्ध की गई है। बाण ने माधव गुप्त को हर्ष का मित्र बतलाया है। अपसद लेख मे भी आदित्यसेन के पिता का नाम माधव गुप्त उल्लिखित है तथा वही हर्ष का मित्र कहा गया है [श्री हर्षदेव निजमङ्गमवाञ्छया च] उसी वंश के राजा विष्णु गुप्त का मगराव का लेख ११७ वर्ष मे अंकित हुआ था। डा० अलतेकर के कथनानुसार ११७ हर्ष-सम्वत् से सम्बन्ध रखता है [ए० इ० भा० २६ पृ० २४१] इसी ढग से नेपाल के राजा अशुवर्मन के एक लेख मे तिथि निम्न प्रकार उल्लिखित मिलती है--

"संवत् ३० + ४ प्रथम पौष शुक्ल द्वितीयायाम्" कोलहार्न का मत है कि तिथि ३४ का सम्बन्ध हर्ष सम्वत् से है जिससे प्रकट होता है कि नेपाल मे ७वी सदी मे हर्ष सवत् का प्रयोग होता रहा।

अलबेरूनी ने लिखा है कि काश्मीर के पत्रो मे इस बात का उल्लेख पाया जाता है कि विक्रमादित्य के ६६४ वर्ष बाद हर्षवर्धन ने राज्य किया। इसलिए ६६४—५७ = ६०६-७ ई० हर्ष सम्वत् की तिथि ज्ञात होती है। इसी के अनुसार हर्ष, आदित्यसेन, विष्णुगुप्त या अशुवर्मन का शासन-काल निश्चित किया गया है। हर्ष सम्वत् का प्रारम्भ काल (ई० स० ६०६) को प्रमाणित करने के निमित्त ह्वेनसाग के चीनी भाषा मे लिखित जीवन चरित का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। उसमे शिलादित्य (हर्ष) के लिए दो तिथियो का उल्लेख है। ई० सन् ६४८ मे वह छत्तीस वर्ष राज्य कर चुका था यानी ६४८-३६ = ६१२ ई० मे वह सिहासन पर आरूढ हुआ। इसमें आपत्ति यह है कि ह्वेनसाग के लौटने पर ही चीन वालो को हर्ष के विषय में ज्ञान हुआ होगा। ई० स० ६४२ में चीनी यात्री हर्ष के दरबार मे रहता था।

अत. ३६ वर्ष राज्यारोहण से गिना जायगा। अतएव हर्ष सम्वत् की तिथि ६४१ -३६ = ६०६ ई० ही होगी।

सातवी शदी के पश्चात् सम्पूर्ण भारत मे सर्वत्र प्रचलित किसी नई काल गणना का अभाव दिखलाई पडता है। हर्ष-सम्वत् तो उत्तरी भारत तथा नेपाल मे प्रचलित रहा। कलचुरी अथवा लक्ष्मणसेन सम्वत् नामक स्थानीय गणना थे। मध्ययुग मे इनका आरम्भ हुआ और शीघ्र समाप्त हो गया। उत्तरी भारत मे विक्रम सम्वत् का प्रचार अक्षुण रूप से दीख पडता है। मध्य भारत तथा राजपूताना के जितने राजवश उत्तरी भारत मे शासन किए, सभी ने विक्रम सम्वत् का प्रचार किया और वह लोकप्रिय हो गया। उज्जैन मे शक राज्य नष्ट हो जाने पर मालव-सवत् ही लोकप्रिय हुआ तथा वहाँ से उत्तरी भारत मे प्रचलित हुआ। बंगाल में लक्ष्मण सेन संवत् के पश्चात् मुसलमानो ने फसली सम्वत् का प्रसार किया। आज वह गणना बगला-संवत् के नाम से पुकारी जाती है। दक्षिण भारत मे शक सम्वत् का प्रचार रहा क्योकि मालवा तथा महाराष्ट्र पर शासन करने वाले क्षत्रप नरेश शक गणना का ही प्रयोग करते थे। उज्जैन के गणितज्ञो ने उस शक सम्वत् का प्रयोग किया। भारत के गणित शास्त्र मे शक गणना की प्रधानता तथा उत्तरी भारत मे विक्रम सम्वत् का प्रचलन होने के कारण ज्योतिष पण्डितो ने पत्रा मे दोनो सम्वत् का उल्लेख किया। वर्तमान सरकार को किसी कारण-वश यह प्रचलन उचित न मालूम हुआ और शक-सम्वत् को ही राष्ट्रीय सम्वत् घोषित कर दिया है।

●

अध्याय ११

भारत में लेखनकला की प्राचीनता

किसी वस्तु के उद्गम के सम्बन्ध मे अज्ञानता रहने पर भारतवासी उसे ईश्वर द्वारा रचित समझते है। यही कारण है कि भारतीय जनश्रुति मे लेखन कला का सम्बन्ध ब्रह्मा मे स्थिर कर प्राचीन भारतीय लिपि को ब्राह्मी का नाम दिया गया है। इस विचार को प्रस्तर पर भी बादामी मे (ई० स० ५८०) प्रदर्शित किया गया है जहा ब्रह्मा के हाथ मे ताडपत्र का समूह दृष्टिगोचर होता है (इ० ए० भा० ६ पृ० ३६६ : भा० ३३ पृ० १) लेखन कला का इतिहास अधिक प्रकाश मे नही आया है। इस कारण विद्वान् विभिन्न मत रखते है। पश्चिमी विद्वानो का मत था कि आर्य लोगो के आगमन (ईसा पूर्व दो हजार वर्ष) पश्चात् लेखन कला का विकास हुआ होगा। हरप्पा की सभ्यता के प्रकाश मे आने पर तथा मध्य-पूर्व से तुलनात्मक अध्ययन के कारण विद्वानो के विचार मे परिवर्तन आ गया। लेखन कला की प्राचीनता के सम्बन्ध मे दो विद्वानो के नाम—प० गौरीशकर हीराचन्द्र ओझा तथा ब्यूलर, उल्लेखनीय है।

मैक्समूलर लेखन कला की उत्पत्ति ईसा पूर्व चौथी सदी (हिस्ट्री आफ एन्सेंट सस्कृत लिटरेचर पृ० २६२) तथा ई० पू० ८०० से पूर्व कथमपि मानने को तैयार नही है। (इडियन पैलियोग्राफी—इ० ए० १९०० परि० पृ० १७) डिरिंजर ने प्राय ब्यूलर की तिथि का समर्थन किया है (दि एल्फाबट—१९५९ पृ० ३३४) पश्चिमी तथा भारतीय विद्वानो की विचार धारा मे एकता स्थापित न होने के कारण लेखन कला का इतिहास एक विवादास्पद विषय बना है।

इससे सम्बन्धित जितने विचारणीय प्रमाण है। उन्हे निम्न वर्गों मे विभाजित किया गया है। इस प्रसग में विभिन्न विद्वानो को सम्मति जानकर ही सतोष करना होगा।

(१) यूनानी लेखको के कथन।

(२) यात्रियो के विवरण।

(३) ब्राह्मण ग्रन्थो की विचारधारा।

(४) बौद्ध एवं जैन ग्रंथो मे उल्लेख।

(५) भारतीय अभिलेख की परम्परा।

यूनानी लेखको ने, जो सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारत आए, भारतीय लेखन कला का प्रसार विभिन्न रूप से व्यक्त किया था। सिकन्दर के सेनापति ने आखों देखा वर्णन दिया था कि भारतवासी रुई से कागज तैयार करना जानते थे (स्ट्रेबो १५, ७१७)। इसी प्रकार यूनानी दूत मेगस्थनीज ने (ई० पू० चौथी सदी) मार्गों पर स्थित प्रस्तरों पर अंक उत्कीर्ण करने की परिपाटी का वर्णन किया है। (इंडिया आफ मेगस्थनीज) इसका तात्पर्य यही है कि भारतवासी लिखने की कला से विज्ञ थे। मक्रिण्डिल ने करटियस के कथन का उद्धरण देकर लिखा है कि वृक्ष के छाल (भोजपत्र) का प्रयोग लिखने के कार्य में किया जाता था। (हिन्दी आफ एलेक्जेन्डर इनवेजर आफ इंडिया अ० ८)

विदेशी यात्रियो ने भी भारतीय लिपि के सम्बन्ध मे अपना मतव्य व्यक्त किया है। चीनी यात्री ह्वेनसाग ने प्राचीन युग मे भारतीय लिपि की उत्पत्ति बतलाई है (बील-सिमुको १,७७) चीनी ग्रथ फ-वन-सु-लीन में ब्राह्मी के विषय मे उल्लेख मिलता है कि ब्रह्मा ने लिखने की कला को जन्म दिया और ब्राह्मी बाए से दाहिने लिखी जाती थी (बेबिलोनियन तथा ओरियंटल रेकार्ड १,५९) दसवी सदी का मुसलमान लेखक अलबेरूनी ने यह वर्णन किया है सांचू-अलबेरूनी का भारत अध्याय १) कि हिन्दू लिखने की कला भूल गए थे जिसे पुन व्यास ने आरम्भ किया जो कलियुग (ई० पू० ३१०१) से प्रचलित हुआ (व्यास को वेद तथा महा· भारत से सम्बन्धित करते हैं। इस कारण अलबेरूनी ने कलियुग का उल्लेख किया है।)

ईसवी पूर्व छठी शताब्दी मे कई बौद्ध ग्रन्थों का सकलन हो गया था जिनमे लेखन-कला के सम्बन्ध मे सारगर्भित बातें लिखी हैं। मुत्तान्त (१, १) नामक ग्रन्थ मे भिक्षुओ को अक्षरिका नामक खेल खेलना निषेध किया गया था। इस तरह के खेल मे व्यक्ति के पीठ या आकाश में अक्षर के सकेत को समझ कर पहचानना पडता था। विनयपिटक मे (पाराजिक भा० ३, ४) लेखन-कला की प्रशंसा की गई है कि गृहस्थो के लिए यह जीविका पैदा करने का एक साधन था। (बुधिस्ट इंडिया पृ० १०८)। कई जातको (रूरू, कन्ह आदि) मे व्यक्तिगत तथा सरकारी पत्रो का लेखन, सरकार घोषणा, हस्तलिखित पुस्तक आदि का उल्लेख मिलता है। महावग्ग मे (भक्खुपाचितिय ६५,१) लेख, गणना तथा रूप को प्रारम्भिक शिक्षा का विषय माना है। जातक मे भी फलक (तख्ती) और वर्णक (कलम) के नाम मिलते है। ललितविस्तर (अध्याय १०) मे भी बुद्ध को लिपिशाला (पाठशाला) मे विश्वामित्र द्वारा पत्र लेखन सिखलाने की बात उल्लिखित है। यूनानी लेखको ने कागज तैयार करने की बात लिखी है (ई० पू० ४००)। प्राचीन समय मे तालपत्र तथा भोजपत्र भी लिखने के काम में आते थे। अतएव बौद्धग्रंथो के आधार पर यह प्रकट होता है कि ई० पू० ६०० के समीप लेखन-कला की जानकारी भारतवासियो को अवश्य थी।

ललितविस्तर को तरह जैन ग्रथ समवायासूत्र (ई० पू० तीसरी सदी) तथा पणवनासूत्र मे भी लेखन-कला की प्राचीनता का उल्लेख पाया जाता है। पिछली सदियो मे काव्य, नाटक तथा स्मृति ग्रथो मे स्थान-स्थान पर ऐसा वर्णन आया है जिसमे पता चलता है कि भारतवर्ष मे प्राचीन काल मे ही लेखनकला का ज्ञान था। नारद तथा वृहस्पति ने लिखा है कि ब्रह्मा द्वारा लिखने की कला उत्पन्न की गई जिससे लोगो को ज्ञान हो सका। मौर्य युग के राजनीति ग्रथ अर्थशास्त्र मे लिखने का सदर्भ कई स्थानो पर पाया जाता है—

(अ) वृत चौलकर्मा लिपि सस्यान चौपयुजीत (१, ५, २)

(ब) पत्र सम्प्रेषणेन मंत्रयेत (१, १६, ६)

(स) सर्वसमय विदशुग्रथ चार्वक्षरो लेखवाचन समर्थो लेखक स्याद् (२, ९, २८)

चूडाकर्म के पश्चात् गणना तथा लेखन विद्या सीखना चाहिए। पत्र द्वारा मत्रणा करना चाहिए। राजकार्य मे लेखक को शीघ्र पढना तथा लिखना आवश्यक समझा जाता है। इससे भी पूर्व (ई० पू० आठ सौ) वशिष्ठ धर्मसूत्र (१६, १०, १४) मे उल्लेख मिलता है कि लिखित पत्र को प्रमाण में प्रस्तुत किया जा सकता है। भारतीय वेदाग मे कल्प (धर्म-

सूत्र) के साथ व्याकरण का नामोल्लेख है। साहित्य के आधार पर व्याकरण तैयार किया जाता है। अतएव यह कदापि सम्भव नही है कि बिना लेखन-कला की जानकारी के व्याकरण तथा दर्शन आदि का प्रसार हो सके। पाणिनि के अष्टाध्यायी मे लिपि, लिपिकर, यवनानी, ग्रन्थ, (अध्याय प्रथम तथा तृतीय) शब्दो का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि समाज मे लेखन कला का समुचित ज्ञान था। छठे अध्याय मे जानवर के कान मे स्वस्तिक के साथ ५ या ८ अंक के चिह्न लगाने का वर्णन है। व्याकरण के प्रसङ्ग मे पाणिनि ने अनेक वैयाकरणो का नाम उल्लिखित किया है। तात्पर्य यह है कि पाणिनि से पूर्व (ई० पू० आठवी सदी मे) लिपि तथा लेखन का ज्ञान लोगो का था। यास्क ने भी निरुक्त मे अपने पूर्ववर्ती विद्वानो का नामोल्लेख किया है। शब्दो के चयन के साथ लेखन-कला की भी तिथि यास्क से पूर्व ही मानी जा सकती है। छादोग्य उपनिषद (२, १०) मे अक्षर के लिखने का सदर्भ मिलता है तथा वर्ण और मात्रा का उल्लेख तैतरीय उपनिषद (१, १) मे आता है (वर्ण स्वर. मात्रा बलम्)। उपनिषद ग्रथो मे दार्शनिक विचारो का विवेचन अधिकतर गद्य मे किया गया है और उन विवेचना को यथा शक्ति लोग स्मरण रखते थे। उस परिस्थिति में भी लिखित ग्रथ की स्थिति असम्भव नही मानी जा सकती। वेदो का अध्ययन भी कण्ठगता समझा जाता था पर ऋग्वेद मे (१०, १४, १६) गायत्री, विराज, जगती छंदो के नाम आते हैं। सहिता तथा अथर्व मे (८, ९, १९) भी ग्यारह छदो का उल्लेख पाया जाता है अतएव लेखन-कला की प्रमाणिकता स्वत. सिद्ध हो जाती है। ऋग्वेद में अक से अकित गायो का वर्णन मिलता है (सहस्रमेददतो अष्टकर्ण्य· १०, ६२, ७) जो भिक्षा या दान मे दी गई थी। तात्पर्य यह है कि ऊपर लिखी बातो से वैदिक युग मे भी लिखने के प्रमाण को असिद्ध नही किया जा सकता। खेद है कि ईसा पूर्व पाचवी सदी से पहले लिखने का कोई भी दृष्टात सामने नही आता। सम्भवत: भोज-पत्र या कागज पर लिखे ग्रथ सदियो तक मूल रूप मे न रह सके और जलवायु के कारण विनष्ट हो गए। प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ को नष्ट होते देखकर लोगो ने पुन कागज पर लिखना प्रारम्भ किया ताकि शास्त्र का ज्ञान स्थायी रहे। इस क्रम मे समय-समय पर लिपि का परिवर्तन होता गया और नए रूप मे ग्रंथ सामने आते रहे। प्राचीनकाल मे विद्या कण्ठगता थी और गुरु के मुख से सुनकर शास्त्र का पठन-पाठन किया जाता था। वेदो का ठीक उच्चारण आवश्यक था क्योकि धार्मिक जगत मे अशुद्ध उच्चारण यजमान का घातक समझा गया है।

सवाग्वज्रा यजमान हिनस्ति यथेन्द्र शत्रु स्वरतोऽपरा, धात् (महाभाष्य १)

इस कारण गुरु मुख से सुनकर यज्ञ करना अथवा पाठ स्मरण करना उचित समझा गया। पुस्तक पढने से यह कार्य सिद्ध नही हो सकता था।

पुस्तकस्था च या विद्या पर हस्तगतंधनम्।
कार्य काले तु सम्प्राप्ते न सा विद्या न तद्धनम्।
(चाणक्य नीति)

पश्चिमी विद्वानों के मत को डा० गौरीशंकर ओझा ने (लिपि माला पृ० १५ मे प्रथम संस्करण) उद्धृत किया है। उनके मतानुसार वेदों का प्रातिशाख्य विना लिखे प्रस्तुत नही किया जा सकता था यानी अत्यन्त प्राचीन काल से ही लिखित प्रातिशाख्य वर्तमान था। दूसरे शब्दो

में कहा जा सकता है कि लेखन कला का ज्ञान पुराने समय में भारत वासियों को अवश्य था।

संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखते समय प्राचीन भारतीय साहित्य की तिथि का निर्णय पश्चिम विद्वान (मैक्समूलर आदि) नहीं कर सके। परन्तु यह तो निश्चित है कि ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व उनकी रचना हो चुकी थी। अप्रत्यक्ष रूप से यह कहना यथार्थ होगा कि ईसवी पूर्व एक हजार वर्ष में लेखन कला का प्रारम्भ हो गया था।

ईसवी पूर्व तीसरी सदी के अशोक के लेख प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उस समय ब्राह्मी तथा खरोष्ठी का प्रचार था। पेशावर से उड़ीसा तथा हिमालय (कालसी) से येरगुडी (करनूल, तामिलनाड) तक उसके लेख मिलते हैं। उन लेखों में कुछ पाठ भेद अवश्य हैं किन्तु मूल में भिन्नता नहीं है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि भारत में लिपि का ज्ञान पूर्व से ही था जिसका विकास अशोक के लेखों में हुआ है। एक दिन में ऐसी ब्राह्मी सम्मुख नहीं आ सकती। लिपि के विकास में कई सदियाँ बीत जाती हैं। ब्राह्मी का विभिन्न स्वरूप यह घोषित करता है कि अशोक से पूर्व लिपि का परिज्ञान था जो परिवर्द्धित तथा परिवर्तित होकर अशोक—ब्राह्मी के रूप में आ गई।

दक्षिण से उत्तर तक के सभी लेखों के अक्षर एक से नहीं हैं। गिरनार, सिद्धपुर, धौली तथा जौगढ़ के अक्षर असमान हैं। ख, ज, म तथा स विभिन्न रूप से लिखे गए हैं। स्थानीय शैली से यह अर्थ निकलता है कि अशोक से पूर्व वहाँ लिपि का प्रचार था। अशोक के लेखों का अनुशीलन इसे प्रमाणित करता है।

अशोक ने प्रस्तर पर लेख चिरस्थायी होने के हेतु खुदवाया था [इय धमलिपि लेखिता चिलठितीका होत—अ० शि० ले० २]। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अन्य आधार पर भी लेख खोदे जाते होंगे। अशोक पूर्व युग के पिपरावा (उत्तर प्रदेश) सोहगौरा ताम्रपत्र, (गोरखपुर), महास्थान लेखों के (बंगाल[1]) प्रमाण पर यह कहना युक्ति संगत होगा कि ईसवी पूर्व पांच सौ के लगभग लेखन कला का प्रचार अवश्य था। साहित्यिक आधार पर ई० पू० कई हजार वर्ष से भी इसकी तिथि मानी जा सकती है। ब्राह्मी अत्यन्त प्राचीन काल से समस्त भारत में प्रचलित होती रही और इसे ही हम राष्ट्र लिपि कह सकते हैं। उत्तर पश्चिम भारत में जहाँ खरोष्ठी का प्रचार था वहाँ भी तक्षशिला के सिक्कों पर ब्राह्मी लिपि अंकित है। वेस्पसन को ऐसी ऐसी मुद्राएँ मिले हैं जिन पर खरोष्ठी तथा ब्राह्मी लिपियों में मुद्रा-लेख खुदे हैं। गान्धार के भू भाग में खरोष्ठी के समक्ष का प्रयोग उसकी प्रधानता का ब्राह्मी द्योतक है।

भारतीय लेखों का सम्बन्ध लेखन कला तथा लिपि से इतना गम्भीर है कि इनका अध्ययन नितान्त आवश्यक हो जाता है। संसार में संस्कृति के प्रारम्भ से लिखने-पढ़ने का कार्य होने लगा। लेखन कला जानने के कारण ही मनुष्य के ज्ञान लिपि, लेखन कला तथा की स्थिरता मानी गई है। अतएव लेखन कला का इतिहास महत्व

उसका इतिहास

रखता है तथा मनुष्य के मस्तिष्क की उन्नति का लेखा उपस्थित करता है। लिखने की क्रिया का समाज में बड़ा आदर रहा और लेखन कला के जन्मदाता को ईश्वरीय शक्ति से सम्पन्न मानते हैं। मिश्र, यूनान, चीन तथा भारत आदि देशों में देवता को ही इसका उत्पादक माना गया है। भारत में लिपि की उत्पत्ति

ब्रह्मा से मानते है, अतएव प्राचीन भारतीय लिपि को ब्राह्मी का नाम दिया गया।

संसार की सभ्यता एवं संस्कृति में मनुष्य के मानसिक विकास के साथ लिपि का जन्म स्वतंत्र रूप से ही हुआ। मनुष्य ने आध्यात्मिक प्रगति मे इसे जन्म दिया ताकि विचारों का आदान-प्रदान कर सकें। अधिक समय तक लिखने की कला अज्ञात थी और मनुष्य संकेत से ही अपना कार्य करता रहा। शताब्दियों बाद मुख से निकली ध्वनि को लिपि बद्ध करने की क्रिया ज्ञात हुई।

लेखन-कला कला का इतिहास यह बतलाता है कि सर्व प्रथम आकृतियों द्वारा या चित्र द्वारा मनुष्य अपने विचार को व्यक्त करता अथवा लिखता था। सूर्य कहने का भाव बतलाने के लिए चक्र की आकृति, जानवर के लिए जानवर तथा मनुष्य के लिए मनुष्य के चित्र खीच दिए जाते थे। इस प्रकार की अभिव्यक्ति को "चित्र-लिपि" कह सकते हैं। शब्द या उच्चारित ध्वनि का लिखना अज्ञात था। इस चित्र से किसी घटना का व्यक्त नही करते परन्तु उसे वर्णित करते थे। मिश्र, मेसोपटामिया, क्रीट, स्पेन, अमेरिका आदि देशों में ऐसे शब्द चित्र पाये गये है। इन चित्रों मे किसी धारा प्रवाहिक घटना का स्पष्टीकरण सम्भव न था। उच्चारण किए शब्दों का लिखना यानी लिपि बद्ध करना उन्नत अवस्था का द्योतक है। इसमें किसी प्रकार के चिह्न (प्रतीक) का प्रयोग नही किया जाता परन्तु अक्षर मुख से उच्चारित ध्वनि को व्यक्त करते है।

मेसोपटामिया की संस्कृति मे एक अक्षर (का चिह्न) किसी शब्द समूह को व्यक्त करता रहा। लेकिन भारत मे एक अक्षर एक ही ध्वनि का द्योतक है। यही कारण है कि भारतीय लिपि वैज्ञानिक मानी जाती है। जो कुछ उच्चारण किया जाता है। जो लिखा गया है उसे पढकर उसी विषय को ही समझ सकते है। किसी भाषा के वाक्य को भारतीय लिपि से लिख सकते है तथा उसका उच्चारण भी एक सा होता है। पढने मे यह पता नही चल सकता कि भारतीय भाषा या लिपि से इसका कुछ भी सम्बन्ध है। जैसे "आइगा" इस अंग्रेजी वाक्य को नागरी मे लिखने पर भी पढने मे अन्तर नही आ सकता। अतएव भारतीय लिपि सर्वथा वैज्ञानिक सिद्ध हो जाती है।

ईसा पूर्व चार हजार वर्ष में मिश्र देश मे 'चित्र-लिपि' का व्यवहार होता था। हथियार के साथ सिपाही का चित्र यह बतलाता था कि सेना का एक सिपाही हथियार लेकर युद्ध स्थल को जा रहा है। क्रमश एक शब्द की ध्वनि के लिए विशिष्ट चिह्न का प्रयोग होने लगा। उस चिह्न के कथन से एक शब्द का भाव प्रकट होता था। इस रूप से अक्षर का प्रयोग मिश्र मे आरम्भ हुआ। यह अक्षर दाये से बाये लिखे जाते थे।

लिपि तथा लेखन कला का इतिहास यह बतलाता है कि ई० पू० ४००० वर्ष मे सुमेरियन लोगो की एक विचित्र लिपि थी जो नुकीली धातु से निशान बनाकर लिखा जाता रही उसे तीन हजार वर्षों के पश्चात् दजलाफरात की घाटी के बेबिलान तथा एसिरिया की जातियो ने अपनाया। इस रीति को प्राचीन सुसा के इलामाइट, हिटाइट, मिटानी तथा ऊर के लोगो ने कार्यों मे अपनाया तथा जीवन मे अनुकरण किया। ईरानी लेख भी इसी नुकीली (कीलाक्षर) लिपि (क्यूनिफार्म) में अंकित किए गए तथा इस तरह की लिपि-शैली

ईसवी सन् तक एशिया के पश्चिमी भाग मे प्रचलित रही। उसे कुछ पुरोहित, ज्योतिषी तथा कानून वेत्ता प्रयोग करते थे। ईसा पूर्व छठी सदी का एक ईरानी लेख कीलाक्षर मे पाया गया है जिसे उन्नीसवी सदी मे पढा जा सका।

ईसा पूर्व ३००० वर्ष मे हरप्पा तथा मोहेनजोदडो नामक भारतीय प्रागऐतिहासिक स्थानो मे एक विचित्र लिपि का प्रयोग हुआ जिसके सम्बन्ध में कुछ निश्चित कहना कठिन है। यानी हरप्पा सभ्यता की लिपि (?) अभी तक पढी नही जा सकी। जो तावीज उन स्थानो की खुदाई से निकले है उन पर ही लेख खुदा है। प्राय. आठ सौ मुद्रायें (तावीज) लेख युक्त है। वह भी एक तरह की "चित्र-लिपि" कही जा सकती है। कुछ विद्वान हरप्पा सभ्यता की लिपि को ब्राह्मी से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे तथा कुछ उसे तांत्रिक मानते है परन्तु उनके कथन सारगर्भित नही है।

भारत से पूर्व एशिया मे चीन देश मे लिपि का आरम्भ मानते है। ईसा पूर्व २००० से पहले लेखन कला का आरम्भ हुआ और ईसा पूर्व ११०० से ही धातु तथा प्रस्तर पर लेख खोदे जाने लगे। पहले लकडी तथा बास की तख्तियो पर पुस्तके लिखी गई जो जलवायु के कारण नष्ट हो गई। प्राय ई० स० १५० के समाप चीन मे कागज का प्रयोग हुआ जो वही तैयार किया जाता था।

पश्चिमी एशिया मे लेखन कला का आरम्भ मिश्र के अनुकरण पर हुआ था जहा अधिकतर 'चित्र-लिपि' का प्रयोग होता रहा। मिश्र से क्रीट तथा फिलिस्तीन मे लिखने की क्रिया प्रचलित की गई। भूमध्य सागर के किनारे रहने वाले फिनिशियन जाति ने उसका अनुकरण कर लिपि को अत्यधिक प्रसारित किया। उनके अक्षर भी भाव को व्यक्त करने वाले "चित्र-लिपि" की तरह थे। कुछ विद्वानो का यह मत है कि फिनिशिया तथा सीरिया मे अक्षर का जन्म हुआ। अक्षरो के प्रतीक (Symbols) का पता लगाना कम महत्वपूर्ण न था, और इस ओर मिश्र, क्रीट, एशिया माइनर, ईराक तथा भारत के निवासी कार्य करते रहे। परन्तु कोई पूर्णता को पहुँच न सका। फिनिशिया के निवासियो ने जिस लिपि का प्रचार किया उसे सेमिटिक (अनार्य) का नाम दिया गया है जिसमे २२ व्यंजन अक्षर थे तथा उसमे स्वर का सर्वथा अभाव था (यूनानी भाषा मे भी २२ अक्षर माने गए है) इसे दाहिने से बायें लिखा करते थे जो शैली आज भी प्रचलित है। व्यजन मे स्वर का न होना एक अजीब बात थी जिसका कोई समुचित उत्तर नही दिया जा सकता। एक अक्षर एक शब्द की ध्वनि करता था अथवा स्थानीय प्रसग मे स्वर जोड दिया जाता था। इसका अर्थ यह है कि सेमिटिक अक्षर अपूर्ण थे। स्वर के सम्बन्ध में कुछ निश्चित मत प्रकट करना कठिन है। व्यंजनो को प्रधानता सदियो तक बनी रही। इसका यह अर्थ नही कि स्वर का प्रयोग समझ बूझ कर छोड दिया गया था पर इसको अनुपस्थिति मे कोई कठिनाई सामने नही आई। सेमिटिक (अनार्य) भाषा मे २२ अक्षर व्यजन से आरम्भ किये गए थे किन्तु आर्य भाषा मे इसका विपरीत ढग दिखलाई पडता है। भारतीय लिपि मे स्वर के सहारे व्यंजन का प्रयोग एवं उच्चारण किया जाता है। पाणिनि सूत्रो मे स्वर पहले उल्लिखित हैं तत्पश्चात् व्यंजन अच्। से स्वर तथा हल् से व्यंजन का बोध होता है। सेमिटिक अक्षरो के नाम दैनिक जोवन के वस्तुओ से लिया गया था पर आर्य भाषा मे ऐसी बात नही है।

दक्षिणी अरब मे अक्षर का जन्म अज्ञात है ' सेमिटिक शाखा से सम्बन्धित पश्चिम या पूरब मे अक्षरों का प्रयोग बढता गया । अरब में २२ से २८ अक्षर हो गए जिसमे अन्तिम व्यजन पीछे जोडे गए थे । अलीफ, बे, ते, जीम आदि । यही अरबी अक्षर व्यापारियो द्वारा पूरब मे प्रचारित किया गया । अरब से ईरान मे इन अक्षरो का प्रसार हुआ और कालान्तर में भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशो में इनका प्रयोग हुआ जो खरोष्ठी के नाम से विख्यात है । कहने का तात्पर्य यह है कि आरमईक (दक्षिणी अरब) से इस खरोष्ठी का जन्म हुआ । ईरानी ई० पूर्व ६०० से व्यवहृत करते थे और उत्तर पश्चिमी भारत मे ईरानी राज्य के विस्तृत होने पर सीमा प्रान्तो मे खरोष्ठी का प्रयोग होने लगा । मौर्य सम्राट् अशोक ने भी इसे मनसेरा तथा शाहबाज गढी के शिला लेखों मे प्रयोग किया क्योकि मौर्य साम्राज्य काबुल तक विस्तृत था ।

भारतीय लिपि का जन्म तथा इतिहास

भारतीय साहित्य के आधार पर यह पता चलता है कि इस देश मे कम से कम ईसा पूर्व ७०० वर्ष मे लिपि का ज्ञान था । पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी (३, २, २१) मे लिपि के प्रसग मे यवनानि शब्द का प्रयोग किया है यानी उन्हे यूनानी लिपि के प्रचलन की सूचना थी । खेद है कि पाणिनि ने भारतीय लिपि के विषय में कुछ कहा नही । अर्थशास्त्र (२, १, २) में भी लिपि शब्द का प्रयाग मिलता है तथा अशोक ने अपने लेखो मे लिपि, लिवि तथा दिपि शब्दो का प्रयोग उसी अर्थ मे किया है (चौदहा लेख) । कहने का तात्पर्य यह है कि ईसा पूर्व कई सदियो मे ही भारत वासी लिखने की कला से विज्ञ थे तभी तो लिपि शब्द प्रयुक्त है । यह शब्द ताडपत्र पर कील से खुदे अक्षरो पर स्याही लेपन क्रिया से ही सम्बन्धित समझा जाता है [स्याही लेपन से ताड पत्र के सुराख में काला रग प्रवेश कर जाता था और अक्षर स्पष्ट हो जाते थे] जैन सूत्र तथा बौद्ध साहित्य के आधार पर प्राचीन समय मे क्रमश अठारह तथा चौसठ लिपियो के नाम मिलते है । जैन ग्रथ समवायाग सूत्र मे (अध्याय १८) पहला नाम बम्भी (ब्राह्मी) का मिला है (नमो बभीये लिविये-ब्राह्मी को नमस्कार) तथा दूसरा स्थान जवनालीय (यूनानी लिपि) को दिया गया है । बौद्ध ग्रंथ ललितविस्तर (अध्याय १०, १२५—जिसमे भगवान् बुद्ध के जीवन चरित का वर्णन है) में पहला स्थान ब्राह्मी तथा दूसरा खरोष्ठी को दिया गया है । उस सूची की परीक्षा से ज्ञात होता है कि सबसे प्रचलित लिपि ब्राह्मी थी जो सारे भारत मे व्यवहृत होती थी (महावस्तु १, १३५, ५) । खरोष्ठी तथा यवनानि का प्रयोग उत्तर पश्चिम भारत (वर्तमान पश्चिमी पाकिस्तान) मे होता था ।

ब्राह्मी तथा खरोष्ठी का प्रयोग भारतीय राजाओ ने भी किया । मौर्य सम्राट् अशोक के दो लेखो (मनसेरा तथा शाहबाजगढो) को छोड कर सारे लेख ब्राह्मी मे मिलते है । दो लेख—मनसेरा तथा शाहबाज गढी (उत्तर पश्चिम भारत = पाकिस्तान) खरोष्ठी मे लिखे मिले है । उसका कारण भी स्पष्ट है। ईरानी राजाओ द्वारा उत्तर-पश्चिम भारत विजय के उपरान्त खरोष्ठी का वहा प्रचार किया गया । इसलिए उस भाग में खरोष्ठी की ही सदा प्रधानता थी और उस भूभाग मे जो शासक शासन करते थे उन लोगो ने अपने शासन लेख या मुद्रा-लेख मे खरोष्ठी का ही प्रयोग किया । मौर्य-काल के पश्चात् यूनानी शासको ने भी खरोष्ठी का प्रयोग किया था । उक्रतिद ने (१७५ ई० पू०) अपने सिक्को पर खरोष्ठी में "महरजस एउक्रतितस"

खुदवाया था। उसी तरह मिलन्द के लेख तथा मुद्रा-लेख भी खरोष्ठी में लिखे गये। अंतिम यूनानी नरेश हरमेयस (३० ई०) ने सिक्के पर खरोष्ठी में मुद्रा-लेख अंकित कराया था। (महरजस त्रतरस हेरमयस) कुषाण सम्राटो ने पेशावर को अपनी राजधानी बनाया और वहीं शासन करने लगे। इस कारण जितने लेख कदफिस अथवा कनिष्क समूह के नरेशों ने उत्कीर्ण कराया वह सभी खरोष्ठी मे है। कलवान ताम्रपत्र, स्यूविहार ताम्रपत्र तथा कुरम ताम्रपत्र का नाम उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। ईसवी सन् के आरम्भ मे कनिष्क के सामत रंजुवल ने मथुरा मे भी खरोष्ठी मे लेख खुदवाया था (मथुरा सिंहस्तम्भ लेख) परन्तु यह एक ही लेख है जो उत्तरी पश्चिमी सीमा के बाहर खरोष्ठी में खुदा है। सोडास ने मथुरा मे ब्राह्मी का प्रयोग किया तथा कनिष्क ने भी सहेत महेत (श्रावस्ती, गोंडा, उत्तर प्रदेश) मे ब्राह्मी में लेख खुदवाए। कहने का तात्पर्य यह है कि खरोष्ठी का प्रयोग सीमित था जिसके बाहर भारत के अन्य प्रदेशो मे ब्राह्मी का ही प्रयोग होता रहा। खरोष्ठी का प्रसार उत्तर मे मध्यएशिया (तरीम घाटी) मे हुआ था और वहा के पट्टियो पर शासन-लेख खरोष्ठी में मिले है। खोतान मे खरोष्ठी खोतानी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी।

ललित विस्तार तथा चीनी ग्रथ फवनसुलीन मे खरोष्ठी नाम की लिपि का उल्लेख पाया जाता है जो नाम सातवी सदी तक प्रचलित रहा। इसके नामकरण के विषय में विद्वानो मे मतभेद है। यह कहा जाता है कि इस लिपि का जन्मदाता वह

खरोष्ठी

व्यक्ति था जिसके होठ गदहे के सदृश (खर + ओष्ठ) था। इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि अनार्य लोगो (यूनानी, शक, पह्लव तथा कुषाण) द्वारा उत्तर पश्चिम भारत मे इसका प्रयोग हुआ था। कुछ विद्वानो-सिलवन लेवी तथा स्टेन कोनो आदि का मत था कि खरोष्ठ मध्य एशिया के नगर काशगर का संस्कृत रूप है। मध्य एशिया के अनेक नगरो मे खरोष्ठी मे शासन लेख तथा हस्तलिखित ग्रथ मिले है किन्तु खरोष्ठी मे सभी ग्रथ ई० स० के दूसरी सदी तक के है। उत्तर पश्चिम भारत मे (तक्षशिला का भू भाग) ई० पू० तीसरी शताब्दी मे इस लिपि का प्रयोग हो रहा था।

ईरानी भाषा मे खरपोस्ट शब्द का अर्थ गदहे का चर्म है। स्यात् चमडे पर लेख लिखे जाते हो, इस कारण भारतीय विद्वानो ने इसका नाम खरोष्ठी रखा।

दक्षिण अरब मे आरमेयिक भाषा मे खरोथ शब्द मिलता है जो लिपि के लिए प्रयुक्त है। अत खरोष्ठी उसी का संस्कृत रूप माना जा सकता है।

इस लिपि का खरोष्ठी नाम चीनी ग्रथ (ई० स० ६६८) मे उल्लिखित है जिसके जन्म दाता खरोष्ठ माने गए हैं। यह भारतीय शब्द था जो चीनी साहित्य मे प्रयुक्त हुआ। स्यात् इस लिपि को टेढा लिखने के कारण ही (गदहे के ओठ के समान घूमने वाला) खरोष्ठी का नाम दिया गया हो।

खरोष्ठी आरमेयिक लिपि से ही निकली जो पाचवी सदी ई० पू० मे प्रचलित थी। यह दाहिने से बाए लिखी जाती है। यह अनार्य सेमिटिक लिपि से सर्वथा मिलती है। सम्भवत सुसस्कृत रूप मे खरोष्ठी का प्रयोग भारत वर्ष मे होने लगा। मध्ययुग की अरबी लिपि भी इसके समान है। जिसमे दीर्घ स्वर का सर्वथा अभाव है। इस आधार पर जनता में एक कल्पना सम्मुख आई कि प्राकृत भाषा लिखने के लिए खरोष्ठी का आविष्कार किया गया,

क्योकि उस भाषा मे दीर्घ स्वर तथा लम्बे समास का अभाव सभी को ज्ञात था। खरोष्ठी साधारणतया लोकप्रिय लिपि थी। इसके प्रचार तथा प्रसार के सम्बन्ध मे विशिष्ट ढग से कहना कठिन है। यो तो ईरानी राजाओ ने उत्तर पश्चिम भारत पर शासन किया पर उन्होने स्वयं खरोष्ठी का प्रयोग लेखो मे नही किया। इसलिए आरमेयिक मे इसकी उत्पत्ति क्योकर मानी जा सकती है। खरोष्ठी का प्रयोग अशोक ने मनसेरा तथा शाहबाजगढी के लेखो मे किया था। वही से भारत के व्यापारियो ने उत्तर उपनिवेश-मध्य एशिया तक इस लिपि का प्रसार किया। इस लिपि मे मध्य एशिया के लिखित ग्रथ इसवी सन् के बाद के है। अतएव यह कहा जा सकता है कि सम्भवत खरोष्ठी का जन्म उत्तर पश्चिम भारत मे हुआ। उस भाग पर ईरानी साम्राज्य विस्तृत होने पर ईरानी मुद्रा पर खरोष्ठी मे शब्द अकित किए गए। उत्तर पश्चिम भारतीय सीमा पर जिन शासको ने राज्य किया सभी ने खरोष्ठी का प्रयोग किया तथा भारत वासियो को उस लिपि के प्रयोग के लिए बाध्य किया गया। चूकि उसमे स्वर का अभाव है अत प्राकृत भाषा लिखने मे प्रयुक्त हुई। वहा दीर्घ स्वर का प्रयोग कम रहता है। ब्राह्मी में ई ऊ ए तथा ओ स्वरो के लिए सीधी रेखा का प्रयोग होता था जिसका अनुकरण खरोष्ठी मे हुआ जो जेर, जबर, पेश के नाम से प्रसिद्ध है।

साहित्य मे उल्लिखित लिपियो की सूची मे ब्राह्मी को पहला स्थान दिया गया है और वह पश्चिमोत्तर प्रात को छोड कर सर्वत्र व्यवहृत होती थी। भारत वर्ष के मौर्य सम्राट् अशोक के लेखो मे ब्राह्मी का प्रयोग मिलता है। जैसा नाम से ही पता चलता है कि प्राचीन काल मे ब्राह्मणो ने वेदो के रक्षार्थ इस लिपि को जन्म दिया। इसमे दो मत नही है कि ब्राह्मी का अविर्भाव भारत वर्ष मे हुआ और ब्राह्मण द्वारा ग्रथो मे इसका प्रयोग हुआ। इस मार्ग मे कठिनाई यह है कि ई० पू० चौथी सदी से पहले का कोई लेख ब्राह्मी मे नही मिला है। अतएव पश्चिमी विद्वानो का मत है कि व्यापारियो ने पश्चिमी एशिया से ब्राह्मी का अनुकरण किया, जो भारत की राष्ट्रीय लिपि नही मानी जा सकती।

ब्राह्मी

जो विद्वान् ब्राह्मी को विदेशी लिपि से उत्पन्न मानते है उनमे अधिकतर इस लिपि को अरबी (सेमिटिक) से विकसित समझते है। जेम्स प्रिसेप (अलफाबेट पृ० १३५) विल्सन, सेनार्ट आदि (इ० ए० भा० ३५ पृ० २५३) ब्राह्मी को यूनानी लिपि से उत्पन्न मानते हैं और यूनानी सम्पर्क से इसमे सुधार का विचार व्यक्त करते है। इनके मतानुसार यूनानी लिपि (जिसका वर्णन पाणिनी ने किया है) मे ब्राह्मी निकली है। यूनानी लिपि फोनिशियन अक्षरो से अधिक प्रभावित है। वैदिक पणिस (फोनिशियन) ने ही भारत से लेखन कला को पश्चिमी एशिया तक पहुँचाया और उसी से यूनानी लिपि का प्रचलन हुआ।

ब्यूलर तथा बेबर इससे विपरीत विचार रखते हैं। (अलफाबेट पृ० २३५, इंडियन पैलियोग्राफी पृ० १०) उनके विचार से फोनिशियन (पश्चिमी एशिया की एक लिपि) से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति हुई। यानी अनार्य लिपि से ब्राह्मी निकली है। उनके कथनानुसार फोनिशिया की लिपि का एक तिहाई अक्षर ब्राह्मी से मिलता (यानी सदृश) है। यद्यपि दोनो देशो में आवागमन के साधन कठिन थे तथापि यह क्यो निश्चित कर लिया जाय कि फोनिशिया से ही व्यापारी भारत आए और अपनी लिपि का प्रसार किया ? इसके विपरीत

यह भी माना जा सकता है कि भारतीय व्यापारी जब वहा गए तो पश्चिमी एशिया मे लिपि की उत्पत्ति हुई।

टेलर दक्षिणी सेमिटिक तथा ब्यूलर ने उत्तरी सेमिटिक से ब्राह्मी की उत्पत्ति का सिद्धान्त स्थिर किया है (डिरिंजर-अलफाबेट पृ० ३३५) अत्यन्त प्राचीन समय मे भूमध्य सागर से हिन्द महासागर मे आवागम की सुविधा रही। परन्तु अरबी से ब्राह्मी पर प्रभाव की बात हास्यास्पद है। ब्यूलर अपने विचार पर अधिक बल देते हैं कि मेसोपटामिया तक प्रचलित उत्तरी सेमिटिक अक्षरो में सुधार लाकर ब्राह्मी का विकास किया गया। उनके सिद्धान्त के अनुसार (अ) ब्राह्मी के अक्षर सीधे तथा एक ऊँचाई के होते है (ब) सभी अक्षर लम्बवत् लिखे जाते है और ऊपर तथा नीचे ही कुछ चिह्न जोडा जाता है।

इस तरह आर्य जाति ने कुछ चिह्न आदि जोड कर अपनी सुविधा से ब्राह्मी को तैयार किया। उन लोगो ने सदा ही सिरे के लकीर से अक्षर को नीचे लटकाया और स्वर के चिह्न को ऊपर या नीचे जोड दिया। इसके कारण सेमिटिक अक्षर को उलट कर दूसरे रूप मे परिवर्तित कर दिया। ऐसी परिस्थिति (सेमिटिक अक्षर मे नए चिह्नो को जोडने से) मे सेमिटिक लिपि के लिखने की दिशा को भी बदलना पडा और भारत मे उसे बाए से दाहिने लिखा गया। ब्यूलर के कथनानुसार ब्राह्मी के २२ अक्षर उत्तरी सेमिटिक से लिए गए है। कुछ फोनिशिया से और थोडे एसिरिया के तौल पर अंकित लिपि से। शेष अक्षर नए चिह्नो को जोड कर तैयार किए गए और इस ढग से ब्राह्मी की वर्णमाला तैयार हो सकी।

डा० डिरिंजर का मत भी ब्यूलर के सिद्धान्त मे मिलता है। उनके कथन से अनार्य (आरमेइक) अक्षर ही ब्राह्मी के पूर्व रूप माने जा सकते हैं (अलफाबेट पृ० ३३६-७)। उनका कहना है कि पश्चिमी एशिया की सेमिटिक या अरमीनियन व्यापारियो ने सर्व प्रथम भारत मे सम्पर्क स्थापित कर अक्षरो का वहा समावेश किया। भारत ने ब्राह्मी को जन्म नही दिया अपितु पश्चिमी एशिया से ली गई लिपि प्रचलित की गई। स्वर तथा व्यंजन को चिह्न से व्यक्त करने की कला भी पश्चिमी एसिया से भारत पहुँची। अनेक अरबी अक्षर (अलिफ (अ) बेद (ब) गिमेल (ग) दालेथ (द) आदि ब्राह्मी के सदृश लिखे जाते है। दूसरे स्थान पर यह कहा जाता है कि भारतीय अक्षर चित्रलिपि की तरह थे। सर्व प्रथम 'चित्र-लिपि' सेमिटिक ही थी। इसलिए सेमिटिक से ब्राह्मी उत्पन्न हुई। तीसरा प्रमाण दिया जाता है कि ब्राह्मी आरम्भ मे दाहिने से बाएँ लिखी जाती रही (जैसे अरबी लिखी जाती है)। अत मे यह व्यक्त किया गया है कि ई० पू० ५०० से पहले ब्राह्मी का कोई रूप नहीं मिलता, अतएव ब्राह्मी को क्यो कर भारतीय मान सकते है ? उपरि-लिखित प्रमाणो के उत्तर मे यह कहना यथार्थ होगा कि ब्यूलर डिरिंजर द्वारा कथित सेमिटिक तथा ब्राह्मी की समानता काल्पनिक है। उत्तर पश्चिम भारत में प्रचलित खरोष्ठी से मिलता है परन्तु ब्राह्मी से नही। फिर भी यह मत अन्य प्रमाणो से पुष्ट नही होता कि सेमिटिक से ही ब्राह्मी या खरोष्ठी की उत्पत्ति हुई। यह ठीक विपरीत भी हो सकता है (खरोष्ठी से सेमिटिक निकली) दोनों लिपियो अथवा अक्षरो मे कुछ समानता दिखाई पडती है, पर इससे यह भाव नही निकाला जा सकता कि ब्राह्मी सेमिटिक का अनुकरण है। यो तो अंग्रेजी अक्षर इ (E) के सदृश ब्राह्मी ज होता है किन्तु ऐसे आधार पर कोई सिद्धान्त स्थिर करना युक्तिसंगत नही है।

संसार मे प्राय सभी लिपियाँ प्रारम्भ मे "चित्र-लिपि" थी। उससे ही लोगों ने कालान्तर मे अक्षरों को लिखना शुरू किया। भारतवर्ष के प्राग्ऐतिहासिक युग के मुहरो के लेख "चित्र-लिपि" में नही है। कुछ चित्र है पर स्वरध्वनि तथा शब्दाश के द्योतक है या नही यह निर्णय नही हो सका है। उनमें कुछ अक्षर भी प्रकटित हो रहे है। अतएव सम्भव है कि हरप्पा सभ्यता मे उपलब्ध मुहरो (seals) की लिपि से ब्राह्मी क्रमश. विकसित हुई हो।

ब्यूलर ने ब्राह्मी को दाहिने से बाए लिखने का जो प्रमाण दिया है वह अशोक के येरगुडी (करनूल, मद्रास) लेख तथा एरण के एक मुद्रा-लेख पर आधारित है। कनिंघम ने मध्य प्रदेश के जबलपुर से उस सिक्के का पता लगाया था जिस पर ब्राह्मी मे मुद्रा-लेख दाहिने से बाए लिखा है। इसे एक आकस्मिक घटना मान सकते है और टकसाल के साँचा निर्माता-की भूल से ऐसा हो गया होगा। इसी तरह अशोक के लेख में लिखने का क्रम उलटा मिलता है। येरगुडी के लेख मे पहली पक्ति ठीक ढग से दाहिने स लिखी है और दूसरी पक्ति दाहिने मे बाए। तीसरी बाए से दाहिने तथा चौथी दाहिने से बाए। इसके स्पष्ट है कि लेख अकित करने वाला वास्तविक रूप मे ब्राह्मी लिखना जानता था। पर एक नयी प्रणाली (दाहिने से बाएँ) का उसी लेख में समावेश करना चाहा था। इसलिए विपरीत क्रम (दाहिने से बाए) भी कार्यान्वित किया। किन्तु कृत्रिम रूप के आधार पर कोई गम्भीर सिद्धान्त स्थिर करना युक्ति सगत न होगा।

साहित्यिक आधार पर बुद्ध-काल से भी पूर्व ब्राह्मी का प्रचलन प्रकट होता है। पुरातत्व विभाग की खुदाई मे अशोक ब्राह्मी से भी पूर्व पिपरावा स्तूप (उत्तर प्रदेश) के भस्म पात्र पर अक्षर खुदे है (ई० पू० ४५०) इससे भी पूर्व पाणिनि के समय लिपि का ज्ञान भारतवासियों को था। सक्षेप मे यह व्यक्त करना आवश्यक है कि वैज्ञानिक रूप मे ब्राह्मी मे प्रत्येक अक्षर ध्वन्यात्मक चिह्न है। लिखने तथा बोलने मे समता है यानी जो लिखते है उसी के समान उच्चारण भी करते है। इसमें चौसठ स्वर व व्यंजन के चिह्न है। ह्रस्व तथा दीर्घ के पृथक पृथक चिह्न वर्तमान है तथा मध्य मे स्थित चिह्न से स्वर व्यजन का मेल होता है। अ सभी व्यंजन मे निहित तथा अन्तर्वर्ती है। इस प्रकार ब्राह्मी वैज्ञानिक लिपि है तथा उसमे एक क्रम है। इन सबल प्रमाणा के सम्मुख सेमिटिक ऐसी अवैज्ञानिक लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है ?

यह उल्लेख हो चुका है कि बौद्ध ग्रथो मे जितनी लिपियो के नाम आते है उनमे ब्राह्मी को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। ईसा पूर्व पाच सौ वर्षों से ब्राह्मी का प्रयोग भारत मे निरन्तर होता रहा है। अशोक के समय मे तो सारे भारत वर्ष मे (उत्तर पश्चिम के कुछ गाधार का भाग छोडकर) इस लिपि मे लेख अंकित किए गये। यह राष्ट्रीय लिपि ई० पू० ५०० स ईसवी सन् के ३०० तक समान रूप मे पाई जाती है। जिसके तत्पश्चात् कुछ परिवर्तन आने लगा। गुप्त काल से ब्राह्मी मे स्पष्ट विभेद दीख पडता है। उसके स्वरूप को ध्यान मे रखकर ब्राह्मी का दो विभाग किया जाता है—

ब्राह्मी से भारतीय लिपियो का विकास

(१) उत्तरी भारतीय शैली

(२) दक्षिण भारत की शैली

डिरिंजर के मतानुसार मौर्य सम्राट् अशोक के लेखो मे प्रयुक्त लिपि के पश्चात् (ईसा पूर्व दूसरी सदी) कलिङ्ग मे कुछ भिन्नता उत्पन्न हो गयी थी। हाथी गुम्फा लेख की लिपि को कलिंग शैली को ब्राह्मी कह सकते हैं। इसी प्रकार शुग कालीन भरहुत वेदिका के लेख तथा दक्षिण के शासक सातवाहन लेखो (नासिक, नानाघाट) की लिपि एक सदृश नही हैं। ब्यूलर ने उत्तरी भारत की शैली को यानी गुप्त युग से पूर्व लिपि को दो भागो मे विभक्त किया है। शुंग कालीन लिपि से उत्तरी क्षत्रप (रजुवल) का मथुरा लेख के अक्षर मिलते है तथा दोनो लिपियों मे समानता है। उससे भी भिन्न कुषाण लिपि समझी जाती है जो कनिष्क हुविष्क तथा वासुदेव की प्रशस्तियो मे प्रयुक्त है। प्राय सत्तर लेखो में इस तरह की लिपि वर्तमान है।

यदि मौर्य काल से ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी तक के लिपियो का गम्भीर अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि अशोक कालीन लिपि मे स्वर के चिन्ह अक्षर के सिरे पर या नीचे लगाए जाते थे। विसर्ग का नाम नही था तथा ऋ का सर्वथा अभाव था। इसका व्यवहार सर्वप्रथम उपवदत्त के नासिक लेख (ई० स० १२-२५) मे पाया जाता है। रुद्रदामन के गिरनार लेख (ई० स० १५०) मे सयुक्त अक्षर का प्रयोग निश्चित रूप से मिलता है।

अशोक के पश्चात् अनेक लेखो (वेसनगर, नानाघाट, भरहुत तथा हाथी गुम्फा के लेख) मे विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ पहले चार बिन्दुओ से इ मात्रा का बोध होता था पर बाद से तीन बिन्दुओ से ई तथा चौथे से अनुस्वार का बोध होने लगा। भरहुत मे ई के लिए एक निश्चित स्वरूप दिखलाई पडता है। मथुरा के क्षत्रप लेखो में अक्षरो का आकार त्रिभुज के रूप मे होने लगा। हाथी गुम्फा मे अक्षरो के सिरे छोटी रेखा वर्तमान है। अशोक कालीन ब्राह्मी के अक्षरो म गालाई था। रेखा नही थी जो आगे चल कर प्रकट हो गई। मौर्य ब्राह्मी म दीर्घ ई तथा ऊ के लिए क्रमश. सिरे तथा नीचे दो रेखा जोड दी जाती थी। परन्तु ईसवी सन् से इनका पृथक स्वरूप मिलता है। मथुरा तथा सारनाथ के लेख मे कुषाण युग मे ई के लिए बिन्दुओं के स्थान पर रेखाओ का प्रयोग होने लगा। ई स्वर के चिह्न ने नवीन रूप धारण कर लिया। ण चार प्रकार के लिखे जाने लगे। दूसरी सदी मे हलंत् का प्रयोग आरम्भ हुआ और उसके लिखने में हलत वाला अक्षर साधारण अक्षरो से नीचे (उसी सीध मे नही) लिखा जाने लगा। अक्षरो की सिरो रेखा गिरनार के लेख मे (१५० ई०) (अक्षरो के सिरे पर) एक छोटी रेखा के सदृश प्रकट हुई जो आगे चलकर लम्बी लकीर बन गई। पश्चिमी भारत के क्षत्रप शासक तथा दक्षिण के सातवाहन नरेशों के मुद्रा लेखो में अक्षरो के नए स्वरूप मिलते है। ज, य, स, ह, क्ष, म तथा इ का नया रूप सामने आता है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि सिक्को पर स्थान की कमी के कारण नए शैली के अक्षर लिखे गए।

चौथी सदी से भारतीय लिपि मे विशेष रूप से भिन्नता आ गई। मौर्य युग से तीसरी सदी तक ब्राह्मी मे अमूल परिवर्तन नही दिखलाई पडता। अक्षर का रूप तथा कुछ नए रूप के समावेश से वह भिन्नता नही आ सकी जिसको नया नाम देकर व्यक्त किया जाता। किन्तु चौथी सदी से छठी सदी तक नर्वदा के उत्तर मे प्रचलित लिपि को "गुप्त लिपि" की संज्ञा दी गयी क्योकि

गुप्तलिपि

उस अवधि मे गुप्त शासक थे। समय तथा स्थान के कारण निश्चित रूप से ब्राह्मी मे विभेद आ गया। 'गुप्त लिपि' का प्रयोग सस्कृत भाषा मे सर्वत्र होने लगा। उदयगिरि (भिलसा के समीप) के लेख मे जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का सर्वप्रथम उपयोग दिखलाई पड़ता है। "गुप्त लिपि" के अध्ययन के फलस्वरूप दो उपविभाग किये गये हैं। श्री राखालदास बैनर्जी चार उपविभाग मानते है। (१) पश्चिमी ढंग के अक्षर जिसमे कोई नया रूप नही है। प्रथम कुमार गुप्त के भिलसद लेख (एटा जिला, उत्तर प्रदेश) की लिपि पश्चिमी उपविभाग का प्रतिनिधि समझी जाती है। इसमे स्वर के चिह्न स्पष्ट है जो आगे चलकर कुटिल लिपि का स्थान लेते है। (२) पूर्वी शैली मे ल, स, ह तथा म अक्षरो का नया रूप दिखलाई पडता है। प्रयाग का स्तम्भ लेख इसका प्रतिनिधित्व करता है। इ के लिए दो बिन्दु तथा सामने लम्बवत् रेखा का प्रयोग मिलता है। सभी अक्षरो मे कोण तथा सिरे पर रेखा का समावेश 'गुप्त लिपि' में पाया जाता है। इसी को "सिद्धमातृका" के नाम से पुकारते है।

गुप्त युग के पश्चात् छठी से सवी सदी तक गुप्त-ब्राह्मी से भी अधिक भिन्नता उत्तरी भारत के लिपि मे दिखलाई पडने लगी। गुप्त लिपि के प्रत्येक अक्षर मे नीचे की ओर खडी रेखाएँ बाई ओर मुडी हैं तथा स्वर की मात्राए टेढी और लम्बी हो गई। इसी कारण इन तीन सौ वर्षो की लिपि को कल्पना की गई। जो "कुटिल लिपि" के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह शब्द केवल लेख (उत्तर प्रदेश) मे 'कुटिला क्षराणि" कहा गया है तथा विक्रमाकदेव चरित मे कुटिलिपि उल्लिखित है। कालान्तर मे इसको 'विकटाक्षरा' भी कहने लगे। पिछले गुप्त नरेश आदित्यसेन का अपसद (गया जिला) तथा विष्णु गुप्त का मगराव। (शाहाबाद जिला) लेख इसी लिपि मे उत्कीर्ण हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा राजपुताना के लेख इस लिपि से सम्बन्धित है। मदसोर, मधुवन जोधपुर आदि लेखो मे अक्षर नागरी से मिलते जुलते है। आ, हलत, उपध्मानीय आदि का प्रयोग नागरी के समान है यानी कुटिल तथा देव नागरी लिपि मे कोई अन्तर नही दिखलाई पडता। कुटिल लिपि से ही नागरी तथा शारदा लिपिया निकली। हलंत व्यञ्जनों के सिरे पक्ति से नीचे नही मिलते किन्तु स्वर व्यंजनो के साथ समान पक्ति मे ही लिखा है।

कुटिल लिपि

भारतबर्ष की सर्वप्रसिद्ध लिपि नागरी का विकास सिद्धमातृका स माना जाता है। नागरी का नामकरण विवादास्पद है। नगर के रहने वाले जिस लिपि मे लिखने लगे उसे 'नागरी' का नाम दिया गया अथवा गुजरात के नागर ब्राह्मण जिस लिपि का प्रयोग करते थे, उसे 'नागरी' कहा गया। इसमे सिरे की पडी रेखा लम्बी होती गई और अक्षरो मे लम्बी लकीर का समावेश हो गया। सिद्धमातृका से भिन्न सिरे की मात्राएं अधिकतर सीधी हो गई। सातवी सदी के अभिलेखो मे 'नागरी' के स्वरूप का आभास मिलने लग गया था। परन्तु नवी सदी से सर्वत्र 'नागरी' मे लेख या पुस्तक लिखना आरम्भ हो गया। ११ वी सदी तक उत्तरी भारत मे 'नागरी' ही प्रधान लिपि हो गई और उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, बंगाल, राजपुताना मे सर्वत्र 'नागरी' मे अभिलेख तथा मुद्रालेख उत्कीर्ण होने लगे।

देवनागरी लिपि

नागरी को 'देव नागरी' की संज्ञा दी गई है। सम्भवतः देव कार्य के लिए ब्राह्मण प्रयुक्त करते थे इसलिए देवनागरी नाम प्रसिद्ध हुआ। यह सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है जिस के प्रत्येक अक्षर मे 'अ' अन्तर्निहित है। उसका पृथक उच्चारण नही होता। इसमे १४ स्वर तथा ३४ व्यजन पाए जाते है।

कैथी आदि

उत्तरी भारत की ब्राह्मी से ही देव नागरी विकसित हुई और उसीसे समकालीन शारदा तथा बगला लिपियो की भी उत्पत्ति हुई। पश्चिमी गुप्त लिपि से आठवी सदी मे काश्मीर मे शारदा लिपि का विकास तथा प्रसार हुआ। शारदा मे अक्षर मूलत' देवनागरी के समान है परन्तु उनका स्वरूप भिन्न है। पूर्वी गुप्त लिपि मे बगला लिपि का पूर्व रूप पाया जाता है यानी सातवी सदी के पश्चात् नागरी लिपि से ही बगला लिपि निकली। पाल राजा धर्मपाल तथा देवपाल के लेख नागरी लिपि मे ही मिलते है। श्री चक्रवर्ती ने अपने लेख (बगाली अक्षर का विकास) मे इस बात को सिद्ध किया है कि सातवी सदी की लिपि के पूर्वी उपविभाग से बगला का जन्म हुआ। नागरी से दसवी सदी तक वह प्रभावित रही यानी दोनो लिपियो मे समानता थी। परन्तु इसके बाद स्वतत्र रूप धारण कर दिया। बगला को १५वी तथा १६वी सदी मे पूर्ण विकसित पाते है। पूर्वी नागरी से ही कैथी, महाजनी, राजस्थानी तथा गुजराती लिपिया निकली। कैथी को कायस्थ लोग लिखते रहे। देवनागरी से इसमे दो स्थानो मे भिन्नता दिखाई पडती है। अक्षरो में सिरे की पडी रेखा खडी तथा रेखा का कैथी मे सर्वथा अभाव है। कैथी मे ई या ऊ का दीर्घ नही होता तथा स या श मे अन्तर नहीं दिखलाई पडता। महाजनो को मारवाडी वर्ग व्यापार के सम्बन्ध मे प्रयोग करते हैं।

दक्षिण भारत की शैली

भारत मे बिन्ध्या के दक्षिण नर्वदा नदी दक्षिणापथ की सीमा निश्चित करती है परन्तु लेखन कला के आधार पर पश्चिम में काठियावाड तथा पूरब मे बगाल के दक्षिण भाग को दक्षिणी भारत के नाम से प्रयुक्त किया गया है और उस भाग मे प्रचलित लिपि दक्षिण भारतीय शैली मे सम्बन्धित है। उस भूभाग मे बसने वाले लोग द्रविड या द्रमिड के नाम से विख्यात हैं। पालि दमिल तथा संस्कृत तमिल शब्दो से वहा की भाषा परिवार की जानकारी होती है। इसलिए भारतीय लिपि के दक्षिण शाखा को "द्रविड लिपि" कहा जाता है। वह लिपि ईसवी सन् की चौथी सदी मे प्रयुक्त होने लगी और गुप्त काल मे भारतीय लिपि की उत्तर तथा दक्षिण शाखाएँ पृथक हो गई। मोटे तौर पर उत्तरापथ की लिपि मे कोण युक्त अक्षर तथा अक्षर के सिरे पर पडी रेखा को स्थान मिल गया। दक्षिण के अक्षरो पर वर्गाकार आकृति जोड दी गई जो बाक्सनुमा कही जाती है।

दक्षिणापथ की द्रविड लिपि निम्न भागो मे विभक्त की गई है —

(१) **पश्चिम उपविभाग**—काठियावाड गुजरात, मराठा जिले तथा कोकण में प्रयुक्त। गुजरात काटियावाड मे उत्तरी शाखा की लिपि काम मे लाई जाती थी, अतएव उसका प्रभाव दिखलाई पडता है।

(२) **मध्य भारत की लिपि**—इसमें भी अक्षरो पर वर्ग का स्थान दिया गया था यानी बाक्सनुमा आकार वाले अक्षर ।

(३) **तेलगु लिपि**—दक्षिण भारत में इस लिपि को प्रधान स्थान दिया गया है। इसका प्रयोग तथा विकास बम्बई के दक्षिण भाग में, मैसूर तथा आंध्र प्रदेश में मिलता है। इस लिपि का सर्वप्रथम प्रयोग पाचवी सदी म हुआ तथा कन्नड ग्रंथ 'कविराज मार्ग' (९ वी सदी) मे यह लिपि प्रयुक्त है। तमिलनाड प्रदेश के तेलगु लेख से भी पहले तामिल का प्रयोग मिलता है।

(४) **ग्रंथ लिपि**—पूर्वी मद्रास किनारा, काची के भाग से प्राप्त प्राचीन संस्कृत अभिलेख 'ग्रथ' के नाम से प्रसिद्ध थी। काची ५वी-९वी सदी तक तथा चोल (उत्तरी मद्रास) राज्य म ९वी से १४वी सदी तक प्रयुक्त हाती रही। पल्लव राजवश के ताम्रपत्र (७वी सदी) 'ग्रथ' मे ही लिखे गर्ग थे। आरकाट से केरल तक पुस्तके इसी लिपि मे लिखी गई थी, इसी कारण इसका नाम 'ग्रथ लिपि' पडा ।

(४) **तामिल लिपि**—इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नही कहा जा सकता। ब्यूलर का मत था कि पाचवी सदी की ब्राह्मी से यह निकली और कालान्तर में 'ग्रथ' से प्रभावित हुई। द्रविडी लिपि से तामिल लिपि का सम्बन्ध अनिश्चित है। आरकाट, मदूरा तथा केरल तक तामिल की अपर्णता के कारण सस्कृत की पुस्तकें 'ग्रथ' लिपि मे लिखी गई। तमिलनाड के भूभाग मे तथा मालावार प्रदेश के लेखो मे (चोड, चालुक्य एव राष्ट्र कूटके दानपत्रो) मे सातवी सदी से तामिल का प्रयोग हाने लगा था। इस मे सयुक्त व्यजन एक दूसरे से मिला कर नही किन्तु पास-पास लिखे जाते है। इसमे कुल १८ व्यंजन है। इसी कारण सस्कृत इसमे लिखा नही जा सकता। जब आवश्यकता पडी तो ग्रथलिपि' मे लिखे जाते है।

तामिलनाड के गजाम तथा कलिग मे शासन करने वाले गग वशी राजाओ के दानपत्रो मे ७वी से ११वी सदी तक कलिग लिपि का प्रयोग मिलता है। इसमे मध्यदेशीय लिपि का अनुकरण है तथा अक्षर के सिरे पर संदूक की आकृति वर्तमान है। इसमे तेलेगु, ग्रथ तथा नागरी का सम्मिश्रण पाया जाता है।

कलिग लिपि

लेखक तथा लिखने की विधि

भारतवर्ष मे अक्षर को विद्वानो ने पता लगाया और साहित्यिक क्षेत्र मे पुरोहित अथवा ब्राह्मण इसका प्रयोग करते रहे। लिपि से पूर्व भाषा तथा स्वर विद्या का ज्ञान स्वत. प्रमाणित होता है। भाषाविद् के समक्ष साहित्य का अध्ययन प्रमुख था और लेखन कार्य की उतनी आवश्यकता न थी। समाज के विकास के साथ विभिन्न जीविका के द्वारा लोग जीवन निर्वाह करने लगे और लेख-कार्य भी एक जीविका का साधन बन गया।

हमारे महाकाव्यो मे लेखन शब्द का उल्लेख पाया जाता है। रामायण तथा महाभारत के अतिरिक्त पालि साहित्य मे इस शब्द का प्रचुर प्रयोग किया गया है। मुद्राराक्षस मे पदाधिकारी लेखक या श्रोतिय की प्रशसा की गई है—

(अ) श्रोत्रिय अक्षराणि प्रयत्न लिखितान्यपि ···· ··

(ब) अहो दर्शनीयान्यक्षराणि (प्रथम अंक)

बौद्ध ग्रंथ विनयपिटक (भिक्खुपाचितिय एवं बुधिस्ट इंडिया पृ० १०८) में लेखन कला की प्रशंसा की गई है। महावग्ग (१, ४९) तथा जातकों में (इंडियन स्टडीज ३, २) राजकीय पत्रों का विवरण पाया जाता है जिससे प्रकट होता है कि राजकीय आज्ञा पत्रों के लिखने में दक्षता की आवश्यकता रहती थी। अभिलेखों में सर्वप्रथम साची के लेख में (स्तूप न० १ सं० १४३) 'लेखक' शब्द का प्रयोग मिलता है। उससे दानकर्त्ता के जीविका का तात्पर्य था। कालान्तर मे 'लेखक' शब्द का प्रयोग प्रशस्तिकार (शिला या ताम्रपत्र का लेखक) के लिए होने लगा। ब्राह्मण या कायस्थ वर्ग के व्यक्ति इस कार्य को करते थे। जैन-धर्म-ग्रंथ भिक्षु तथा भिक्षुणी द्वारा पढने के निमित्त नकल किये जाते थे। नालन्दा के लेख मे धर्म-ग्रंथ के लिखने के लिए (नकल करने) दान देने का वर्णन मिलता है (धर्मरत्नस्य लेखनःार्थ— इ० भा० २०)। अशोक के लेख मे (ईसा पू० चौथी सदी मे) लिपिकर (लिखितं लिपिकरेण-ब्रह्मगिरि, लिपिकरापराधेन-गिरनार लेख तथा दिपिकर शाहबाजगढी १४वा शिलालेख) शब्दों का प्रयोग धर्मशासन को प्रस्तर पर लिखने वालो के लिए प्रयुक्त मिलता है। लिपिकर तथा लेखक समानार्थक शब्द है परन्तु लेखक शब्द ही अधिक प्रयुक्त है। आठवी सदी के बलभी लेख में दिविरपति शब्द उल्लिखित है जिसका तात्पर्य यह हो सकता है कि वह राजकीय पत्रों के लेखकों से उच्च कोई अधिकारी था। ब्यूलर ने अशोक के दिपिकर शब्द को ईरानी दिविर से उत्पन्न बतलाया है। दिपिकर प्राकृत में दिविकर हो गया होगा किन्तु दोनो एक ही शब्द के दो रूप होंगे।

ईसवी सन् के पश्चात् लेखन कार्य एक विशिष्ट वर्ग के हाथों आ गया जो कायस्थ के नाम से उल्लिखित है। याज्ञवल्क्य स्मृति (१, ३३६) मे उल्लिखित कायस्थ शब्द पर टीका करते विज्ञानेश्वर ने उसका अर्थ लेखक माना है। (कायस्थ गणका लेखकाश्च)। पाचवी सदी के दामोदरपुर ताम्रपत्र में कायस्थ वर्ग का मुखिया जिला समिति का सदस्य बतलाया गया है (ए० इ० भा० १५)। कायस्थ उस समय किसी वर्ग या जाति का नाम नही था परन्तु राज घराने में जो कोई लेखक का कार्य करता रहा वह कायस्थ नाम से सम्बोधित किया जाता था। कायस्थ शब्द का दार्शनिक रीति से यह अर्थ निकलता है कि जिस व्यक्ति का ध्यान शरीर (काय) मे केन्द्रीभूत हो जाय और किसी वस्तु की परवाह न करे, वह कायस्थ पुकारा जा सकता है। अस्तु, विभिन्न वर्ण तथा जाति के व्यक्ति राजदरबार मे कायस्थ का कार्य (लेखन कार्य) करते थे, जो कालान्तर में एक जाति के रूप में संगठित हो गए।

कायस्थ शब्द के अतिरिक्त लेखक के लिए करण, करणिक, करनिन आदि शब्द प्रयुक्त होते रहे। चेदि लेख (करणिक धीर सुवेन) तथा चन्देलो के खजुराहो प्रशस्ति मे करणिक शब्द का प्रयोग मिलता है जो सुन्दर अक्षर लिखने के लिए प्रसिद्ध थे। कार्यालय (अधिकरण या श्रीकरण) से सम्बन्धित लेखक करण या करणिक कहलाया। कीलहार्न ने करण से कानूनी पत्रों के लेखक का अर्थ माना है।

मध्य युग के [१२वी सदी] चन्देल, चेदि व चहमान लेखो मे कायस्थ के सम्बन्ध में अत्यधिक बातें उल्लिखित है। अनेक प्रशस्तियो मे लेखक के अतिरिक्त वह धर्मलेखी (धार्मिक दान का लेखक) भी कहा गया है। दानपत्रों मे वर्णन आता है कि गौड़ (उत्तरी बंगाल)

कायस्थ सुन्दर अक्षर लिखते थे (लिखिता रुचिरा अक्षरा गौडेन—ए० इ० भा० १ पृ० १४७) स्यात् अच्छे रीति से लिखने के कारण गौड कायस्थ को मध्य देश के राजाओ द्वारा निमंत्रण दिया जाता था। खजुराहो लेख (१० वी सदी), मध्यप्रदेश के कलचुरि प्रशस्ति तथा मारवाड़ से प्राप्त चहमान लेखों मे कायस्थ की प्रसशा की गई क्योकि वह राजकीय पत्रो को सुन्दर व ललित अक्षरो मे लिखता था।

(१) लिखितं श्री गौडान्वय कायस्य पेथडेन (ए० इ० ११ पृ० ४१)

(२) द्विजवग्नतिरिक्त शुद्ध कायस्थ वंश्यो
हृदयधर समाख्य: श्री शिव स्तभ सूनु
अलिख दखिल वर्ण व्यक्तं पक्ति प्रशस्यं
नव किसलय कान्तं ताम्रेतन्द्विजानाम् (ए० इ० १४ पृ० १९५)

(३) विरचित शुभ कर्म्मानाम कायस्थ वंश्य
सकल गुण गुणाना वेश्य पृथ्वीधराख्य:
अलिख दवनि पालस्याज्ञया धर्मलेखी
स्फुट ललित निवेशैरक्षरैस्ताम्रपट्टम् (ए० इ० १४ पृ० १४)

इसी तरह करणिक की भी चर्चा लेखो मे आती है जो सुन्दर अक्षर लिखने के कारण गौड देश मे मध्य देश या राजपुताना मे निर्मत्रित किये गए थे। यह भी वर्णन आया है कि उन्हें सस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था, इस कारण शुद्ध लिख सकते थे।

लिखितं चेद करणिक श्री सर्वानन्देन (ए० इ० ११ पृ० १४५)
संस्कृत भाषा विदूषा जयगुण पुत्रेण
कौतुका लिखिता. रुचिराक्षरा
प्रशनि करणिक जद्धेन गौडेन (ए० इ० १ पृ० १२९)

प्राचीन अभिलेखो मे प्रशस्ति अंकित कराने के प्रसग मे शिल्पिन, रूपकार या सूत्रधार या शिलाकूट शब्दो का प्रयोग मिलता है। उनके विवेचन से प्रकट होता है कि सर्व प्रथम प्रशस्ति या लेख राजकीय पदाधिकारी द्वारा लिखा जाता था (जिसे लेखक कह सकते है) और उसीको प्रस्तर अथवा ताम्रपत्र पर खोदा जाता था। गौतमी पुत्र शातकर्णि के नासिक लेख के अत मे "तापसेन कृता" उल्लिखित है जिसका भाव यह है कि तापस (नाम) द्वारा खोदा गया (उत्कीर्ण किया गया)। इस तरह का सदर्भ पूर्व मध्यकालीन प्रशस्तियो मे अधिकतर पाया जाता है जो ताम्रपट्टिका या शिला खण्ड पर खोदी जाती रही। खोदने वाला शिल्पी कहा गया है। बगाल के लेख मे मगध के शिल्पी सोमेश्वर का निम्न प्रकार उल्लेख है जिसने प्रशस्ति खोदी थी—

सूत्रधार

शिल्पविन मागध कामी तन्मना वर्णभक्तिभि
सोमेश्वरो लिखिदिमाम् प्रशस्ति स्वामिव प्रिमाम्
(ए० इ० १३ पृ० ४९)

उसी तरह महीपाल के लेख मे "इमं शासन उत्कीर्ण श्री महीधर शिल्पना" पाया जाता है (ए० इ १४ पृ० ३२३) अन्य लेखो मे भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

रजपालस्य पुत्रेण पाल्हणेन च शिल्पिना
उत्कीर्णा वर्णघटना वैदग्धी विश्वकर्मण
(ए० इ० भा० २० पृ० १३१)

यशोवर्म सुतेनेय साधुना नाग वर्मणा
रम्या प्रशस्तिरुत्कीर्णा कला कौशलशालिना
(धनिक की नगर प्रशस्ति से)

ताम्रपत्र पर कुशल शिल्पी द्वारा लेख खुदवाने का कार्य १२ वी सदी तक के लेखो में पाया जाता है ताड पत्र पर स्याही से लेख लिखकर अक्षरो को कील से खोद दिया जाता था। इसी रीति का अधिकतर प्रयोग मिलता है।

(१) उत्कीर्णा प्रचुरासा प्रशस्तिरियक्षरै रुचिरः (ए० इ० भा० २६ पृ० २६३)
(२) लिपिज्ञान विधिज्ञेन प्राज्ञेन गुणशालिना
मिहनय समुत्कीर्णा सद्वर्णा रूप शालिना (ए० इ० १ पृ० १४७)
(३) उत्कीर्णा सोमनाथेन टङ्क विज्ञान शालिना (वही पृ० ८१)
(४) चक्रदासेन उत्कटितम् (प्रभावती गुप्ता का पूना ताम्रपत्र)
(५) उत्कीर्णाच हेमकार कृष्णश्वरेण (जोधपुर की प्रशस्ति)
(६) श्रीमतातातटेनेद उत्कीर्ण गुणशालिना (खालीमपुर ताम्रपत्र)
(७) कई अन्य लेखो मे प्रस्तर खोदने वाले तथा स्वर्ण कार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इमा शिलाशिल्पवर, प्रशस्ति म शूलपाणि
स्वयमुच्चखान (गोविन्दपुर लेख)
इति सुवर्ण कार्य पुत्रेंण अपापेन लिखियन्ताम्र पट्टिका (गया अभिलेख)
यशोवर्मन की मंदसोर प्रशस्ति में "उत्कार्णा गोविन्देन" उल्लिखित है।

इन उद्धरणो से अर्थ यह निकलता है कि शिल्पी को प्रस्तर या ताम्रपट्टिका पर प्रशस्ति खोदने (उत्कीर्ण) मे कुशल समझ कर कार्य सौप दिया जाता था। वह सुन्दर अक्षरो मे उचित रीति से प्रशस्ति उत्कीर्ण करता जिसमे उनकी कुशलता का परिज्ञान होता था। वह कारीगर सुनार, लोहार काष्यकार या ताम्रकार जाति का होता था जिसका जीविका उसी कार्य पर निर्भर थी यह कहना सम्भव नही कि कितने समय मे एक ताम्रपत्र खोदा जाता था।

दानपत्रो को 'शासन' की संज्ञा मध्ययुगी लेखो मे दी गई है। वाकाटक नरेश प्रवरसेन की प्रशस्ति मे (चमक लेख) 'शासन लिखिनमिति' वाक्य उल्लिखित है। प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रपत्र मे यही वाक्य उल्लिखित है। वसिम ताम्रपत्र मे

शासन का निर्माणकर्ता

'लिखितमिम शासनं' वाक्य पूर्वोक्त कथन की पुष्टि करता है। राष्ट्रकूट लेखो मे दूतक द्वारा लिखने का वर्णन है—दूतक लिखितं श्री गौडसुतेन"। पालवंशी लेख उसे 'शासन' का ही नाम देते है (शासन उत्कीर्ण) चहमान वंशी-राजा विग्रहपाल के स्तम्भलेख मे "लिखितमिद राजा आदेशात्" वाक्य मिलता है। गुप्त युग के लेखों का अध्ययन यह बतलाता है कि शासन (राजकीय पत्र) तैयार करने का कार्य किसी

ऊँचे पदाधिकारी के हाथ मे रहता था। प्रयागस्तम्भ की प्रशस्ति हरिषेण ने लिखीथी जो कुमारामात्य तथा सन्धिविग्रहिक (मंत्री) पद को सुशोभित कर चुका था। प्रथम कुमारगुप्त की मदसोर प्रशस्ति की रचना वत्सभट्टि ने की थी (अयंप्रयत्नेन रचिता वत्स भट्टिना) बलभी राजा धरसेन के ताम्रपत्र मे "सन्धिविग्रहाधिकरणाधिकृत दिविरपति स्कन्दभट्ट"का नाम आता है (इ० ए० ६ पृ० ९)। शासन लिखते समय दूतक भी मोजूद रहता था और अत में शासक हस्ताक्षर करता था। बासखेडा ताम्रपत्र के अंत मे "स्वहस्तोमम महाराजाधिराज श्री हर्षस्य" का उल्लेख हस्ताक्षर को (वर्तमान वा० खुद) व्यक्त करने के लिएअंकित किया गया था। राजतरंगिनी (५, ३९७) मे एक पदाधिकारी—पट्टपाध्याय का नाम आता है जो काश्मीर मे राजकीय पत्रो (शासन) को तैयार करता था। अक्षपटलिक नामक अधिकारी उन शासनो को संग्रह कर रखता था। इस तरह पुराने समय मे राजाज्ञा को प्रस्तर या पट्टिका पर उत्कीर्ण करने का कार्य सपन्न किया जाता था।

निबन्ध कर्म

नासिक गुहा लेख मे वर्णन मिलता है कि दान की घोषणा कर तथा लेखन कार्य संपन्न होने के पश्चात् ताम्रपत्र (फलक) को निगम सभा को रजिस्ट्री (निबध) कर वही कार्यालय (फलकवार) मे सुरक्षित रक्खा जाता था ताकि भविष्य में उसी लिखित नियम का पालन हो सके। उल्लेख पठनीय है —एत च सर्वं स्रावित निगम सभाय निबध च फलकवारे चरित्रतोति। भूयोनेन दत्तं वसे ४० + १ कातिक शूधेपनरसपुवाक वसे ४० + ५ स्रावित······ फलकवारे चरित्रतो ति। (ए० इ० भा० ८ पृ० ८२)

दान लिखकर राजकीय कार्यालय (फलकवार) मे सुरक्षित किया जाता यानी रजिस्ट्री (निबंध) किया जाता था। समयानुकूल (चरित्रतो) उसकी प्रति सुरक्षित की जाती। पूर्व-मध्ययुग के लेखो मे उस पदाधिकारी को 'अक्षपटलिक' कहते थे।

लिखने की शैली

प्राचीन समय से ब्राह्मी को बाए से दाहिने लिखने की रीति प्रचलित थी। पर खरोष्ठी दाहिने से बाए (अनार्य ढग पर) लिखी जाती थी। एरण के मुद्रा लेख मे 'धनपल्लदस' तथा अशोक के येरगुडी लेख मे कुछ पक्तिया दाहिने से बाईं ओर लिखी मिली है जिस आधार पर विदेशी विद्वान् ब्राह्मी की उत्पत्ति खरोष्ठी से मानने लगे थे। परन्तु इसमे वास्तविकता नही है। येरगुडी मे शिल्पी एक नया क्रम का प्रयोग कर रहा था जिसमे कुछ पक्तिया (२, ४, ६, ८, १०, ११, १३, १४, २३) दाहिने से बाई ओर लिखी मिली है। इस आधार पर कोई सिद्धान्त स्थिर नही किया जा सकता। प्रागैतिहासिक युग की मुद्राओ पर भी सम्भवत बाईं ओर से दाहिने अक्षर खुदे प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह है कि बाए से दाए लिखने की परिपाटी ही सब से प्राचीन तथा भारतीय है।

पुराने अक्षरो के सिरे पर पडी लकीर देने की रीति ई० सं० से आरम्भ हुई परन्तु वह भी नोक की तरह छोटा। पडा रेखा नही थी। यह कहना उचित होगा कि अक्षर सीधी पक्ति मे होते थे। सम्भव है कि सीधी पंक्ति के लिए शिल्पी पूर्व ही निशान लगा देता रहा ताकि लिखते समय टेढा न हो। प्राचीन लेखक अक्षर समूह या शब्द समूह की ओर ध्यान नही देते

थे और वाक्य को पृथक दिखाने के लिए किसी तरह का विराम चिह्न का भी प्रयोग नही करते रहे। यद्यपि प्राकृत लेखो मे अक्षर समूह का प्रारम्भ हो गया था परन्तु संस्कृत अभिलेखो मे विराम या खाली स्थान के प्रयोग से पद पृथक किए जा सकते है।

मौर्य युग स ईसवी सन् की पहली सदी तक विराम के निश्चित चिह्न नही थे। केवल एक छोटी पडी रेखा का प्रयोग मिलता है। किन्तु पाचवी शताब्दी से विराम के चिह्न स्पष्ट रूप से मिलते है। मदसोर तथा हरहा (फ्लीट नं० ३५ तथा ए० इ० भा० १४) की प्रशस्ति मे एक खडी रेखा से पूर्ण विराम व्यक्त किया गया है। तीन खडी रेखाएं कभी शासन के अंत में दिखलाई पडती हैं।

सक्षिप्त चिह्न

दक्षिण के सातवाहन, उत्तर-पश्चिम के शक क्षत्रप तथा कुषाण लेखो की एक विशेषता है कि उनमे सक्षिप्तीकरण की परिपाटी दिखलाई पडती हैं।

सम्वस्तर के लिए सम्व, सव, स या स			
गृष्म	,,	,,	गृ० गै० गि०
हेमन्त	,,	,,	हे०
दिवस	,,	,,	दि०
शुक्ल पक्ष	,,	,,	सु० दि०
बहुल पक्ष	,,	,,	ब० दि०
द्वितीय	,,	,,	द्वि०
सिद्धम्	,,	,,	श्री० सि०
राउत	,,	,,	रा०

अत मे इस विषय को समाप्त करते यह कहना असगत न होगा कि स्वस्तिक, त्रिरत्न या धर्मचक्र आदि धार्मिक चिह्न भी प्रशस्ति उत्कीर्ण करते समय खोदे जाते थे जो धार्मिक भावना के द्योतक हैं। लेख के अन्त मे राजमुद्रा को भी अंकित किया जाता था। गुप्त युग मे गरुण की आकृति सिक्को तथा कुछ लेखो पर मिलती है (गरुड ध्वज)। गज लक्ष्मी, शिव प्रतिमा, बोधिवृक्ष, धर्मचक्र या सदाशिव मूर्ति आदि विभिन्न राजवंशो को प्रशस्तियो पर अंकित मिलते है।

प्राचीन भारत मे सहस्रो अभिलेख, प्रस्तर या ताम्रपट्टिकाओ आदि पर उत्कीर्ण किए गये थे जिनकी लिपि के सम्बन्ध मे ऊपर लिखा जा चुका है। प्राय सभी को जानने की प्रबल इच्छा होगी कि इन ब्राह्मी तथा खरोष्ठी के लेखो तथा प्रशस्तियो का स्पष्टीकरण कब और किस प्रकार हुआ। इसका इतिहास यह बतलाता है कि कुछ भारतीय विद्वान् ७ वी ८ या वी सदी के हस्तलिखित ग्रंथो को (संस्कृत या प्राकृत) पढ सके थे परन्तु इसके पूर्व लिपियों की जानकारी उन्हे न थी। १४ वी सदी में फिरोजशाह तुगलक ने अशोक के लेखो को पढाने का प्रयत्न किया था जो अशोक स्तम्भ पर खुदे थे और जिन स्तम्भो को अम्बाला के टोपरा तथा मेरठ से दिल्ली लाया गया था। भारत वासी उस लिपि से १८ वी सदी तक अनभिज्ञ थे। सन् १७८४ मे स्थापित बगाल एशियाटिक सोसाइटी के सहयोग मे इस कार्य मे

प्राचीन भारतीय लिपि का स्पष्टीकरण

प्रगति हुई। १७८५ मे विल्किन्स ने एक पाल प्रशस्ति को (बदल स्तम्भ लेख) पढ़ा तथा राधाकान्त शर्मा ने चहमान विशाल देव की प्रशस्ति को स्पष्ट किया। विल्किंस ने उन पठित अक्षरो की सहायता से गुप्त लिपि के थोडे अक्षरो को स्पष्टतया पढ लिया। जेम्स टाड को राजपुताना, मध्य भारत तथा गुजरात मे एकचित्र लेखो को पढने में आंशिक सफलता मिल सकी।

१८३४ मे ट्रायर तथा डा० मिल प्रयाग स्तम्भ लेख के पढने मे सफलीभूत हुए थे। उसके बाद ही स्कन्दगुप्त का भितरी स्तम्भ लेख पढा गया। इस सम्बन्ध में जेम्स प्रिंसेप का नाम गर्व के साथ लिया जा सकता है जिसने गुप्त लिपि को पूर्ण रीति से स्पष्ट किया और अक्षर पहचाने जा सके। चार्ल्स मेलेट ने ब्राह्मी अभिलेखो के स्पष्टीकरण के लिए परिश्रम किया था पर सफल न हो पाया। १८३६ मे लसेन द्वारा भारतीय यूनानी मुद्रा-लेख पढा गया और इस तरह ब्राह्मी के अक्षर अंशत ज्ञात हो गए। इसका कारण यह था कि अगथुल्केयस के सिक्को के अग्र भाग पर यूनानी लिपि मे मुद्रा-लेख था और पृष्ठ ओर ब्राह्मी मे। कभी-कभी अग्रभाग मे यूनानी और पृष्ठ भाग मे खरोष्ठी तथा ब्राह्मी के लेख क्रमश अग्र तथा पृष्ठ भाग पर अंकित थे। इस प्रकार यूनानी लिपि की सहायता से खरोष्ठी तथा ब्राह्मी के अक्षर स्पष्ट हो सके। ब्राह्मी का पूर्ण ढग से स्पष्ट करने का श्रेय जेम्स प्रिंसेप को है जिसने प्रयाग, रधिया, मथैया तथा दिल्ली स्तम्भ लेखो का तुलनात्मक अध्ययन किया और गुप्त लिपि को पूर्णतः जान लिया। गुप्त लिपि मे ब्राह्मी की जानकारी सरल हो गई क्योंकि अक्षरो के सिलसिला का पता लग गया। उसने स्वर तथा व्यजन को पृथक किया। स्वर का मूल्य जान कर प्रिंसेप ने वर्ग में उन्हे विभाजित कर दिया। साची वेदिका पर खुदे लेख के अंतिम दो अक्षरो का शब्द अनुमान से व्यक्त हो गया। दान शब्द सर्वत्र एक सा था जिसे वेदिका के दान देने के प्रसंग से पढा जा सका। अनुमान से भी अक्षर का वास्तविक ज्ञान हो गया।

खरोष्ठी के पढने मे अधिक सुविधा दो भाषा के मुद्रालेख से मिली जो भारतीय-यूनानी सिक्को पर खुदी थी। टाउ यथा वर्न को ऐसे अनेक सिक्के मिले थे जिन पर अग्रभाग मे यूनानी तथा पृष्ठ भाग मे खरोष्ठी लेख उत्कीर्ण थे। विद्वानो का अनुमान ठीक निकला कि यूनानी लिपि तथा खरोष्ठी के मुद्रालेख एक समान है और दोनो लिपियो मे एक नाम अंकित है। प्रिंसेप इस को ध्यान मे रखकर ग्रीक राजाओ का नाम पढ सका तत्पश्चात् खरोष्ठी के लेख पढे गये। इस प्रकार मुद्रालेख के सहारे लिपि का जानकारी पूर्ण हो सकी। शनै शनै ब्राह्मी तथा खरोष्ठी के समस्त वर्णमाला का ज्ञान हो सका जिससे भारतीय संस्कृति के अमूल्य रत्नो की जानकारी सरल तथा सुलभ हो गई।

●

अध्याय १२

भारतीय अभिलेख तथा बृहत्तर भारत

पिछले पचास वर्षों से भारतीय इतिहास की एक विशेष शाखा का अध्ययन किया जा रहा है जिसे 'बृहत्तर-भारत' की संज्ञा दी गई है। भारत की संस्कृति वर्तमान भौगोलिक सीमा के बाहर विस्तृत थी जिसके अध्ययन से एक ज्ञान-राशि प्रकाश मे आई है। उत्तर-पश्चिम मार्ग से होकर मध्यएशिया, चीन तथा जापान तक भारतीय संस्कृति का विस्तार हुआ और पूर्वी बदरगाहो से दक्षिण-पूर्वी एशिया मे हमारी संस्कृति का फैलाव हुआ। बृहत्तर-भारत में इस संस्कृति को ले जाने का श्रेय भारतीय व्यापारियो को है जो वाणिज्य के प्रसग मे तथा व्यवसाय की अभिवृद्धि के लिए उन देशो मे गए। वहा जाकर उन्होने अपना उपनिवेश बसाया और क्रमश सास्कृतिक बातो का फैलाव किया। बृहत्तर भारत की सामाजिक, धार्मिक तथा कला का इतिहास इस बात को स्पष्ट व्यक्त करता है कि भारतीय संस्कृति का विस्तार किस रूप से वहाँ हुआ था। वहाँ के खण्डहर, भवन, मन्दिर तथा खुदाई से प्राप्त पुरातत्व सामग्रियाँ ऐसे अकाट्य प्रमाण है जिसके आधार पर भारतीय संस्कृति के स्वरूप तथा उसके विस्तार का परिज्ञान हो जाता है।

उन ऐतिहासिक सामग्रियों मे लेखो पर विचार करना ही प्रस्तुत विषय है। समस्त प्राप्त अभिलेखो पर विचार करने से पता चलता है कि लेख शिलाखण्ड, स्तम्भ (यूप), प्रतिमा आधार, ताम्रपत्र तथा कास्य घटे (bell) पर अंकित किए गए हैं। एशिया के दक्षिण-पूर्वी भाग मे अनाम, चम्पा, मलय, बर्मा के भू भाग तथा बोर्नियो, जावा, बाली द्वीपो आदि के लेख पर्याप्त सख्या मे मिले है। जावा में अधिकतर ताम्रपत्र तथा बर्मा मे घटे पर खुदे लेख प्राप्त हुए है। मध्यएशिया मे खुदाई के फलस्वरूप जो भोजपत्र पर लिखे ग्रन्थ मिले है और गुफाओ से चित्र तथा मूर्तियाँ प्रकाश मे आई है, उनके अध्ययन से विस्तारपूर्वक भारतीय संस्कृति की जानकारी होती है। अतएव बृहत्तर-भारत के अभिलेखो की चर्चा तथा वर्णन द्वारा भारतीय संस्कृति का सीमित विवरण ही उपस्थित किया जायगा। अभिलेखो के अध्ययन से विशिष्ट देशो के राजनीतिक इतिहास का ही ज्ञान नही होता किन्तु उस देश के समाज, साहित्य तथा अन्य विचार धारा का परिज्ञान होता है। यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि हिन्द-चीन तथा द्वीपो के समस्त लेख संस्कृत भाषा मे तथा भारतीय लिपि मे अंकित किए गए है। भाषा अलकारिक तथा काव्यमय है। उसका वैज्ञानिक विश्लेषण कतिपय विषयो पर प्रकाश डालता है।

उनके विवेचन से भारतीय देवता तथा धर्म सम्बन्धी विषयो का परिचय मिलता है। प्रतिमाओं पर अंकित लेख यह बतलाता है कि हिन्द-चीन की जनता भारतीय जनता के सदृश देवताओ का पूजा करती थी। बुद्ध-धर्म के वहाँ प्रचार होने के पश्चात् हिन्दू धर्म का प्रभाव

स्पष्ट हो जाता है। लेखो का अध्ययन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि हिन्द चीन की जनता भारतीय साहित्य को पढती थी। ब्राह्मण यज्ञ का वहाँ प्रसार था। कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि बुद्ध मत के साथ हिंदू धर्म का प्रसार वहाँ हो गया था किन्तु ब्राह्मण सस्कृति की ही प्रधानता दिखलाई पडती है। दानपत्रो की चर्चा करते समय भारत के ताम्रपत्रो की याद आती है। उनमे दान का वर्णन है। षोडश महादान की भारतीय कल्पना हिन्द चीन मे भी घर बना चुकी थी। उस प्रसग मे 'कल्पवृक्ष' तथा 'गोसत-सहस्र' का उल्लेख लेखो मे आया है। संक्षेप में यह कहना युक्ति सगत होगा कि दक्षिण-पूर्व एशिया के इतिहास, उपनिवेशो का प्रारम्भ एवं भारतीय सस्कृति के विभिन्न अगो का प्रसार आदि बातो की जानकारी लेखो से हो जाती है।

भारतीय साहित्य के आधार पर पता लगता है कि सुवर्ण-द्वीप (=सुमात्रा) मे सर्व-प्रथम ईश्वर वर्मा ने पदार्पण किया था और क्रमश वहाँ उपनिवेश बना। अरब या चीनी

सुमात्रा के लेख

यात्रियो के विवरण के अतिरिक्त सुमात्रा के अभिलेख उस देश को सुवर्ण द्वीप या सुवर्ण भूमि कहते है (सुवर्ण भूमि से मलय तथा समीपवर्ती सारे द्वीप समूह का बोध होता था) उस द्वीप के लेखो मे भी विजय राज्य की चर्चा की गई है। सारे अभिलेख सस्कृत मे लिखे गए है और लिपि के विचार से पाँचवी सदी की उत्तर भारतीय लिपि से मिलते है। लेखो मे वर्णन आता है कि श्री विजय नाम का स्थान संस्कृत विद्या का केन्द्र हो गया था। उसी मे श्रीविजय के शासक के पराक्रम और वैदेशिक नीति की भी चर्चा है। दो सस्कृत लेखो में एक बौद्ध राजा जयसिंह का विवरण करता है।

मलय के सस्कृत लेख भी बुद्ध धर्म के प्रचार का वर्णन करते है। सभी सस्कृत लेख पाँचवी सदी की गुप्त-लिपि मे अकित है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि पाँचवी सदी तक मलय मे भारतीयो का उपनिवेश स्थापित हो गया था। प्रयाग स्तम्भ लेख मे समुद्रगुप्त द्वारा समतट के भू-भाग पर अधिकार करने का वर्णन है। वहाँ के प्रसिद्ध बन्दरगाह ताम्रलिप्ति (वर्तमान तामलुक) से भारत वासी मलय पहुँचे और उपनिवेश बनाकर लेख खुदवाया होगा। एक लेख मे वर्णन है कि कर्ण सुवर्ण मे (उत्तरी बगाल) बुधगुप्त नामक नाविक मलय प्रायद्वीप मे गया था। मलय के समस्त संस्कृत लेख शिलाखण्ड या स्तम्भ पर अकित है। एक मे "महानाविक बुधगुप्तस्य रक्तमृतिका वास्तकस्य" (कर्णसुवर्ण = रक्तमृतिका का निवासी नाविक बुधगुप्त का—ज० ए० सो० व० ९४ पृ० ७१) का उल्लेख है। सुवर्णभूमि के लेख तथा प्रतिमाएं ब्राह्मण धर्म तथा दर्शन के विस्तार का ज्ञान कराती है। लेखो के लिखने की काव्यमय शैली यह घोषित करती है कि वहाँ के निवासी भारतीय साहित्य से परिचित थे। नालंदा का एक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मपाल भी आठवी सदी में सुवर्णभूमि गया था। हिन्दू धर्म तथा महायान का विशेष प्रचार था और भारतीय परम्परा तथा सास्कृतिक विचारधारा का प्रवाह भलीभाँति हो गया था।

दक्षिण पूर्व एशिया मे उपनिवेश स्थापित हो जाने पर भारतीय सामाजिक रीति-रिवाज का प्रचार हुआ। स्वभावत. उन द्वीप समूहो मे हिन्दू धर्म व साहित्य की ओर लोगों का ध्यान

जावा के अभिलेख

गया। जावा मे बौद्ध तथा हिन्दू मत का ज्ञान वहा के लेखों के अनुशीलन से होता है जो संस्कृत मे लिखे गये थे। संस्कृत का विशेष प्रभाव जावा पर दिखलाई पडता है। दूसरी सदी मे भी भारतीय जावा मे जाते रहे। फाहियान ने हिन्दू धर्म के प्रचार का विशद् वर्णन किया है। पांचवी सदी से वहा लेख भी अंकित हुए जिनकी भाषा संस्कृत है तथा उत्तरी भारत की लिपि मे उत्कीर्ण किए गए थे। संस्कृत लेख छंदबद्ध, काव्यशैली मे लिखे गए थे। जावा के प्राचीन "कवि भाषा" मे भी रामायण तथा महाभारत से सम्बन्धित काव्य मिलते है, जो कालिदास के काव्य से प्रेरित हुए हैं।

जावा के लेखो में ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म का वर्णन है। उनमे महायान तथा वज्रयान मतो का विवरण मिलता है। एक लेख के चार पंक्तियों मे बौद्धधर्म का प्रसिद्ध पद उल्लिखित है।

ये धम्मा हेतु प्रभवा
तेषाम् हेतु तथागतो ह्यवदत्
अवदत च यो निरोध,
एव वादी महाश्रमण.

ब्राह्मण धर्म के लेखो मे महादान का वर्णन आता है। एक स्थान पर नागराज द्वारा गाशत सहस्र दान करने का उल्लेख है [षोडश महादान का विवरण भारतीय अभिलेखो मे मिलता है। तुलापुरुषदान के साथ सहस्र गाय दान को भी महादान कहते है] दूसरे लेखो मे विष्णुपद की पूजा की चर्चा की गई है। जावा के राजा पूर्ण वर्मन के राज्य काल मे संस्कृत साहित्य का अध्ययन होता था। उसके निम्न लिखित लेख मे भारतीय तिथि तथा पर्व का उल्लेख मिलता है।

श्री मान्दाता कृतज्ञो नरपतिरसमो पु = यरातारुमाया
नाम्ना श्री पूर्णवर्मा प्रचुर = रिपु-शराभेद्य विख्यात वर्मा
(चक्रवर्ती-इण्डिया एण्ड जावा पृ० २५)
नरेन्द्र-ध्वज-भूतेन श्रीमता पूर्णवर्मणा
प्रारभ्य फाल्गुन मासिख्याता कृष्णाष्टमी तिथौ
चैत्र शुक्ल त्रयोदश्याम् दिन सिद्धकविङ्कै ।

× × ×

ब्राह्मणैर्गोसहस्रेण प्रयाति कृत दक्षिण

[वोजेल—दि एरलीयस्ट इन्सक्रप्शन्स आफ जावा पृ० ३२]

जावा के शैलेन्द्र वंश का इतिहास अभिलेखो मे ही सुरक्षित है। इस वंश के राजा ने जावा, सुमात्रा तथा मलय पर अधिकार कर लिया था। आठवी सदी के सिगोर लेख मे बौद्ध धर्म सम्बन्धी देवी देवताओ का उल्लेख यह बतलाता है कि शैलेन्द्र वंशी राजा बौद्ध थे। उन लोगों ने तीन बौद्ध मंदिरो का निर्माण किया, तारा की प्रतिमा स्थापित की और संघ के लिए कई ग्राम दान मे दिये। कलसन के लेख मे इस तरह के दान का विवरण प्राप्त हुआ है। उस वंश के प्रसिद्ध राजा बालपुत्रदेव ने नालंदा

भारतीय अभिलेखो मे शैलेन्द्रवंश की चर्चा

(विहार प्रदेश) में दो विहार बनवाया और उसके रक्षण तथा संस्कार के लिए बंगाल के पालवंशी राजा देवपाल देव से पाच ग्रामदान देने के लिए निवेदन किया था। (नालंदा ताम्रपत्र लेख) देवपाल ने उस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और स्वय बौद्ध होने के कारण पटना तथा गया जिले के पाच गाव को विहार के निमित्त दान दिया था। उनके नाम नन्दीवनाक, मणिवाटक, नाटिका, हस्तिग्राम तथा पालामक–मिलते है (ए० इ० भा० १७ पृ० ३१०) इसी प्रकार का वर्णन चोलप्रशस्ति मे भी पाया जाता है। लीडेन मे इक्कीस ताम्रपत्र सुरक्षित हैं जिनका अधिक अश सस्कृत मे लिखा है तथा कुछ अश तामिल मे। सस्कृत अश मे वर्णित है कि जावा के शैलेन्द्र वश के राजा मार बिजयो तुगवर्मन ने नागपट्टन मे (आंध्रप्रदेश) विहार तैयार किया था और उसके व्यय निमित्त राजराजा राजकेशरी वर्मन ने संघ को ग्राम दान किया। राजेन्द्रचोल ने उस अग्रहार की प्रतिष्ठा के लिए ताम्रपत्र खुदवाया था। इस तरह पता लगता है कि आठवी सदी से ११ वी सदी तक शैलेन्द्र वंश (जावा के शासक) राजा भारतीय नरेश से सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार रखते रहे। बगाल के पाल राजा देवपालदेव तथा राजराजा ने उनकी प्रतिष्ठा को स्थायी रखने के लिए ग्राम दान किया था। जावा के निम्नलिखित शिलालेख के अध्ययन से पता चलता है कि भारत तथा जावा मे दान का समान उद्देश्य था पूजा के लिए भूमि दान मे दी गयी था। इसके अतिरिक्त यज्ञ तथा धार्मिक ग्रथो के अध्ययन निमित्त व्यय दिया जाता था। भारतीय दान शैली के सदृश दानपत्र उत्कीर्ण है। पूर्वी जावा के एक शिलालेख (७६० ई०) मे अगस्त ऋषि की काले प्रस्तर की प्रतिमा स्थापित करने का विवरण पाया जाता है। अगस्त ऋषि की परम्परा उत्तर भारत से दक्षिण होकर स्यात् जावा पहुच गई थी। इसलिए लेख मे पाषाण मूर्ति की स्थापना का वर्णन किया गया है।

आज्ञाप्य शिल्पिनमर स च दीर्घदर्शी कृष्णाद् भूतोपसमयो नृपति. चकार।

राज्ञागस्त: शकाब्दे नयन वसुरसे मार्गशीर्षे च मासे
आर्द्रस्थे शुक्रवारे प्रतिपद दिवसे पक्षसन्धौ ध्रुवे।
ऋत्विग्भि वेदविद्भि यतिवर सहिते स्थापकाद्यै सभौमै
क्षेत्र गाव सुपुष्पा महिष गणयुता दासदासी पुरोगा
दत्ता राज्ञा महर्षिप्रवर चरू हविस्स्नान सम्वर्धनादि
वश्या नृपस्य रचिता यदिवद्दासवृद्धौ आस्तिक्यशुद्ध मतय पूजा,
दानादपुण्य यजनाद्य ययनादिशीला रक्षन्तु राज्य (मखिल) नृपति यथेवम्।

राजेन्द्र चोल से प्रेम पूर्ण व्यवहार स्थायी न रह सका और शैलेन्द्र नरेश और चोल राजा मे युद्ध छिड गया। तिरवालगाडु के सस्कृत प्रशस्ति मे इस युद्ध का विवरण पाया जाता है (सा० इ० इ० भा० ३० हि० ३ पृ० ३८३)। बगलोर के मेलूर मदिर के लेख मे राजेन्द्र चोल के समुद्र पर विजय का वर्णन मिलता है (इ० कर० भा० ९ पृ० १४८-५२)। तजोर लेख (१०३० ई०) मे वर्णन है कि राजेन्द्रचोल का जहाजी बेडा सुमात्रा के पूर्वी भाग, मलय का भाग तथा श्री विजय पर अधिकार कर लिया था। लीडेन के छोटे लेखो मे शैलेन्द्र वश का इतिहास और जावा, मलय तथा सुमात्रा पर अधिकार का वर्णन मिलता है। दसवी सदी के ताम्रपत्रो मे (चागल तथा केडु) वहाँ के शासको के नाम उल्लिखित है। चागल के एक शिलालेख मे हिन्दू देवता शिव, ब्रह्मा, विष्णु की प्रार्थना बारह श्लोको म की गई है। यह

निश्चित कहना कठिन है कि कलिङ्ग या आध्र देश से भारतीय जावा में जाकर उपनिवेश स्थापित किए परन्तु मध्य तथा पूर्वी जावा के ताम्रपत्रो से पता लगता है कि अगस्त ऋषि के नाम पर मध्य जावा मे एक मदिर निर्मित हुआ था। इस प्रकार दक्षिण भारत मे प्रचलित अगस्त्य की जन श्रुति का प्रसार जावा मे हो गया था। चागल के लेख मे अगस्त्य के पूजा का वर्णन आता है। लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है सजय ने दक्षिण भारत से अगस्त्य पूजा को जावा मे फैलाया। पूर्वी जावा के संस्कृत लेखो से शैव मत के प्रसार का परिज्ञान होता है। मध्य जावा के कलसन लेख में (ई० स० ७७८) भारतीय दानपत्रों के सदृश पद्य अकित है जिनमे दान भूमि की प्रतिष्ठा तथा आदर का विवरण प्रस्तुत किया गया है। दान कर्ता के उत्तराधिकारी के लिए दान का रक्षण आवश्यक था अन्यथा वे नरकगामी होते थे।

सर्वानेवा गामिन पार्थिवेन्द्रान्
भूयो भूयो याचते राजसिंह
सामान्योयन्धर्म सेतु नराणा
काले काले पालनीयो भवद्भि (कलसन लेख)
ये बान्धवा नृपसुता च समन्त्रि मुख्या
दत्तौ नृपस्य यदि ते प्रतिकूलचितौ
नास्तिक्य दोष कुटिला नरके पतेयु
न अमूत्र चनेह च गति परालभन्ते। (दिनय शिलालेख)

ऐसे भारतीय धर्मश्लोको का समावेश अन्यत्र भी हुआ। चम्पा के सम्बन्ध मे उल्लेख करना अनुचित न होगा।

ये रक्षन्ति रमन्त्येते। स्वर्गेसुरगुणैस्सदा।
ये हरन्ति पतन्त्येते नरके वा कुलै सह।

भारत के प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखो मे सुवर्ण भूमि से मलाया तथा बर्मा का बोध होता है। महावश मे सोम द्वारा उपनिवेश स्थापित करने का वर्णन आया है। बर्मा के लेख तथा मलया की प्रशस्तिया चौथी तथा पाँचवी सदी के संस्कृत मे लिखी गई जिनमे भारतीय लेखो के सदृश दान का वर्णन किय गया है। बर्मा के लेख बौद्ध धर्म से सम्बन्धित होने के कारण "योधम्मा हेतु प्रभवा" के मत्र से प्रारम्भ होते है।

बर्मा तथा मलाया के संस्कृत लेख

बोर्नियो म चौथी सदी से ही उपनिवेश स्थापित हो गया था और भारतीय संस्कृति का विस्तार गुप्तयुग मे वहाँ हुआ। बोर्नियो के अभिलेख इसके प्रमाण है और सस्कृत लेख मूर्तियो के आधारशिला (पीठ) अथवा स्तम्भ (यूप) पर खोदे गए थे। एक यूप प्रशस्ति मे मूलवर्मन राजा के धार्मिक कार्यों का वर्णन मिलता है। लेख मे यज्ञ तथा कल्पवृक्ष के महादान का विवरण है। लेख निम्न प्रकार है —

बोर्निया तथा बालि के लेख

श्री मूलवर्मा राजेन्द्रो यष्ट्वा बहु सुवर्णकम्।
तस्य यज्ञस्य यूपोऽयम् द्विजेन्द्रैस्यम्प्रकल्पित।

× × × ×

दानं पुण्यतमे क्षेत्रे यद्त्तम्ब प्रकेश्वरे
द्विजातिम्योग्निकल्पेम्य, विड्शतिज्ञो सहस्रिकम्

(ज० रा० ए० सो० भा० १ पृ० ३८)

बालि एक ऐसा द्वीप है जहाँ आज भी भारतीत सस्कृति की लहर बहती है। वहाँ से भी संस्कृत भाषा मे लेख उपलब्ध हुए है। उनमे राजा धर्मादमन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। दसवी सदी के लेखो मे वहाँ का इतिहास तथा भारतीय सस्कृति की चर्चा सुरक्षित है।

हिन्द-चीन के सस्कृत लेख

हिन्द-चीन के विभिन्न प्रदेशो से—अनाम, कम्बोडिया आदि स्थान से—जितने लेख प्राप्त हुए है उन सब की भाषा सस्कृत है। चम्पा (अनाम) की प्रशस्तियो क अध्ययन यह बतलाता है कि सस्कृत वहाँ की राजभाषा थी और सब लेख ब्राह्मी मे लिखे गए थे। सम्भवत तासरी सदी से वहाँ सस्कृत भाषा और ब्राह्मी मे लेख मिलते हैं। भारतीय धर्म तथा साहित्य के प्रचार मे सस्कृत का ही सहारा था और इस की प्रधानता हो गई। उन लेखो की सहायता से अनाम में प्रचलित साहित्य (रामायण तथा महाभारत) तथा हिन्दू देवी देवताओं की पूजा का ज्ञान हो जाता है। शिव तथा विष्णु के पूजा का विवरण मिलता है। चम्पा के अन्य लेखों मे त्रिदेव (ब्रह्मा विष्णु व महेश) का नाम आता है। एक सस्कृत लेख इनकी प्रार्थना से प्रारम्भ होता है—नमो महेश्वरम् उमाश्च प्रति ब्राह्मणा विष्णुमेव च नमो (मजूमदार—चम्पा ३ पृ० ४)

चम्पा के शासक विक्रान्त वर्मा का ६५३ शक (=ई० स० ७३१) का लेख भी ऐसी ही स्तुति से आरम्भ किया गया है।

जयति जित मनोजो ब्रह्मविष्णुवादि देव
प्रणतपद-युगाब्जो निष्फलोऽप्यष्ट मूर्ति
त्रिभुवनहित हेतु सर्व संकल्पहारी
पर परुष इह श्री शानदेवोऽयत्राधः

सब से विचित्र बात यह है कि चम्पा के चौथी सदी के एक शिलालेख मे (चो दिन-cho-dinh) मनुष्य-बलि का वर्णन किया गया है। महाराज भद्रवर्मन ने ऐसा कहा कि मै तुम्हे अग्नि को समर्पित करूँगा (लेख न० २) उस भावना के साथ एक दास को यूप से बाँधने का विवरण मिलता है। सम्भवत इस ढग की बलि का क्रम प्राचीन भारत से अनुकरण किया गया होगा जिसका वर्णन शतपथ ब्राह्मण (१३, ६, १, २) आपस्तम्ब (२०,२४, २) तथा कात्यायन (२१, १) सूत्रो मे मिलता है [मजूमदार-चम्पा न० २' ३] वहाँ के निवासी चाम जाति के लेखो मे भारतीय दार्शनिक विचार का उल्लेख किया गया है। दक्षिणी अनाम के एक संस्कृत लेख मे मारवंशी राजा के उत्तराधिकारी नरेश के कार्यों की चर्चा छदबद्ध श्लोको मे की गई है।

श्री मार राजकुलवंश विभूषणेन
श्री मार लोक नृपते कुल नन्दनेन

आज्ञापित स्वजन सज्जन संघ मध्ये
वाक्य प्रजाहितकर करिणोभिः वरेण (ज० ग्र० इ० सो० ६ पृ० ५७)

चम्पा के मसन लेखमें तथा जावा के शिला लेख मे छठे भागकर ग्रहण करने का विवरण पाया जाता है।

चम्पा के दूसरे राजा इन्द्रवर्मा प्रथम (७९९ ई०) ने शिव प्रतिमा की स्थापना की थी जिसका नाम भद्रेश्वरस्वामी रक्खा गया। उस शासक ने भगवान् शिव के लिए स्थायी रूप से (अक्षयनीवी) भूमि दान में दी। उस भाग से पैदावार का छठा भाग जो राजकीय कर के रूप लिया जाता था उसे घटा कर दसवाँ भाग कर दिया गया।

"भूमि दत्ता जनपद मर्य्यादा षड्भागेपि अस्माकं
स्वामिना दशभागेनानुगृहीता देवस्य देय इति [वही]

उन लेख के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि भारतीय दान पत्रों की शैली में चम्पा के दान लेख उत्कीर्ण किए गए थे। राजवंश वर्णन के बाद इन्द्रवर्मा द्वारा दान का वर्णन है। अन्त में धर्मश्लोक भी उल्लिखित है जो भारतीय दान पत्रों में मिलते हैं। भारतीय दान पत्रों प्रसिद्ध श्लोक का उद्धरण अप्रासंगिक न होगा—

षष्टि वर्ष सहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदति।
तस्मै भगवते सकल लोकहित कारणाय श्रीन्द्रभद्रेश्वराय
ये दर्शित स भगवान् श्रीमानिन्द्रवर्मा जयकोष्ठागारे
शिव यज्ञोत्रद्य शिविशिखा गिरि प्रदेश भक्त्या
शुद्धेन मनसैव दत्तवानिति।
इन्द्रभद्रेश्वरस्येव सर्वद्रव्य महीतले
ये रक्षन्ति रमन्त्य ते स्वर्गे सुरगुणैस्सदा
लुब्धेन मनसा द्रव्य यो हरेत् परमेश्वरात्
नरकात् न पुनर्गच्छेत् न चिरन्तु स जीवति। (चम्पा के लेख)

इसी चम्पा नरेश का दूसरे दानपत्र (८०१ ई०) में भण्डार (कोश, कोष्ठागार, दासदासी, भूमि-क्षेत्रादि का दानपत्र) तथा राजवंश का ऐसा सुन्दर वर्णन मिलता है जैसे कोई महत्वपूर्ण भारतीय ताम्रपत्र का अनुकरण हो। धर्मश्लोक को स्पष्ट कर गद्य में उल्लिखित किया गया है—

ये केचित् साधुपुरुषा स्वपुण्यपरिरक्षार्थ ते तानि सर्व्वाणि
रक्षन्ति धार्मिकपुरुषा भवन्तु सर्वे कुल सन्ताने स्वर्गे
वसन्तु—ये केचित् पापपुरुषा नरक निर्भया
तानि द्रव्याणि वा हरन्ति नाशयन्ति तेह्यल्पायुषा
वन्तु नरके पतन्तु, सर्वे सप्तमकुले यावत्
सूर्या चन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्र तारा गणस्सन्ति
तावत् नरके वसन्तुस्म।

कम्बोज (कम्बोडिया) के संस्कृत लेखों से पर्याप्त विषयों पर प्रकाश पड़ता है। उन प्रशस्तियों में दान का विवरण के साथ दानग्राही ब्राह्मणों के विद्या तथा ज्ञान का वर्णन मिलता है। उनमें वेद वेदांग में पारंगत ब्राह्मणों का उल्लेख है। रामायण तथा महाभारत का पठन पाठन भी ब्राह्मण करते थे। हिन्दू शास्त्रों के साथ बौद्धधर्म ग्रंथों का भी उन्हें ज्ञान था। अभिलेखों में इस बात पर बल दिया कि राजा तथा मंत्री गण धर्म शास्त्र का पूर्ण रूप से अध्ययन करें। ९ वीं सदी के कम्बोडिया की प्रशस्तियों में भारतीय षड्दर्शन का नाम (न्याय, मीमांसा, सांख्य, योग, वैशेषिक तथा वेदान्त) पृथक-पृथक मिलता है। कम्बोज के इतिहास में ८वीं तथा १०वीं सदियों में संस्कृत की अभिवृद्धि हुई और अधिक संख्या में संस्कृत लेख भी खोदे गए थे (मजुमदार—हिन्दू-कालोनीज इन फार ईस्ट पृ० १८२) संस्कृत के लेखों का विवेचन यह स्पष्टतया बतलाता है कि कम्बोडिया में छंद तथा अलंकार शास्त्र का ज्ञान [illegible] को पूर्ण रीति से था, इसीलिए लेख भारतीय काव्यमय शैली में लिखे गए। उसमें दार्शनिक विचार तथा पौराणिक आख्यानों का [illegible] विवेचन पाया जाता है। एक लेख में कम्बोज नरेश यशोवर्मन द्वारा [illegible] जिसमें पाणिनि महाभाष्य सम्बन्धी बात लिखी है [illegible] कालिदास के श्लोक उद्धृत किए गए हैं। यशोवर्मन के लेख में [illegible] चर्चा की गई है। इस प्रकार अभिलेखों का अध्ययन संस्कृत की उन्नत अवस्था तथा पूर्ण काव्यमय शैली का परिज्ञान कराता है।

जहाँ तक धार्मिक विषयों का प्रश्न है, कम्बोडिया के लेखों में धार्मिक क्रिया तथा नियमों का विवेचन मिलता है। देवताओं की पूजा तथा दार्शनिक पद्धति का भी विवरण है। दान का वर्णन तो साधारण घटना है। मनुष्य जीवन के गूढ़ रहस्य तथा बाहरी धार्मिक कर्त्तव्यों का विवेचन [illegible] किया गया है। संसार की अनित्यता, मुक्ति, ब्रह्म में विलीन होना, तप, दया, आदि बातों की चर्चा सुन्दर शब्दों में की गई है (मजुमदार-कम्बोज इन्स-क्रिपशन्स) नवीं सदी के शासक [illegible] ने अपने समकालीन शंकर के विचार तथा धार्मिक भावना का उल्लेख किया है। कम्बोज के लेखों में एक विचित्र प्रकरण मिलता है जिसमें आश्रम-स्थापना की बातें लिखी हैं। कम्बोडिया के संस्कृत लेख यह बतलाते हैं कि शासक तथा प्रजा वर्ग आश्रम स्थापना में अभिरुचि रखते थे। यशोवर्मन ने अकेले सौ आश्रमों की स्थापना की जो ध्यान चिन्तन तथा मनन के लिए उपयुक्त समझे गये। इस कारण इनकी स्थापना के साथ दान भी दिया गया जिसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन अभिलेखों में किया गया है। इन प्रशस्तियों का अध्ययन भारतीय संस्कृति के प्रचार का ज्ञान तथा उसके ग्राहक संस्कृत लेखों के महत्त्व की जानकारी करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्द चीन के संस्कृत अभिलेख बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति के प्रसार के परिचायक हैं। तथा शताब्दियों तक उन प्रदेशों के सम्बन्ध को बतलाते हैं।

नेपाल, तिब्बत तथा मध्य एशिया

दक्षिण पूर्व एशिया के अतिरिक्त उत्तर पश्चिम के मार्ग से भी भारतीय संस्कृति का प्रसार मध्य एशिया तक हुआ। अफगानिस्तान तो भारतीय सीमा में यथा समय था इसलिए वहाँ का प्रभाव स्वाभाविक है। मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रचार व्यापारियों के हाथों हुआ। वहाँ भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए। चीनी यात्रियों के विवरण से

पता चलता है कि भारतीय धर्म का प्रसार का वहा संघ कायम किए गए। उन विहारो मे बौद्ध-भिक्षु रहते तथा भारतीय साहित्य का अध्ययन करते थे। मध्य एशिया के भोजपत्रों पर जो कुछ लिखा जाता था वह खरोष्ठी तथा मिश्रित भाषा मे। उस मरु भूमि मे लेख नही मिलते किन्तु तरीम घाटी से प्राप्त ग्रंथ गुहा चित्र, विहार के भग्नावशेष से भारतीय सस्कृति का मूल्य आका जा सकता है।

नेपाल का भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध सदा से रहा है। भारतीय शासक वहा राज्य करते रहे है। मौर्य शासन वहा विस्तृत था। गुप्त सम्राट् समुद्र गुप्त ने नेपाल पर अधिकार कर लिया था। तीसरी सदी से लिच्छवी लोगो का नेपाल मे शासन था जिनके लेख संस्कृत भाषा तथा ब्राह्मी मे मिले है। चागू-नारायण का स्तम्भ लेख इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इसकी भाषा सस्कृत है तथा चौथी पाचवी सदी की ब्राह्मी मे लिखा गया है। इसमे भारतीय सम्वत् तथा मास तिथि का उल्लेख है (इ० ए० भा० ९ पृ० १६३)।

सातवी सदी के पश्चात् तिब्बत का इतिहास हमे ज्ञात है। नेपाल से ही वहा भारतीय सस्कृति, धर्म आदि का (वज्रयान का) प्रसार हुआ, जिस के सम्बन्ध मे भारतीय साहित्य वहा फला। तिब्बत लिपि-गुप्त लिपि से ही निकली है जो मैथिली के अधिक समीप है। (ए० इ० भा० ११ पृ० २६७)

वृहत्तर भारत की चर्चा समाप्त करने से पूर्व भारतीय लेखो के आधार पर यह विवरण उपस्थित किया जा सकता है कि प्राचीन समय मे विदेशियो का क्रमश भारतीय करण हो गया। बाहर की जातियो ने विभिन्न धर्म तथा परिस्थिति को लेकर भारत मे प्रवेश किया। कालान्तर मे उन्होने भारतीयता को अपनाया। ईसवी पूर्व सदियो मे इसके कई उदाहरण मिलते है। विदिसा (मालवा) के समीप यूनानी दूत हेलियोदोरस का जो स्तम्भ लेख मिला है उसमे यूनानी दूत हेलियोदोरस भागवत शब्द से विभूषित है। इससे पता चलता है कि वह वैष्णव मतानुयायी हो गया था। इसलिए विष्णु मदिर के सम्मुख गरुड ध्वज स्थापित किया। इतना ही नही अपलदतस तथा पंतलेव नामक यूनानी शासक भारतीय धर्म से प्रभावित हुए थे। ईसवी सन् के आरम्भ मे शक राजा बीमकदफिस भी शैव हो गया और भगवान् शिव की मूर्ति को अपने सिक्को पर स्थान दिया था। वह अपने को 'महीश्वरस्य' भी कहता था। कुषाण नरेश के सामत भी पश्चिमी भारत मे भारतीय सस्कृति के अनुगामी हो गये और वैदिक कर्मकाण्ड को अपनाया था। नासिक के लेख मे नहपान के जमाता ऋषभदत्त ने ब्राह्मणो को ग्राम दान दिया तथा नदियो के घाट को पुण्यतर (नि शुल्क) कर दिया। उस लेख मे इस बात का उल्लेख किया है कि ब्राह्मणो के कन्या दान का सारा व्यय ऋषभदत्त ने दिया था। भारतीय सस्कृति मे इसे एक महादान मानते थे तथा ब्राह्मण कन्या के विवाह के लिए द्रव्यदान करना अत्यन्त पुण्य समझा जाता था। पद्म पुराण मे वर्णन आता है कि ऐसे कार्य से स्वर्ग की प्राप्त होती थी (ब्रह्मखण्डअध्याय २४)

विदेशियो का भारतीयकरण

सालङ्कार द्विज श्रेष्ठ कन्या यच्छति यो नरः

स गच्छेत् ब्रह्म सदन पुनर्ज्जन्म न विद्यते।

विदेशी शक लोगो ने सीथियन नाम छोडकर भारतीय नामो को अपनाया। घसमोटिक के वशज रुद्रसिंह कहलाए तथा वीम के उत्तराधिकारी वासुदेव के नाम से विख्यात हुए। खरोष्ठी तथा प्राकृत के स्थान पर ब्राह्मी एव सस्कृत को क्रमश स्थान दिया गया। अतएव संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि विभिन्न भारतीय लखो का अध्ययन यह सूचित करता है कि विदेशियों ने किस प्रकार भारतीय संस्कृति को अपनाया।

इस सम्बन्ध मे भागवत का श्लोक प्रस्तुत है कि विदेशी जातियाँ वैष्णव धर्म मे दीक्षित हो गई।

किरात–हूणाध्र–पुलिद–पुल्कसा–आभीर–कङ्का यवना खगादय
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रमा शुध्यति तस्मै प्रभविष्णवे नम

(भागवत, स्कन्ध २, अध्याय ४, श्लोक १८)